अथ

खण्डचतुष्टयात्मक 'श्राद्धविज्ञान' ग्रन्थान्तर्गत

आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्

चतुर्थ खण्ड

पं. मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथिपथिकः

प्रकाशक:

राजस्थान पत्रिका प्रा० लिमिटेड,
केसरगढ़, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, जयपुर ।

वसन्त पञ्चमी, सम्वत् २०४३

अथ

खण्डचतुष्टयात्मक 'श्राद्धविज्ञान' ग्रन्थान्तर्गत

आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्

चतुर्थ खण्ड

पं. मोतीलाल शास्त्री
वेदवीथिपथिकः

मूल्य : ४०-[illegible]

वेदवाचस्पति पं. मोतीलालजी शास्त्री

[वि. सं. १९६५—२०१७]

प्रकाशकीय

(स्व०) पण्डित मोतीलालजी शास्त्री कृत **'श्राद्धविज्ञान'** के चतुर्थ एवं अन्तिम खण्ड को प्रस्तुत करते हुए हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। शास्त्रीजी कदाचित् इस ग्रन्थ को तीन ही खण्डों में समाप्त कर देना चाहते थे, परन्तु तृतीय खण्ड छपने के बाद उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि 'आत्मगतिविज्ञान" पर कुछ लिखना नितान्त आवश्यक है। उनकी इस वैज्ञानिक अनुभूति का परिणाम चतुर्थ खण्ड के रूप में सामने आया। दुर्भाग्यवश वे इसका प्रकाशन स्वयं नहीं कर पाये। लगभग पचास वर्ष पूर्व लिखी गई इस रचना का प्रकाशन हुए बिना यह ग्रन्थ सचमुच अपूर्ण ही था। इसी महती कमी को पूरा करने के अभिप्राय से राजस्थान पत्रिका ने शास्त्रीजी के सुपुत्र श्री कृष्णचन्द्र शर्मा से पाण्डुलिपि उपलब्ध कराने का अनुरोध किया जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। इतना ही नहीं, उन्होंने प्रकाशन की देखरेख का भार भी अपने ऊपर लिया।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन से विज्ञ पाठकों को यह भलीभाँति स्पष्ट हो जायेगा कि जिस श्राद्ध एवं पिण्डदान को हम एक अन्धविश्वासपूर्ण रूढ़ि मानते आये हैं वह एक विलक्षण विज्ञान है। श्राद्ध का आधार श्रद्धा है और श्रद्धा एक विशिष्ट तत्त्व है, यह भी समझ में आ जायगा। जैविक विज्ञान पर जो विज्ञानवेत्ता नित नई गवेषणाएं कर रहे हैं और नाना प्रकार के प्रयोग कर रहे हैं, उनके लिए इससे अधिक मूल्यवान ज्ञान-सामग्री अन्यत्र दुर्लभ है। यही नहीं, यदि वे 'श्राद्धविज्ञान' का आद्योपान्त स्वाध्याय करें तो कई 'वैज्ञानिक' धारणाएं ही बदल जायेंगी और उन्हें एक नया प्रकाश मिलेगा। इस ग्रन्थ का दुर्भाग्य यही है कि यह हिन्दी में है। अच्छा हो, कि कोई अंग्रेजी और हिन्दी का सक्षम जानकार व निष्ठावान् विद्वान् यह बीड़ा उठाये। वह सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण का भागी होगा।

राजस्थान पत्रिका ने अभी इतना तो निश्चय किया है कि वेद-विज्ञान के विषय में जो सामग्री हिन्दी-संस्कृत में उपलब्ध है और अप्रकाशित है, उसका प्रकाशन किया जाय। यदि कोई प्रज्ञावान् इस सामग्री का अंग्रेजी में रूपान्तरण करने के लिए उद्यत हुआ तो उसका भी स्वागत किया जायगा, अन्यथा इतने से ही अपने प्रयत्न की इतिश्री मान लेंगे। महती आवश्यकता तो यही है कि पाण्डुलिपि पुस्तक का रूप धारण करे ताकि उसकी आयु बढ जाय, उसका आयतन बढ जाय और भविष्य में काम करने वालों के लिए एक आधारभूमि प्रस्तुत हो जाय।

'आत्मगतिविज्ञान' नामक इस चतुर्थ खण्ड के प्रकाशन के साथ 'श्राद्धविज्ञान-परियोजना' का संकल्प पूर्ण हो गया है। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि से प्रेसकापी तैयार करने एवं सम्पादन में महाराजा संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य **श्री कैलाश चतुर्वेदी** ने एवं शीघ्र, सुचारु मुद्रण कार्य में शास्त्रीजी के सुपौत्र **श्री प्रद्युम्नकुमार** ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है, जिसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं।

कर्पूरचन्द 'कुलिश'

समर्पण

दिवंगता—चन्द्रलोकस्था

स्नेह—ममतामयीमूर्त्ति—

माता

त्रिवेणी देवी

को

जिनकी सतत् प्रेरणा एवं अहर्निश सेवा इस ग्रन्थलेखन में सहयोगिनी बनी

—कृष्णचन्द्र शर्मा

अथ

श्राद्धविज्ञानम्

आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्

चतुर्थ खण्ड

विषयसूची

अथ

श्राद्धविज्ञानम्

आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्

चतुर्थ खण्ड

निगमानुगता पितृस्तुति

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ।।१।।

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईयुः ।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु ।।२।।

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ।।३।।

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हवा चकृमा जुषध्वम् ।
त आ गतावसा शन्तमेनाथा नः शं योररपो दधात ।।४।।

उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ।।५।।

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे ।
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम ।।६।।

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ।।७।।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु ।।८।।

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ।।९।।

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्घर्मसद्भिः ।।१०।।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ।।११।।

त्वमग्न ईलितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ।।१२।।

ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म ।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुषस्व ।।१३।।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।
तेभिः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व ।।१४।।

(ऋग्वेदसंहिता १०।१५)

["पार्थिव प्रथम श्रेणी के पार्थिव पितर और उत्तम श्रेणी के दिव्यपितर एवं मध्यम श्रेणी के आन्तरिक्ष्य पितर, जो कि स्वरूपतः सोमप्राणप्रधान बनते हुए सोम्य हैं, हमारे लिए यशःप्रदाता बनें। ऐसे जो पितर हैं, वे अपने सुशान्त सोम्यभाव से, अपने सोमलोकात्मक पारमेष्ठ्य ऋतुस्वरूप से पितृकर्म्मानुष्ठाता यजमान की अध्यात्मसंस्था के अभिमुख बनते हुए हमारी प्रार्थना सुनें, हमारी रक्षा करें"] इति प्राकृतभाषासमन्वयः ।।१।।

प्राकृतिक पूर्णायुर्भोगानन्तर जो आध्यात्मिक महत्पितर चन्द्रलोक में अवस्थित हैं, वे 'पूर्वासः' हैं। एवं अकालमृत्यु से जो चन्द्रलोक में स्वल्पावस्था में ही चले गए हैं—वे 'उपरासः' हैं। जिन महत्पितरों की औपपातिक भावानुबन्ध से अभी चन्द्रलोकगति नहीं हुई है, वे पार्थिव रजोलोक में इतस्ततः चंक्रममाण पितर हैं। आध्यात्मिक पितर के ये तीन ही श्रेणिविभाग होते हैं। तीनों श्रेणियों के प्रेतपितर सम्पत्तिशाली श्रद्धाशील अपनी पुत्रादि प्रजा (सुवृजनासु विक्षु) में आश रूप से अनुगत रहते हैं, जिन्हें नमस्कार पूर्वक-हव्यप्रदान द्वारा श्रद्धालु प्रजा तृप्त किया करती है ।।२।।

पितृकर्म्मकर्त्ता श्रद्धालु यजमान ने अनुग्रह करने वाले पितरों को अपने अनुकूल बना लिया है, पारमेष्ठ्य सौम्य विष्णु का भी इस सौम्य पितर-अनुग्रह से अनुग्रह प्राप्त कर लिया है। 'बर्हिषदः' नाम के अन्नपितर-पार्थिव पितर इस पुराड़ाशाहुतिरूप द्रव्य का, तथा सोम का यजमान के इस पितृयज्ञकर्म्म में उपभोग कर रहे हैं ।।३।।

हे 'बर्हिषदः' नामक पितृदेवताओ ! आप हमारी अर्वाचीन—आगे की वंशपरम्परा का अवश्य ही संरक्षण करेंगे। हम आपके लिए यह हविर्द्रव्य सम्पन्न कर रहे हैं। आप इन से तुष्ट—तृप्त बनिए, एवं हमारे लिए तथा हमारे परिवार के लिए शान्ति—स्वस्ति प्रदान करने का अनुग्रह कीजिए ।।४।।

वे हमारे पितृदेवता हमारे इस श्रद्धात्मक पितृकर्म्म में हमारी प्रार्थना से यहाँ पधारें, यहाँ पधार कर वे हमारी प्रार्थना सुनने का अनुग्रह करें। प्रार्थना सुन कर हमें आशीः प्रदान करने का अनुग्रह करें ।।५।।

'दक्षिणं जान्वाच्य पितरः उपासीदन्' (शत०) इत्यादि श्रुति के अनुसार प्राचीनावीती बन कर दक्षिण जानु को नत बनाकर समुपस्थित पितर बड़े ही अनुग्रह से हमारे इस कर्म्म से सन्तुष्ट—तृप्त हो रहे हैं। हे पितृदेवता ! इस पितृकर्म्म में यदि आपके आतिथ्य में हम से कुछ अपराध बन पड़ा हो, तो हमें विश्वास है, आप अवश्य हमें क्षमा कर देंगे ।।६।।

तेजोमय आग्नेय देवताओं के सान्निध्य में समुपस्थित हे पितृदेवताओ ! आप इस पितृकर्म्म में हविःप्रदान करने वाले यजमान के लिए सम्पत्ति प्रदान का अनुग्रह करेंगे। यजमानप्रजा को सम्पत्तिशालिनी बनाने का अनुग्रह करेंगे ।।७।।

जो हमारे वृद्धातिवृद्धप्रपितामहादि पूर्व पितर यथासमय देव—पितृ—कर्म्मों के द्वारा तुष्ट—तृप्त होते रहे हैं, उन पितरों के साथ समन्वित दक्षिणपथाधिष्ठाता यमदेवता (रुद्रदेवता) भी तुष्ट—तृप्त बनते हुए हमारे लिए अनुग्रहप्रदाता प्रमाणित हो रहे हैं ।।८।।

प्राकृतिक स्थिति क्रमानुसार कालान्तर में अपने पितृभाव से देवभाव में परिणत होते हुए 'नांदीमुख' बन जाने वाले पितर स्तुतिकर्त्ता—हविःप्रदाता—श्रद्धाशील—यजमानों के लिए अनुग्रहभाजन बन जाते हैं। हे अग्निदेवता ! देवभावापन्न वे दिव्य नान्दमुख पितर आपके साथ हमारे इस देवकर्म्म में यथासमय पधारने का अनुग्रह करते रहें ।।९।।

अपने ऋतसोमधर्म्म से स्वरूपतः 'ऋतासः' (सौम्य) भी पितर देवप्राणानुशयसम्बन्ध से 'सत्यासः' (आग्नेय) बनते हुए देववर्ग–संयुक्त इन्द्रदेवता के साथ संयुक्त होते हुए देवकर्म्म में पधारते रहते हैं ।।१०।।

अग्निद्वारा आस्वादित, अतएव 'अग्निष्वाता' नाम से प्रसिद्ध अन्नपितर (गृह्य–भौम–पार्थिव पितर) इस पितृकर्म्म में पधारें। पधार कर अपने अनुरूप स्थानों में प्रतिष्ठित होने का अनुग्रह करें। स्वस्थता-पूर्वक विराजमान होकर हविर्भक्षण का अनुग्रह करें। इससे तुष्ट–तृप्त बनते हुए वे पुत्रपौत्रादि युक्त सम्पत्ति प्रदान का अनुग्रह करें ।।११।।

हे अग्ने ! आपने अनुग्रह कर हमारी प्रार्थना पर अनुग्रहदृष्टि करते हुए हमारी यज्ञसामग्री को आपने अपने विशकलनधर्म्म से देवपितृभोग बना दिया है। आपने सब प्राणदेवपितरों में आहुतिद्रव्य विभक्त कर दिया है। हे पितृदेवताओ ! अग्नि के अनुग्रह से यथाभागविभक्त स्वधापूर्वक प्रदत्त इस हवि का आप ग्रहण करें। हे अग्निदेव ! आप भी हविर्ग्रहण से तृप्त होने का अनुग्रह करें ।।१२।।

जो पितर यहाँ समुपस्थित हैं, जो उपस्थित नहीं हैं, जिन्हें हम जानते हैं, एवं जिन्हें हम नहीं जानते, वे सब उपस्थित–अनुपस्थित–ज्ञात–अज्ञात हमारे वंशपितर अग्निदेवता द्वारा अवश्य ही उपस्थित, एवं विज्ञात हैं। अतएव हम जातवेदा सर्वज्ञ उन अग्निदेव से ही यह प्रार्थना करेंगे कि आप ही अनुग्रह कर उन सब को प्रदत्त हवि से तृप्त करने का अनुग्रह करें ।।१३।।

जो महत्पितर अग्निसंस्कार द्वारा चन्द्रलोक में पहुँचे हैं, जो पितर (गाङ्गेयतोयप्रवाहविक्षेपादि द्वारा) अबग्निरूप से तत्र प्राप्त हुए हैं, द्युलोक (सौरलोक) के मध्यस्थानरूप आन्तरिक्ष्य चन्द्रलोक में अवस्थित वे सर्वविध प्रेतपितर स्वधापूर्वक प्रदत्त इस हवि से तृप्त हो रहे हैं। हे अग्निदेव ! अपने हविः-प्रदानरूप कर्म्म से विराड्रूप (दशावयव) बने हुए और उन पितरों के साथ संयुक्त होते हुए इस प्रदत्त हविर्द्रव्य से उन हमारे प्रेतपितरों की शरीरस्वरूपनिष्पत्ति का अनुग्रह करें ।।१४।।

। इति नैगमिक मङ्गलस्तुति पितृणाम् ।

अथ
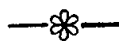
श्राद्धविज्ञानम्

आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्

चतुर्थ खण्ड

सन्दर्भसङ्गति—

सु सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, विषयों के स्पष्टीकरण के सम्बन्ध में ऋतम्भरा निर्भ्रान्त प्रज्ञा ही मूल प्रतिष्ठा मानी गई है। जिस महानात्मा के लिए तंद्वंशज पुत्रादि द्वारा श्राद्धकर्म्म किया जाता है, वह महानात्मा, जिस पितृप्राण से महानात्मा का स्वरूप सम्पन्न होता है, वह पितृप्राण (सौम्य प्राण), जिस नक्षत्रावच्छिन्न अष्टाविंशतिकल चान्द्रप्राण से बीजपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न होता है, वह चान्द्रप्राण, जिन षट्पितृपरम्पराओं से षट्पञ्चाशत्कल पितृप्राण ऋणरूप से बीजपिण्ड में प्रतिष्ठित होता है, वह आगन्तुक पितृप्राणषट्क, जिस सौम्यप्राणप्रधान श्रद्धासूत्र के द्वारा सपिण्डों में परस्पर सम्बन्ध बना रहता है, वह श्रद्धासूत्र, जिन उच्चावच भावना-वासनात्मक ज्ञान-कर्म्म संस्कारों से भूतात्मा तत्तद् लोकगतियों का अनुगमन करता है, वे भावना-वासना संस्कार, जिन संस्कार विशेषों के प्रभाव से विशेष गतियों का भूतात्मा अनुगमन करता है, वह भूतात्मा, एवं जिन गतियों का भूतात्मा अनुगमन करता है, वे गतिभाव, सभी तो इन्द्रियातीत विषय हैं। ऋतम्भरा सत्यप्रज्ञा से सम्बन्ध रखने वाली आर्षदृष्टि (योगजदृष्टि) ही इन अतीन्द्रिय-परोक्ष विषयों के सम्बन्ध में 'इदमित्थमेव' रूप से निभ्रान्त व्यवस्था कर सकती है। ऐसी परिस्थिति में मादृश सामान्य-लौकिक-मनुष्य की भ्रान्तप्रज्ञा से सम्बन्ध रखने वाला उक्त विवेचन यदि भ्रान्त मान लिया जाय, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। यह सब कुछ स्वीकार करते हुए भी इस सम्बन्ध में यह तो बलपूर्वक कहा ही जा सकता है कि, भ्रान्त–असत्य–प्रज्ञा से सम्बन्ध रखने वाला यह विवेचन **'असत्य वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते'** न्याय से अवश्यमेव आर्षप्रजा का ध्यान किसी इन्द्रियातीत निर्भ्रान्त-सत्य-तत्व की ओर आकर्षित करने के लिए पर्य्याप्त साधन है। इस साधन प्रामाण्य की मूलप्रतिष्ठा चूंकि शब्दप्रमाण है, अतएव इसके प्रामाण्य में कथमपि सन्देह नहीं किया जा सकता।

श्रद्धातत्त्व को अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाने वाला श्राद्धकर्म्म किस आत्मतत्त्व को अपना प्रधान लक्ष्य बनाता है ? दूसरे शब्दों में पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म्म किसकी तृप्ति के लिए किया जाता है ? 'श्राद्धविज्ञान' आरम्भ करने के साथ ही पहिले यह प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होता है । इस प्रश्न के समाधान के लिए **'आत्मविज्ञानोपनिषत्'** नामक प्रथम प्रकरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया । एवं प्रथम खण्डात्मक इस प्रथम प्रकरण में [1] **'अमृतात्मविज्ञानोपनिषत्'**, [2] **'अव्यक्तात्मविज्ञानोपनिषत्'**, [3] **'यज्ञात्मविज्ञानोपनिषत्'** [4] **'विज्ञानात्मविज्ञानोपनिषत्'** [5] **'महदात्मविज्ञानोपनिषत्'** [6] **'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्'** इन ६ अवान्तर प्रकरणों से क्रमशः अमृतात्मा, अव्यक्तात्मा, यज्ञात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, प्राणात्मा इन आत्मविवर्त्तों का स्पष्टीकरण करते हुए सर्वान्त में यह सिद्धान्त स्थापित किया गया कि इन ६ आत्मविवर्त्तों में ५वां **'महानात्मा'** ही प्रस्तुत श्राद्धकर्म्म का प्रधान लक्ष्य है । आतिवादिक शरीर धारण कर एक चान्द्र सम्वत्सर में स्वपुत्र चन्द्रलोक में पहुँचने वाले एवं अष्टाविंशतिकल स्वघनात्मक बीजपिण्ड की पूर्णता से पहिले-पहिले इसी चन्द्रलोक में प्रतिष्ठित रहने वाले महानात्मा की तृप्ति के लिए ही, दूसरे शब्दों में तत्तत्तिथि-काल विशेषों में क्षीणपिण्ड बने हुए इस महानात्मा के पिण्डाप्यायन के लिए श्रद्धासूत्र पर प्रतिष्ठित 'श्राद्ध' कर्म्म विहित है । महानात्मा के अतिरिक्त उक्त षट्आत्मविवर्त्तों में 'प्राणात्मा' (भूतात्मा–कर्म्मात्मा–भोक्तात्मा) नामक ६ठा आत्मविवर्त्त ही कर्म्मगति का प्रधान लक्ष्य है । स्वशुभाशुभकर्म्मानुसार शुभाशुभ योनियों में परिणत होकर शुभाशुभ लोकगतियों का लक्ष्य बनने वाला यही प्राणात्मा है । इस प्रकार "श्राद्ध होता है चान्द्र महानात्मा के लिए, कर्म्मानुसारिणी गति का अधिकारी बनता है पार्थिव प्राणात्मा" इस सिद्धान्त के समर्थन के साथ 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम प्रकरणात्मक प्रथम खण्ड समाप्त होता है ।

श्राद्धकर्म्म **'पितरकर्म्म'** नाम से भी व्यवहृत हुआ है । महानात्मा की तृप्ति के लिए विहित श्राद्धकर्म्म पितृकर्म्म क्यों कहलाया ? महानात्मा के साथ पितरप्राण का सम्बन्ध कैसे हुआ ? पितरप्राण की मूलप्रतिष्ठा (मूलप्रभव) कौन हैं ? दिव्यपितर अपनी क्या परिभाषा रखते हैं ? ऋतुपितरों का क्या स्वरूप है ? प्रेतपितर की वस्तुस्थिति क्या है ? क्रमप्राप्त इन पितरस्वरूप विषयक प्रश्नों के सोपपत्तिक समाधान के लिए **"पितरस्वरूपविज्ञानोपनिषत्"** नामक द्वितीय प्रकरणात्मक द्वितीय खण्ड की आवश्यकता समझी गई । साथ ही जिस वेदप्रामाण्य के आधार पर "पिण्डदानादि लक्ष" पुत्रादि द्वारा कृत पिण्ड-दानादिलक्षण श्राद्धकर्म्म जिन पितरों के लिए किया जाता है, अपितु परलोकगत (चन्द्रलोकगत) महानात्मस्वरूप प्रेतपितरों की तृप्ति के लिए ही श्राद्धकर्म्म विहित है" इस सिद्धान्त के समर्थन की भी आवश्यकता हुई । इन्हीं उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए द्वितीय प्रकरणात्मक द्वितीय खण्ड में **१–प्रमाणोपनिषत्, २–पितॄणांपितरविज्ञानोपनिषत्, ३–दिव्यपितरविज्ञानोपनिषत्, ४–ऋतुपितरविज्ञानोपनिषत्, ५–प्रेतपितरविज्ञानोपनिषत्** इन पाँच अवान्तर प्रकरणों का समावेश करना आवश्यक माना गया ।

आगे जा कर श्राद्धकर्म्म के सम्बन्ध में अनेक विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित हुईं । पिता, पितामह, प्रपितामहादि के साथ पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रादि का क्या सम्बन्ध ? पुत्रादि द्वारा प्रदत्तपिण्ड सुदूर चन्द्रलोकस्थ

पितादि की तृप्ति का कारण कैसे बन जाता है ? पुत्रोत्पत्ति कर्म्म को ऋणमोचन कर्म्म किस आधार पर माना गया ? श्राद्धकर्म्म से पुत्रादि पितादि के ऋण से कैसे उऋ॑ण हो जाते हैं ? पुत्रादि द्वारा कृत सपिण्डीकरण से चान्द्रपितादि कैसे सापिण्ड्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं ? सन्तानोत्पत्ति से तथा पितादि के मरण से तद्वंशजों में अघाशौच नामक अशुचिभाव कैसे संक्रान्त हो जाता है ? इत्यादि आवश्यक प्रश्नों के सोपपत्तिक समाधान के लिए **"सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्"** नामक तृतीय प्रकरणात्मक तृतीय खण्ड की आवश्यकता का अनुभव किया गया एवं उक्त अवान्तर प्रश्न समाधि के लिए इस खण्ड में **१–प्रजातन्तु-वितानविज्ञानोपनिषत्, २–ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्, ३–आशौचविज्ञानोपनिषत्** इन तीन अवान्तर प्रकरणों के समावेश की आवश्यकता समझी गई ।

इस प्रकार प्रस्तुत प्रकरण से पूर्व प्रतिपादित, ६–५–३ अवान्तर प्रकरणात्मक १–२–३ खण्डों से महदात्मानुगत 'श्राद्धविज्ञान' से सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी प्रश्न यथावत् समाहित हो जाते हैं । अब श्राद्धविज्ञान के सम्बन्ध में कोई विशेष वक्तव्य नहीं है । ऐसी परिस्थिति में यद्यपि न्याय प्राप्त तो यही था कि तृतीय खण्ड के अवसान पर ही श्राद्धविज्ञान निबन्ध को विश्राम करा दिया जाता, तथापि किसी विशेष हेतु से इसी निबन्ध में सर्वान्त में **'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्'** नामक चतुर्थ प्रकरणात्मक चतुर्थ खण्ड का समावेश करना आवश्यक मान लिया गया है । **'तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च'** इत्यादि मानव सिद्धान्त के अनुसार चन्द्रलोक में गमन करते हुए महानात्मा के साथ उस प्राणात्मलक्षण भूतात्मा (कर्म्मात्मा) का भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, पूर्वकथनानुसार लोकगति का प्रधान लक्ष्य बन रहा है । इसके अतिरिक्त स्वयं महानात्मा को भी सापिण्ड्य से पहिले-पहिले गतिमार्ग का अनुसरण करना पड़ता है । इन्हीं कुछ एक विशेषताओं से श्राद्धकर्म्म के लक्षीभूत महानात्मा के साथ लोकगति के लक्षीभूत भूतात्मा का सम्बन्ध सुरक्षित है । इसी सम्बन्ध के आधार पर भूतात्मा से सम्बन्ध रखने वाले इस गति-विज्ञान प्रकरण का महानात्मानुगत 'श्राद्धविज्ञान' निबन्ध में समावेश करना उचित मान लिया गया है । महानात्मा से नित्य संश्लिष्ट भूतात्मा पाञ्चभौतिक शरीर त्यागान्तर कहाँ जाता है ? किस मार्ग से जाता है ? क्यों जाता है ? गन्तव्य स्थानों का क्या स्वरूप है ? गति के निमित्त क्या-क्या हैं ? कब तक गन्तव्य लोकों में रहता है ? गतिचक्र से त्राण पाने के लिए क्या-क्या उपाय अपेक्षित हैं ? इत्यादि आत्मगति-विषयक प्रश्नों का सोपपत्तिक समाधान करने के लिए ही प्रकृत खण्ड प्रस्तुत हुआ है । इसी प्रासङ्गिक सन्दर्भ सङ्गति के समन्वय के अनन्तर 'गतिस्वरूप' की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

—※—
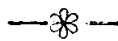
गतिस्वरूप परिचय

"समं सर्वेषु भावेषु सर्वदा परिवर्त्तते ।
सा-गतिस्तद् प्रबोधार्थं गतिविज्ञानमुच्यते ।"

अमृत–मृत्यु, विद्या–कर्म्म, ज्ञान–क्रिया, सत्–असत्, अस्ति–नास्ति, आत्मा–शरीर, स्थिति–गति, उपलब्धि–अनुपलब्धि, विज्ञान–अज्ञान, सुख–दुःख, पुण्य–पाप, चेतन–जड़, प्राण–भूत, वृषा–योषा, जन्म–मृत्यु इत्यादि असंख्य द्वन्द्वभावों से नित्य आक्रान्त स्थावर जङ्गमात्मक पाञ्चभौतिक विश्व हमारी दृष्टि का विषय बन रहा है । इस विश्वदृष्टि को वैज्ञानिकों ने विज्ञानदृष्टि, अज्ञानदृष्टि भेद से दो भागों में विभक्त किया है । वैज्ञानिकों ने कोई अपूर्वविभाग नहीं किए, अपितु जिन परस्परात्यन्तविरुद्ध दो विश्वदृष्टियों का आबालवृद्धवनिता सब को समान रूप से प्रत्यक्ष हो रहा है, उन्हीं का वैज्ञानिकों की ओर से व्यवस्थित रूप से विश्लेषण मात्र हुआ है । ज्योतिर्लक्षण वह ज्ञान, जिसके सहयोग से हम सूर्य्य–चन्द्रमा–पृथिवी–अन्तरिक्ष–नक्षत्र–विद्युत–अग्नि–मनुष्य–पशु–पक्षी–पर्वत–वृक्ष–सागर–जलचर आदि विश्वपदार्थों को उपलब्ध करने में समर्थ होते हैं, दूसरे शब्दों में वह ज्ञान, जिससे हमें इन सांसारिक विषयों का भान (प्रतीति, बोध) होता है, वही ज्ञानतत्त्व 'विज्ञान' नाम से प्रसिद्ध है । यह ज्ञान यद्यपि स्वस्वरूप से एक-रस है, विविधभाव से पृथक् है, तथापि उक्त सूर्य्य चन्द्रादि विविध विषयों के सम्पर्क से इस एकरसात्मक ज्ञान की भी विविध रूप से प्रतीति होने लगती है । विषयानुगत इस वैविध्य से ही तद्रूप (विषयाव-च्छिन्न) ज्ञान विविधंज्ञानं' निर्वचन से आगे जा कर (विश्वमर्य्यादा में भुक्त होकर) 'विज्ञान' नाम में परिणत हो रहा है । ज्ञानलक्षण इसी विज्ञानधरातल पर सूर्य्य-चन्द्रादि भौतिक विषय प्रतिष्ठित हैं । ज्ञानधरातल पर प्रतिष्ठित होकर ही ये विषय—'सूर्य्योऽस्ति' 'चन्द्रोऽस्ति' इत्याकारक अस्तिभावप्रतीति के कारण बनते हैं । यही प्रथम विज्ञानदृष्टि, किंवा ज्ञानदृष्टि है ।

इस ज्ञानदृष्टि से दृष्ट पदार्थ ही अज्ञानदृष्टि है । ज्ञानाभाव अज्ञान नहीं है, अपितु अज्ञान से आवृत ज्ञान ही अज्ञान है, जिसे '**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः**' इत्यादि रूप से मोह का जनक बतलाया गया है । अभाव किसी कार्य्य का जनक नहीं बन सकता । कार्य्य-कारण सम्बन्ध भावात्मक पदार्थों पर ही अवलम्बित है । जबकि अज्ञान मोहकार्य्य का जनक है, तो ऐसी स्थिति में इसे 'अभाव' लक्षण नहीं माना जा सकता । अवश्य ही अज्ञान (तमोगुण) से आवृत ज्ञान ही अज्ञान है, ऐसा अज्ञान अवश्य ही वस्तुतत्त्व है, एवं यही मोह कार्य्य का भावात्मक कारण है । गुणत्रयानुगतायोगमाया (व्यक्त-प्रकृति) ही तमोगुणप्राधान्य से भौतिक सृष्टि का उपादान कारण बनती है । रसात्मक ज्ञानतत्त्व ही बलात्मक क्रियातत्त्व से आवृत होता-होता कालान्तर में भूतसर्ग का कारण बन जाता है, जैसा कि—'**सतो बन्धुमसतिनिरविन्दन्**' मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है । बलगर्भितरसप्रधान तत्त्व ही ज्ञान है, एवं रसगर्भित बलप्रधान तत्त्व ही अज्ञान (भौतिक विषय) है । भूतदृष्टि ही अज्ञानदृष्टि है, जिसके नाम–रूप–कर्म्म, ये तीन पर्व माने गए हैं । नामरूपकर्म्मात्मिका भूतसृष्टि ज्ञानदृष्टि पर प्रतिष्ठित होकर ही

भाति का विषय बनती है। ज्ञानदृष्टि के मनः प्राण वाक्, ये तीन पर्व माने गए हैं। मनः प्राणवाङ्मयी ज्ञानदृष्टि ही विषय को अपने गर्भ में लेकर 'अस्ति' प्रतीति का कारण बनती है। 'सूर्य्योऽस्ति' में 'सूर्य्यः-अस्ति' ये दो पर्व हैं। प्रथमपर्व नामरूपकर्म्मात्मक अज्ञानपर्व है, द्वितीयपर्व मनः प्राणवाङ्मय ज्ञान-पर्व है। ज्ञानपर्व सत् है, अज्ञानपर्व असत् है। सल्लक्षण ज्ञानपर्व स्वतः एकरस है, असल्लक्षण अज्ञानपर्व भिन्न-भिन्न भावों का अनुगामी है। ज्ञानाधार पर प्रतिष्ठित विषय बदलते रहते हैं, परन्तु ज्ञानस्वरूप से अपरिवर्तनीय है। विषय जब ज्ञान के गर्भ से पृथक् रहता है, तब तो वह 'नास्ति' है। ज्ञान सम्पर्क में आकर ज्ञानीय अस्ति के अनुग्रह से वह 'अस्ति' बन जाता है। पुनः ज्ञानगर्भ से निकलने पर अपने प्रातिस्विक 'नास्ति' भाव में आ जाता है। इस प्रकार 'नास्ति–अस्ति–नास्ति' रूप से प्रतिक्षण विलक्षण नास्तिसार भूतजगत ही अज्ञानदृष्टि की मूल प्रतिष्ठा बन रहा है एवं भौतिकविषयोपाधि सहकार से वैविध्यरूपेण प्रतीयमान होता हुआ, किन्तु स्वस्वरूप से सर्वथा एकरस अस्तिसार ज्ञान ही ज्ञानदृष्टि की मूल प्रतिष्ठा बन रहा है।

'दृष्टा' के आधार पर विज्ञानदृष्टि समन्वित है, एवं दृश्य के आधार पर भूतदृष्टि किंवा अज्ञान-दृष्टि समन्वित है। साथ ही प्रत्येक वस्तु में, वस्तुगत प्रत्येक अणु में एक ही बिन्दु पर इन दोनों विरुद्ध तत्त्वों का समन्वय हो रहा है। क्या तत्त्व दो हैं? 'नेतिहोवाच'। दृश्य की सत्ता द्रष्टा की सत्ता के आधार पर ही अवलम्बित है। मृत् सत्ता ही घट सत्ता है। फलतः सत्तादृष्ट्या मृद्घट–अभिन्न हैं। भातिलक्षण द्वैत कभी सत्ताभेदानुगत द्वैत का उपोद्बलक नहीं बन सकता। यही कारण है कि वैज्ञानिकों ने 'विज्ञान-अज्ञान' भेद से दो भातियाँ स्वीकार करते हुए भी सत्ताभेद सत्ता-अभेदमूलक अद्वैतवाद का सर्वात्मना समर्थन किया है। अस्तु इस दार्शनिक चर्चा को अधिक तूलरूप न देते हुए विभिन्न दृष्टि द्वयी से प्रकृत में यही कहना है कि, विविध भाव संकुलित विश्व में समष्टिरूप से, तथा व्यष्टिरूप से उभयथा हम निश्चयेन तमः प्रकाशावत् अत्यन्त विरुद्ध दो भावों (विषयी-विषयों) का साक्षात्कार कर रहे हैं।

उदाहरण के लिए एक ऐसे मनुष्य को लक्ष्य बनाइए, जिसकी जन्म, शिशु, पौगण्ड, बाल, तरुण, युवा, प्रौढ, स्थविर, वृद्ध, दशमी ये दसों अवस्थाएँ आपकी दृष्टि में आ गई हों। आप अवश्य ही यह स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति न करेंगे कि, जन्मावस्था से आरम्भ कर दशमी अवस्था पर्य्यन्त इस मनुष्य दशा के १० प्रधान परिवर्त्तन हुए हैं। इसी आधार पर आपको आगे जाकर यह भी स्वीकार कर लेना पड़ेगा कि, प्रत्येक अवस्था भी कोई कूटस्थ-स्थिर तत्त्व नहीं है। अपितु अनेक अवान्तर अवस्थाओं के समन्वय से प्रत्येक अवस्था का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। अन्ततोगत्वा उस क्षणिक सुसूक्ष्म परिवर्त्तन को आँखों से न देखते हुए भी अनुमान द्वारा आप यह मान ही लेंगे कि, जन्म से निधन पर्य्यन्त मानव शरीर में क्षणिक परिवर्त्तन हो रहा है। इस क्षणिक परिवर्त्तनानुगत अवस्था परिवर्त्तन के साथ-साथ ही आप उस अक्षण-अपरिवर्त्तनीय–सत्ताभाव–स्वीकृति से भी ना नहीं कर सकते, जो अवारपारीण रूप से उन अनन्त क्षण-भावों का एक आधार बन रहा है। उसी प्रत्यक्षानुभूत अक्षणधरातल के कारण ही तो प्रतिक्षण अपूर्व-दशा में आने वाले भी उस व्यक्ति के सम्बन्ध में आपके मुख से—"अरे ! यह तो वही रामलाल है, जिसे बचपन में हमने गलियों में गुलेल खेलते देखा था, युवावस्था में पुलिस विभाग में देखा था, आज हम उसे

ही वृद्धावस्था में परिणत देख रहे हैं" यह वाक्य निकल पड़ते हैं। इस प्रकार एक ही रामलाल व्यक्ति क्षणदृष्टि, अक्षणदृष्टि दोनों का केन्द्र बन रहा है। अक्षणदृष्टि ही अस्तिसारा विज्ञानदृष्टि है, यही आत्मदृष्टि है, यही ब्रह्मदृष्टि है, यही स्थितिभाव है। क्षणदृष्टि ही नास्तिसारा अज्ञानदृष्टि है, यही शरीरदृष्टि है, यही मायिकदृष्टि है, यही गतिभाव है।

प्रश्न होगा, जब दोनों अत्यन्त विरुद्ध हैं, तो दोनों का एकत्र समन्वय कैसे हुआ ? उत्तर तमः-प्रकाश से पूछिए। प्रकाश और अन्धकार, दोनों से बढकर परस्पर विरुद्ध और कौन होगा। परन्तु आश्चर्य है— दोनों का एकत्र समन्वय हो रहा है। अन्धकार प्रदेश में प्रकाशयुक्त है, प्रकाश प्रदेश में अन्धकारयुक्त है। जिसे आप विशुद्ध अन्धकार कहते हैं, विश्वास कीजिए, उसके पर्व-पर्व में प्रकाश का साम्राज्य है। तभी तो अन्धकार में तारतम्य उपलब्ध होता है। अभी-अभी सौरप्रकाश व्याप्त था, बादल हो गए, अन्धेरा हो गया। रात्रि का आगमन हुआ, अन्धकार और घना हो गया। यदि अमावस्या की रात्रि है, साथ ही आकाश मेघाछन्न है, तो घनता और भी प्रबल हो गई। यह तारतम्य ही यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है कि अन्धकार के प्रकट हो जाने से प्रकाश पलायित नहीं होता, अपितु वह (प्रकाश) अन्धकार से अभिभूत हो जाता है। यही अवस्था प्रकाश की है। कृष्णपक्ष की रात्रियों में नक्षत्रों का साधारण प्रकाश है। चन्द्रोदय हुआ, अधिक उजाला हो गया। पूर्णिमा तिथि में प्रकाश और अधिक बढ़ गया। लीजिए—सूर्य्य निकल आया, प्रकाश और वृद्धिगत हुआ। मान लीजिए, यदि ऐसे-ऐसे १० सूर्य्य आकाश में उदित हो जाय तो प्रकाशवृद्धि की क्या अवस्था होगी ? उत्तर स्पष्ट है। छोड़िए इस आधिदैविक प्रकाश को। एक बन्द कमरे में अन्धकार है। आप १५ वाट का एक बल्ब (गोला) लगा देते हैं, प्रकाश हो जाता है। यदि वहीं १०० वाट का बल्ब लगा दिया जाता है, तो प्रकाश और भी अधिक हो जाता है। प्रश्न होगा कि, यदि प्रकाशसत्ता में अन्धकार नहीं ठहर सकता, तो १०० वाट के बल्ब से प्रकाश में आधिक्य क्यों उत्पन्न हुआ ? प्रश्न का यही समाधान विज्ञानयुक्त माना जायगा कि प्रकाश के आगमन से अन्धकार न तो नष्ट ही होता, न पलायित ही होता, अपितु वह प्रकाशगर्भ में ही अभिभूतमात्र हो जाता है। साधनाधिक्य से ज्यों-ज्यों अन्धकार अधिकाधिक अभिभूत होता जाता है, त्यों-त्यों प्रकाशवृद्धि होती जाती है। तारतम्य को भी छोड़िए। पूर्ण प्रकाश हो रहा है। उस प्रकाश मण्डल में मेज–कुर्सी आदि रखी हैं, साथ ही विरुद्धदिक् में उसी प्रकाश मण्डल के गर्भ में इनकी छाया पड़ रही है। यह छाया उसी पूर्व-अनभिभूत तम का अंश है। यदि प्रकाश ने स्वप्रदेश से अन्धकार को हटा दिया तो यह छायालक्षण अन्धकार कहाँ से आया—'नासतो विद्यते भावः' ? आवरणप्रतिबन्धक से तत्स्थान का अन्धकार प्रकाश न हटा सका, इस युक्ति का उस समय कोई महत्व नहीं रह जाता, जब कि निरावरण प्रकाशमण्डल में भी बाहर से लाए गए तृण की छाया का उद्गम प्रत्यक्ष दृष्ट है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, परस्परात्यन्त विरुद्ध होते हुए भी तमः–प्रकाश समान प्रदेश में निर्विरोध समन्वित है। ऐसा कोई प्रकाश नहीं, जिसके गर्भ में अन्धकार न हो, एवमेव ऐसा कोई अन्धकार नहीं, जिसके गर्भ में प्रकाश न हो। प्रकाशगर्भित अन्धकार ही अन्धकार है, एवं अन्धकारगर्भित प्रकाश ही प्रकाश है। इसी तारतम्य से अन्धकार, प्रकाश, ये दो विरुद्धभाव प्रकट हो गए हैं। इसी तमः-प्रकाश का अविनाभाव बतलाते हुए आचार्य्यों ने कहा है—

न हि ध्वान्तमीदृङ् न यत्र प्रकाशः—
प्रकाशो न तादृङ् न यत्रान्धकारः ।।

तमो वा प्रकाशोऽपि वा यत्र तत्र—
प्रतीमस्ततोऽपि प्रकर्षात् प्रकर्षम् ।।१।।

वर्णे प्रत्यक् तमसि च वर्णं घनत्वेन तुल्यता दृष्टा ।
अन्तरतमं तमस्तद् विभु सर्वत्र प्रतीयते नित्यम् ।।२।।

(अहोरात्रवाद ४।२ व ८)

परस्परात्यन्तविरुद्धधर्म्मविच्छिन्न दो, किंवा अनेक पदार्थों का एक ही स्थान में समन्वय कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न का विज्ञानानुगता तत्त्वमर्य्यादा की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं हैं । अग्नि विशकलन-धर्म्मा है, सोम संकोचधर्म्मा है । अग्नि उष्ण है, सोम शीत है, दोनों के एकत्र समन्वय से ही यज्ञात्मा का स्वरूप निर्म्माण हुआ है । आग, पानी का सहज वैर माना गया है । परन्तु देखते हैं गरम पानी में दोनों का समन्वय हो रहा है । पानी और वायु, दोनों विरुद्ध तत्त्वों के एकत्र समन्वय से ही 'फेन' (झाग) नामक अपूर्व द्रव्य का जन्म हुआ है । पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, पाँचों भूत परस्पर विषम हैं । किन्तु देखते हैं, इन पाँचों विषमभूतधातुओं के समन्वय से ही शरीरस्वरूप की रक्षा हो रही है । एक ही शरीर पाँचों विरोधियों की आवासभूमि बन रहा है । अनेक विरुद्ध भावों का असमन्वय जहाँ अशान्ति का कारण है, वहाँ इन्हीं विरुद्ध भावों का स्वस्वरूप रक्षापूर्वक निर्विरोध एकत्र समन्वय ही शान्ति का बीज माना गया है । प्राकृतिक गुणों का वैषम्यमूलक समन्वय ही तो विश्वस्वरूपरक्षा का अन्यतम कारण बन रहा है । भारतीय शिवोपासना के द्वारा विरुद्धभाव समन्वयमूलक इसी शिवभाव का समर्थन हुआ है । स्वयं शिव आग्नेय तत्त्व है, शिवशक्ति (जगदम्बा) सौम्य तत्त्व है, शिववाहन (वृषभ) तथा शक्तिवाहन (सिंह), दोनों में सहज वैर है । स्कन्द आन्तरिक्ष्य प्राण हैं, गणपति पार्थिव प्राण है, स्कन्दवाहन मयूर तथा गणपतिवाहन मूषक, दोनों में सहज वैर है । मयूर-मूषक से स्वभावतः वैर रखने वाले सर्प भगवान् शङ्कर के आभूषण हैं । शिव जटाजूट में पुण्यसलिला भागीरथी प्रतिष्ठित है, जिससे बन्धनविमोक होता है । हाथ में नागपाश है, जिससे बन्धन प्रवृत्ति होती है । ललाट पर अमृतकला (चन्द्रकला) है, कण्ठ में महागरल (विष) प्रतिष्ठित है । हमारे इस माङ्गलिक शिव परिवार में सभी तो व्यक्ति परस्परात्यन्त विरुद्ध हैं, परन्तु फिर भी यह परिवार 'शिव परिवार' है । सचमुच जहाँ विरोधी भूतों का समीकरण है, वहीं 'भूतेश' सम्पत्ति का उदय है ।

ठीक इसी न्याय से अस्तिसाराविज्ञानदृष्टि, तथा नास्तिसारा अज्ञानदृष्टि (ब्रह्म तथा माया) दोनों का एकत्र निर्विरोध समन्वय हो रहा है । एवं "**तत्तुसमन्वयात्**" सिद्धान्त के अनुसार यही समन्वय विश्वस्वरूप-रक्षा की मूल प्रतिष्ठा बन रहा है । विविध भावापन्ना अज्ञानदृष्टि ही कर्म्मदृष्टि है, एवं एक रसात्मिका

ज्ञानदृष्टि ही ब्रह्मदृष्टि है। जिस प्रकार स्वप्नद्रष्टा प्रज्ञान ज्ञान स्वमहिमा से रथ, रथयोग, रथमार्ग, सारथि, रथी, आदि विविध भावों में परिणत हो जाता है, एवमेव भेदमूला कर्म्मदृष्टि के समन्वय से एकरसात्मिका ब्रह्मदृष्टि (ज्ञानदृष्टि) भी विज्ञानदृष्टि (विविधदृष्टि) रूप में परिणित हो रहा है। स्वप्नान्तिक विज्ञानवत् नानारूप में परिणत होने वाली इसी विज्ञानदृष्टि को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है—'**स्वप्नान्ते उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि**' (बृ.आ. ४।३।१३)। क्षणिककर्म्म के सम्पर्क से अस्तिलक्षण नित्य विज्ञान ब्रह्म नानारूपों में परिणत हो जाता है। पूर्वरूप से नवीनरूप, नवीनरूप परित्यागान्तर पुनः अन्यरूप, इस प्रकार उस एक के आधार पर प्रतिक्षण नव-नव परिवर्त्तन होता रहता है। जिसका यह परिवर्त्तन होता है वही कर्म्म है, जो इस क्षणिक परिवर्त्तन में अक्षण-कूटस्थ बना रहता है, वही ब्रह्म है। ब्रह्म स्थितिमान् है, कर्म्म गतिमत् है। गतिगर्भिता स्थिति ब्रह्म है, स्थितिगर्भिता गति कर्म्म है। स्थिति आत्मा है, गति शरीर है। स्थिति जगदीश्वर है, गति जगत् है। 'गच्छति' ही तो 'जगत्' शब्द का निर्वचन है। स्थितिलक्षण आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है, गतिलक्षणशरीर नामरूपकर्म्ममय है। दोनों नित्य सापेक्ष हैं। 'आत्मा' कभी विशुद्ध नहीं रहता। अवश्य ही स्थूल–सूक्ष्म–कारण, तीनों शरीरों की, अथवा तीनों में से किसी एक शरीर की इसे नित्य अपेक्षा रहती है।

तात्पर्य्य—अस्तिसार नित्यविज्ञानब्रह्म का कर्म्मात्मक क्षणिक परिवर्त्तन ही '**गति**' तत्त्व है। इसी गतितत्त्व के समावेश से अन्यथाभाव से अन्यथाभाव में जाकर पुनः अन्यथाभाव में परिवर्त्तन होता रहता है। वही अस्ति है, वही नास्ति है। विज्ञानदृष्ट्या वही अस्ति है, कर्म्मदृष्ट्या वही नास्ति है। उसका नास्तिरूप जहाँ एकान्ततः भिन्न रस है, वहाँ उसी का अस्तिरूप एकान्ततः एकरस है, एवं सर्वत्र दोनों प्रत्यक्षानुभूत हैं, जैसा कि उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है। यही समष्टिलक्षण स्थितिगर्भिता गति का संक्षिप्त स्वरूप परिचय है, जिसे महालक्षण विश्वगति की मूलप्रतिष्ठा विश्वव्यापक अनन्त विज्ञान-घन–गतिगर्भितलक्षण जगदीश्वर माना गया है। जगदीश्वरविवर्त्त के गतिविवर्त्त का प्रत्यंश हमारा शरीर है, एवं उसके स्थिति विवर्त्त का प्रवर्ग्यांश हमारा प्रत्यगात्मा (कर्म्मात्मा) है। प्रत्यगात्मा स्वयं स्वस्वरूप से स्थितिलक्षण है। परन्तु शरीरदृष्ट्या यही गतिमान बन रहा है। शरीरावच्छिन्नप्रत्यगात्मा ही गति-भाव का अनुगामी बनता है। फलतः 'आत्मगति' शब्द से हमें 'शरीरावच्छिन्नप्रत्यगात्मागति' इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है। प्रतिक्षण विलक्षण कर्म्मात्मक–गतिधर्म्मावच्छिन्न शरीर सम्बन्ध से इस प्रत्यगात्मा की जो-जो गतियाँ होती हैं, उनका संक्षेप से दिग्दर्शन कराना ही प्रकृत आत्मगति-प्रकरण का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है।

—❀—
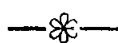
आत्मगतिविषये-प्रश्नपरम्परा

"प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील तत्त्वविशेष ही 'गति' है। इस गति का शरीर के साथ प्रधान सम्बन्ध है एवं शरीर चूंकि प्रत्यगात्मा से अभिन्न है, अतएव शरीरावच्छेदेने प्रत्यगात्मा की लोकान्तर गति उपपन्न हो जाती है।" पूर्व के 'गतिस्वरूप परिचय' से यही निष्कर्ष निकलता है। इस आत्मगति के सम्बन्ध में स्वयं शास्त्रीय वचनों के आधार पर ही अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। विषय सङ्गति की दृष्टि से प्रकृत परिच्छेद में उन प्रश्नों की ही संक्षिप्त मीमांसा की जाती है।

(१) एक विशेष दृष्टिकोण से विचार करने पर आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, जिस अन्नरसमयपुरुष (पाञ्चभौतिक शरीर) का हम चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष कर रहे हैं, वही 'अहं' पदार्थ है, वही 'प्रत्यगात्मा' है। इस दृष्टिकोण से पञ्चभूतों के अतिरिक्त 'प्रत्यगात्मा' नामक कोई स्वतन्त्र नहीं है, जिसकी परलोकगति का विचार किया जाय। पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न अन्न ही शारीराग्नि में हुत होकर शुक्ररूप में परिणत होता है। यही शुक्र शोणिताग्नि में आहुत होकर गर्भ-स्थिति का कारण है। यही गर्भ दस मासान्तर भूपिण्ड होकर 'अयं-इयं' इत्यादि लक्षण अहं शब्द का वाच्य बनता है। इस प्रकार पञ्चभूतात्मक अन्नरस से परम्परया शुक्र द्वारा उत्पन्न होने वाले अन्नरसमय इस पुरुष (आत्मा) में पाँच भूतों के अतिरिक्त प्रत्यक्ष में अन्य किसी नित्यतत्त्व का आत्यन्तिक अभाव ही प्रमाणित होता है। पञ्चभूतमय इस (ऐसे) आत्मा की केवल पञ्चत्वगति पर ही गतिभाव समाप्त मानना पड़ता है। अन्नरसमय पुरुष के पाँचों भूत जन्मकाल से आरम्भ कर किसी निश्चित क्षण तक परस्पर संगठित रहते हैं। जब तक ये भूत परस्पर संगठित (समन्वित) रहते हैं, तभी तक यह 'जीवित' कहलाता है। जिस दिन यह प्राकृतिक संगठन टूट जाता है, उसी क्षण यह मृत कहलाने लगता है, एवं उस अवस्था में इसका पार्थिव भाग स्वप्रभव पृथिवी में, जलभाग अप् में, तेजोभाग तेज में, वायुभाग वायु में, आकाशभाग आकाश में लीन हो जाता है। चूंकि पाँचों भाग स्वप्रभव पञ्चमहाभूतों में लीन हो जाते हैं, यहाँ आकर इसके लिए—'नास्ति' शब्द का प्रयोग होने लगता है। यही शरीरात्मकवादी नास्तिक का **'प्रत्यक्षमेवेति चार्वाकाः'** मूलक प्रथम दृष्टिकोण है। जब शरीर ही आत्मा है, एवं जब इसकी पञ्चत्वगति ही एकमात्र गति है तो, इस सम्बन्ध में परलोकगति नाम की एक अपूर्व गति की कल्पना का क्या प्रयोजन रह जाता है? चिकित्सा प्रसङ्ग में स्वयं आयुर्वेद ने भी पुरुष को अन्नरसमय बतलाते हुए, इसे ही चिकित्सा पुरुष मानते हुए परोक्षरूप से इस पञ्चत्वगति का ही समर्थन किया है। स्वयं श्रुति ने भी—**"अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येवखल्विमानिभूतानि जायन्ते, अन्नेनजातानि जीवन्ति, अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नं, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः"** (तै०उ०) इत्यादि रूप से पुरुष (आत्मा) का अन्नरसमयत्व स्वीकार करते हुए पञ्चत्वगति का ही समर्थन किया है।

(२) कितने एक वैज्ञानिक इस सम्बन्ध में थोड़ा संशोधन चाहते हैं। उनका कहना **है—कि,** पुरुष अन्नरसमय बनता हुआ पञ्चभूतात्मक है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं, परन्तु देखते हैं—पाँचों ही भूत

सर्वथा जड़ हैं। यदि पुरुष केवल पञ्चभूतमय ही होता, तब तो उस अवस्था में उस ज्ञानधर्म्म का सर्वथा अभाव रहता, जिसके आधार पर यह 'अहं जानामि, मया ज्ञायते, अहं करोमि, मया क्रियते' इत्यादि व्यवहार करने में समर्थ होता है। कारण गुण ही कार्य्यगुण के आरम्भक बनते हैं। जब कि कारणभूत भूतों में ज्ञानधर्म्म का अभाव है, तो तत्कार्य्यभूत अन्नरसमय पुरुष में तब तक यह प्रत्यक्षानुभूत ज्ञानधर्म्म, किंवा चेतनधर्म्म सर्वथा अनुपपन्न है, जब तक कि पाँचों भूतधातुओं से अतिरिक्त ज्ञानैकसार एक छठे चेतना धातु का इसके साथ समन्वय और न मान लिया जाय। अवश्य ही पाँचों व्यक्त भूतों की तरह सर्वव्यापक चेतना नामक छठे अव्यक्त धातु का भी इसके साथ सम्बन्ध मानना पड़ता है। **"पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं, ब्रह्मचाव्यक्तं, इत्येत एव च षड्धातवः समुदिताः 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते"** (चरक शा० ५।३) इत्यादि आर्षवचन इसी छठे चेतना धातु का समर्थन कर रहा है। आस्तां तावत्। चेतना धातु के स्वीकार कर लेने पर भी परलोकगति सर्वथा अनुपपन्न ही रह जाती है। पाञ्चभौतिक विश्व में व्याप्त पाँचों महाभूतों में जैसे शरीर पाँचों वैकारिक भूतों का अव्यय हो जाता है, एवमेव संगठन-विघटनान्तर शरीरानुगत चेतना धातु भी विश्वव्यापक, किंवा सर्वव्यापक चेतना धातु में उसी प्रकार तत्क्षण ही विलयन हो जाता है, जैसे कि लोटे का पानी 'लोटा' रूप सीमा के रहते ही समुद्र में जाकर तद्रूप हो जाता है। निम्नलिखित श्रुति चेतना धातु के इसी तात्कालिक अव्यय का समर्थन करती हुई क्रमगति लक्षण परलोकगति का एक प्रकार से खण्डन करने वाली ही प्रमाणित हो रही है—

"यथोदकं शुद्धे शुद्ध मासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥
परेऽव्ययेसर्व एकी भवन्ति॥" (कठ० ४।१५)।

(३) कितने एक वैज्ञानिक चेतनाधातु मान लेने पर भी सन्तुष्ट होते दिखाई नहीं देते। उनकी इस सम्बन्ध में यह विप्रतिपत्ति है कि, चेतना ज्ञान प्रधाना है, पञ्चभूत अर्थप्रधान है। अर्थप्रपञ्च भी सर्वथा निष्क्रिय है, एवं ज्ञानमयी चेतना भी क्रियाधर्म्म से अतिक्रान्त है। इस निष्क्रिय चेतना, निष्क्रिय भूतवर्गों का एकत्र समन्वित हो जाना तब तक सर्वथा असम्भव है, जब तक इन दोनों का सम्बन्ध कराने वाला एक तीसरा सक्रिय मध्यस्थ तत्त्व न मान लिया जाय। वही मध्यस्थ तत्त्व 'प्राण' नाम से प्रसिद्ध है। प्राणतत्त्व सक्रिय तत्त्व है। इसी के द्वारा उस ओर की चेतना का, तथा इस ओर के पञ्चभूत वर्ग का समन्वय होता है। इस प्रकार प्रत्यगात्मा में 'चेतना, प्राण, पञ्चभूत' इन तीन पर्वो की सत्ता सिद्ध हो जाती है। चेतनासम्बन्धेन अन्नरसमय पुरुष ज्ञानशक्तियुक्त है, प्राणसम्बन्धेन यही क्रिया शक्तिशाली है, एवं पञ्चभूतसम्बन्धेन यही अर्थशक्ति का भी अधिष्ठाता बन रहा है। ज्ञानशक्तियुक्त चेतना पर्व दृष्टि से यही आत्मा मनोमय है, क्रियाशक्तियुक्त प्राणपर्व दृष्टि से यही प्राणमय है, एवं अर्थशक्तियुक्त भूतपर्व की दृष्टि से यही वाङ्मय है। **"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो, मनोमयः"** (बृ०आ० ४।४।५) इत्यादि श्रुति स्पष्ट ही आत्मा को त्रिपर्वा प्रमाणित करती रही है।

आत्मा के उक्त तीनों पर्वों में मुख्य आत्मा कौन ? इस सम्बन्ध में बड़ा विवाद है । प्राण मध्यस्थ है, अतएव इसमें उस ओर के चेतना धर्म्म का ही समन्वय है, एवं इस ओर के भूतधर्म्म का भी समन्वय है इस दृष्टि से तो मध्यस्थ–प्रज्ञात्मक–आनन्दघन–अजर–अमृत–प्राण को ही मुख्य आत्मा कहना चाहिए । इसी आधार पर जीवात्मा सर्वलोक साधारण के व्यवहार में 'प्राणी' नाम से ही व्यवहृत भी हुआ है । निम्नलिखित श्रुति भी मध्यस्थ, अतएव सर्वधर्म्मोपपन्न प्राणमूर्त्ति प्रज्ञात्मा को ही मुख्य आत्मा मान रही है—

"स प्राण एवैष प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः ।
स मे आत्मा, इति विद्यात्" ।। (ब्र० ४।४।२२) ।

उधर जब उसी श्रुतिशास्त्र के एक अन्य वचन पर जब हमारी दृष्टि जाती है, तो हमें उक्त आत्ममुख्यता-सिद्धान्त में सन्देह होने लगता है । श्रुति ने एक स्थान पर कहा है कि, "यह आत्मा शरीर के चक्षु भाग से, मस्तक भाग से, अथवा तो हस्त–पाद–उदर आदि किसी अन्य शरीरावयव से बाहर निकलता है । इसके बाहर निकलने के साथ ही प्राण भी इसके साथ ही उत्क्रान्त हो जाता है ।" लीजिए–प्राण को यहाँ आत्मा से पृथक् बतलाया गया है—

"एष आत्मा निष्क्रामति–चक्षुष्टो वा, मूर्ध्नो वा, वाऽन्येभ्यो वा शरीर-देशेभ्यः । तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति ।" (बृ०आ० ४।४।२) ।

उक्त दोनों ही वचन हमारे लिए प्रामाणिक हैं । परन्तु दोनों सन्देह के जनक हैं । मध्यस्थप्राण आत्मा है ? अथवा चेतना आत्मा है ? अथवा भूतसंघ आत्मा है ? कुछ निर्णय नहीं किया जा सकता । आत्मा स्वरूप ही 'इदमित्यमेव' रूप से जब कि अनिर्णीत है, तो ऐसे संदिग्ध आत्मतत्त्व से सम्बन्ध रखने वाली परलोकगति के विषय में किस आधार पर निश्चयात्मिका मीमांसा सम्भव है ?

(४) उक्त सिद्धान्त के आधार पर आत्मगति सम्बन्ध में सन्दिहान बनते हुए भी कम से कम हम इस निर्णय पर अवश्य पहुँच जाते हैं कि, भले ही चेतना, प्राणभूत, तीनों में से मुख्य आत्मा कोई भी हो, परन्तु वह—"**एष आत्मा निष्क्रामति**" कथनानुसार शरीर से अवश्य उत्क्रान्त होता है । परन्तु उसी श्रुति-शास्त्र का एक अन्य वचन तो इस सम्बन्ध में भी हमें सन्देह में डाल देता है । एक स्थान पर आत्मस्वरूप का विश्लेषण करते हुए श्रुति ने कहा है—

"आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्टात्, आत्मापश्चात्, आत्मापुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मा-उत्तरतः । आत्मेवेदंसर्वम् । अहमेवाधस्तात्, अहमुपरिष्टात्, अहं पश्चात्, अहं पुरस्तात्, अहं दक्षिणतः, अहमुत्तरतः । अहमेवेदं सर्वम् ।"
(छा०उ० ७।२५)

"आत्मा ही ऊपर–नीचे–पश्चिम–पूर्व–दक्षिण–उत्तर–सर्वत्र व्याप्त है" कहती हुई श्रुति—आत्मा को सर्वव्यापक बतला रही है। आगमन, गमन, उत्क्रान्ति ये सब परिच्छिन्न वस्तुतत्त्वों के साथ सम्बन्ध रखने वाले परिच्छिन्नधर्म्म हैं। गतिलक्षण उत्क्रान्ति में पूर्व देशपरित्यागपूर्वक उत्तरदेश का संयोग अपेक्षित है। जो व्यापक है, उसके सम्बन्ध में ऐसा परिच्छिन्न परित्याग-संयोग सर्वथा अनुपपन्न है। इस प्रकार आत्मा कौनसा है? के साथ-साथ आत्म विभुत्व समर्थक उक्त वचन से—आत्मा का उत्क्रमण ही कैसे सम्भव है? यह एक नई विप्रतिपत्ति और उपस्थित हो जाती है। आत्मस्वरूप संदिग्ध, आत्मोत्क्रान्ति संदिग्ध। ऐसी दशा में आत्मपरलोकगति की मीमांसा क्या विप्रतिपन्न नहीं मानी जा सकती?

(५) इसी प्रकार उत्क्रमण करने वाले संदिग्ध आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में अन्य कई एक विप्रतिपत्तियाँ ऐसी उपस्थित होती हैं, जिन्हें लक्ष्य में रखते हुए इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि वस्तुतः आत्मस्वरूप एकान्ततः संदिग्ध ही है। निम्नलिखित वचन पर दृष्टि डालिए—

"यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्म्मणा भवति, पापः पापेन। अथो खल्वाहुः-काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति, तत् क्रतुर्भवति, यत् क्रतुर्भवति, तत् कर्म्मकुरुते, यत् कर्म्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।" (बृ०आ०उ० ४।४।४–५)।

"जैसी करनी, वैसी भरनी" इस लोकसूक्ति के अनुसार जो जैसा करता है, उसे वैसा फल भोगना पड़ता है। शुभकर्म्म करने वाला शुभ फल का, तथा अशुभ कर्म्म करने वाला अशुभ फल का अनुगामी बनता है। पुण्यजनककर्म्म से उत्पन्न आत्मा पुण्यभाव में परिणत रहता है, पापजनककर्म्म से पापातिशय से युक्त रहता है। यह पुरुष काममय है, कामनाओं (इच्छाओं) का समुद्र है। यह जैसी कामना करता है, इसका क्रतु (आभ्यन्तर व्यापार, प्राणव्यापारलक्षणतम) तदनुरूप ही होता है। वस्तुतः मानससंकल्प का नाम ही क्रतु है। दूसरे शब्दों में मानससंकल्परूप कामना के अव्यवहितोत्तर काल में प्रक्रान्त प्राण-व्यापार ही क्रतु है एवं संकल्प (काम) से अनुगत क्रतु द्वारा होने वाले वाग्व्यापार लक्षण श्रम से उत्पन्न कर्मसिद्धि ही 'दक्ष' है। इस प्रकार त्रिकल आत्मा के मनःपर्व से कामना का, प्राणपर्व से क्रतु (यत्न–चेष्टा–कोशिश) का, एवं वाक्पर्व से दक्ष (कर्म्म) का स्वरूप सम्पन्न होता है, जैसा कि—"**स यदेव मनसा कामयते इदं मे स्यात्। इदं कुर्वीय इति, स एव क्रतुः। अथ यदस्मै तत् समृध्यते, स दक्षः**", (शत. ४।१।४।१) इत्यादि ब्राह्मण श्रुति से प्रमाणित है। कामनानुगत क्रतु के अनुरूप कर्म्म का जैसा स्वरूप सम्पन्न होता है, उस कर्म्म का वैसा ही वासना संस्कार आत्मधरातल पर अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित हो जाता है। यही उक्त बृहदारण्यक श्रुति का तात्पर्य्यार्थ है। इसका निष्कर्ष यही है कि, आत्मा के साथ कर्म्मवासना संस्कार का सम्बन्ध होता है एवं इसी शुभाशुभ वासना संस्कार के तारतम्य से आत्मा को शुभाशुभ फलों का अनुगमन करना पड़ता है।

मान लेते हैं। परन्तु यह मान्यता उस समय सर्वथा संदिग्ध बन जाती है, जब कि एक अन्य वचन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। ध्यान दीजिए निम्नलिखित वचन किस प्रकार हमें उक्त कर्म्म-वासनालेप–सम्बन्ध में संदिग्ध बना रहा है—

"स प्राण एवैष प्रज्ञात्माऽऽनन्दोजरोऽमृतः। न साधुनाकर्म्मणा भूयान्, नो एवासाधुना कर्म्मणा कनीयान्। एष लोकपालो, लोकाधिपतिः सर्वेश्वरः। स मे आत्मेति विद्यात्।" (ब्र० ४।४।२२)।

लीजिए—प्राणात्मक हमारा आत्मा न शुभ कर्म्म से समृद्धि को प्राप्त होता है, न अशुभ कर्म्म से इसका ह्रास ही होता। कर्म्मसंस्कार का आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। तुलना कीजिए इन दोनों सिद्धान्तों की। अवश्यमेव आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में आपको सन्देह हुए बिना नहीं रहेगा। आत्मा का कर्म्मसंस्कार से कोई सम्बन्ध नहीं होता, इसी सिद्धान्त का निम्नलिखित वचन से और भी अधिक स्पष्टीकरण हो रहा है। देखिए—

"स वा एष महानज आत्मा–योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु, य एषोऽन्तर्हृदये–आकाशः, तस्मिञ्छेते। सर्वस्यवशी, सर्वस्येशानः, सर्वस्याधिपतिः। स न साधुनाकर्म्मणा भूयान्, नो एवासाधुनाकर्म्मणा कनीयान्। तदेतदृचाऽभ्युक्तं"—

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्द्धते कर्म्मणा नो कनीयान्।
तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्म्मणा पापकेन।
(बृ.आ. ४।४।२२-२३)।

और आगे बढ़िए। '**अविनाशी वा अयमात्मा अनुच्छित्ति धर्म्मा। मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति**' इत्यादि श्रुति जहाँ एक ओर नित्य-समरसैकमूर्त्ति आत्मा के साथ प्रज्ञा–प्राण–भूतमात्राओं का संसर्ग मान रही है, वहाँ दूसरी ओर "**पुरुषस्तुपुष्करपलाशवन्निर्लेपः**" इत्यादि प्राधानिक सिद्धान्त के अनुसार "**असङ्गोह्ययं पुरुषो, न सज्जते, न व्यथते, न रिष्यति**" इत्यादि श्रुति उसी आत्मा को मात्रासंसर्ग से एकान्ततः असंस्पृष्ट बतलाती हुई हमारे सन्देह को और अधिक पुष्ट कर रही है। निम्नलिखित वचन भी आत्मा के इस मात्रासंगविरक्ति का ही समर्थन कर रहा है—

"स एष विज्ञानात्मा सम्प्रसादे (सुषुप्तौ) वा, स्वप्नान्ते वा यत्तत्र किञ्चित्-पश्यति, अनन्वागतस्तेन भवति। असङ्गोह्ययं पुरुषः।" इति

(६) अभी विश्राम न कीजिए। श्रुति कहती है–"**सोऽयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते। स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति।**" (बृ०आ० ४।३।८)। तात्पर्य्य—

"आत्मा जब उत्पन्न दशा में आकर नवीन शरीर धारण करता है, उस समय वह पाप्मभावों से युक्त हो जाता है। एवं उत्क्रान्ति दशा में मरणानुगत वही आत्मा इन पाप्माओं को छोड़ देता है।" निष्कर्ष— जन्मकाल में जिन पाप्माओं का आत्मा के साथ सम्बन्ध होता है, मरणोत्तर आत्मा पुनः अपने विशुद्धरूप में आ जाता है। इस प्रकार केवल मृत्यु ही इसे मुक्त करने के लिए पर्याप्त है। जब शरीर त्यागान्तर शुद्धावस्था में आता हुआ आत्मा मुक्त हो गया, तो इसकी परलोकगति, एवं शुभाशुभकर्म्मानुसारिणी परलोक मुक्ति का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है।

(७) आत्मा लोकान्तर में क्यों जाता है ? इस आत्मगति का प्रधान कारण है—शुभाशुभ कर्म्म संस्कारानुसार तत्तच्छुभाशुभलोक विभूतियों का भोग। क्या उत्क्रान्त आत्मा में इन्द्रिय सहयोग सापेक्ष भोग साधन विद्यमान रहते हैं ? जिनसे यह उन लोकभोगों का भोग कर सकता है ? श्रुति कहती है—

"स एष एव मृत्युर्य एष तबति एतस्मिन् मण्डले पुरुषः, यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः तस्य हैतस्य हृदयेपादावतिहितौ। तौ हैतदाच्छिद्योत्क्रामति। स यदोत्क्रामति, अथ हैतत्पुरुषोम्रियते। एष उ ऽ एव प्राणः तस्य स्वाः। स यदा स्वपिति, अथैनमेते प्राणाः स्वा अपिपन्ति। स एतैः सुप्तो न कस्यचनवेद, न मनसा संकल्पयति, न वाचान्नस्य रसं विजानाति, न प्राणेन गन्धं विजानाति, न चक्षुषा पश्यति, न श्रोत्रेण शृणोति। एतं स्येते तदा अपीता भवन्ति स एष एकः।"

(शत० १०।५।२।१३–१५)।

जीवन, तथा मृत्यु, दोनों स्थितियों की मूल प्रतिष्ठा सौरहिरण्यमय पुरुष माना गया है। यही प्रवर्ग्यरूप से अध्यात्म संस्था में प्रतिष्ठित होकर उक्थ रूप से हृदय में प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्करूप से दक्षिणाक्षिगोल से प्रादेशामित प्रदेशपर्य्यन्त व्याप्त रहता है। इसी दक्षिणाक्षि सम्बन्ध से यह पुरुष (आत्मा) दाक्षिणाक्षिपुरुष, चाक्षुपुरुष इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। सौरहिरण्मयपुरुष अपने महतोमहीयान्‌रूप से जहाँ रोदसी ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, वहाँ यही अपने अणोरणीयान्‌रूप से हमारे हृत् प्रदेश में प्रतिष्ठित है। यही अन्तर्य्यामी नामक साक्षीसुपर्ण है। इस साक्षीसुपर्ण स्थान (हृदयस्थान) में ही इसके अभिन्नस्वरूप एतत्प्रवर्ग्यानारूप भोक्ता सुपर्ण नामक चाक्षुपुरुष प्रतिष्ठित रहता है। जब हृदयस्थ अन्तर्य्यामी हृत्प्रतिष्ठा छोड़ देता है, तो तदविनाभूत चाक्षुपुरुष भी शरीर से उत्क्रान्त हो जाता है। यही इसकी मृत्यु है। इस हृदयस्थ अन्तर्य्यामी सौरहिरण्मय के साथ तदंशभूत चाक्षुषपुरुष का दैनिक, साम्परायिक भेद से दो तरह से अप्यय सम्बन्ध हुआ करता है। सुषुप्तिकाल में सर्वेन्द्रिय सम्बन्ध से विमुक्त आत्मा हृदय में अतीत होता रहता है। इस अवस्था में (सुषुप्ति में) स्वपीति से सारे भोग सम्बन्ध तदपख्यापर्य्यन्त छूट जाते हैं। इसी हृदयावच्छिन्न अन्तर्य्यामी में आत्म समर्पण कर जब यह आत्मा हृदय से सूर्य्य केन्द्र पर्य्यन्त वितत सुषुम्णा नाड़ी द्वारा उस परपुरुष में अपीत हो जाता है, तो यह इसकी साम्परायिकी अपीति कहलाती है। यही परमोत्क्रान्ति लक्षण महासुषुप्ति (मृत्यु) है। जिस प्रकार दैनिक

सुषुप्ति में भोगसम्बन्ध का अभाव है, एवमेव इस साम्परायिकी सुषुप्ति में भी भोगसाधन इन्द्रिय वर्ग का अभाव है। उक्त शातपथी श्रुति का यही निष्कर्ष है। इस निष्कर्ष से हमें इस निश्चय पर पहुँचना पड़ा कि, आत्मा से शरीर से निकल जाने पर उसके लिए न तो भोगसाधन ही रहते, न भोगसामग्री ही रहती। फिर भोगलोकानुगता आत्मगति का क्या अर्थ है ? सचमुच यह एक विप्रतिपन्न समस्या बन रही है।

(८) शरीर से आत्मा पृथक् है, यह एक दृष्टिकोण है। शरीर ही आत्मा है, यह एक दृष्टिकोण है। शरीरभस्मान्त भी आत्मा नामक कोई नित्य पदार्थ बच रहता है, एवं वह लोकान्तर में गमन करता है, यह एक दृष्टि है एवं शरीर भस्मान्तर कुछ भी शेष नहीं रहता, फलतः आत्मगमन सिद्धान्त विशुद्ध कल्पना है, यह एक दृष्टि है। पहिला दृष्टिकोण आस्तिकों की प्रतिष्ठा है, दूसरा दृष्टिकोण नास्तिकों का मन्तव्य है। पहिले क्रमप्राप्त आस्तिक सम्मत **'अस्तीत्येके'** इस दृष्टिकोण की मीमांसा कीजिए। आस्तिक वर्ग का कहना है कि, सरवत् अपना स्वरूप सुरक्षित रखने वाला आत्मा अवश्य ही शरीर से पृथक् एक सत्तासिद्ध पदार्थ है, एवं स्थूल शरीर निधनान्तर अवश्य ही इसका जलवत् लोकान्त में गमन होता है। वर्षा ऋतु में जलपूर्ण सरोवर ग्रीष्म ऋतु में सूख जाता है। क्या सरोवर का जल ग्रीष्म ऋतु निमित्त से सर्वथा नष्ट हो गया ? नहीं, अपितु मानना पड़ेगा कि सरोवर से उत्क्रान्त वाष्परूपावच्छिन्न यह जलमात्रा आन्तरिक्ष्य वायु के आधार से अवश्य ही आकाश के किसी न किसी प्रदेश में में प्रतिष्ठित हो जाता है। सौर नाड़ी द्वारा वायु संयोग से ही वाष्परूपानुगत जल का आरोहण होता है।❀ पृथिवी तथा अन्तरिक्षोपलक्षित द्युलोक दोनों में इस प्रकार पार्थिव तथा दिव्य अहर्गणों द्वारा समान रूप से वृष्टि होती रहती है। अन्तर दोनों में केवल यही है कि, दिव्यलोकस्थ (आकाशस्थ) पानी आन्तरिक्ष्य पर्जन्यवायु (मानसून) द्वारा पृथिवी पर आता है। एवं पार्थिव पानी पार्थिव अग्नि के सहयोग से द्युलोक में जाता है।♀ पार्थिव अग्नि ही सौराग्नि समन्वय से पार्थिव जलों को वास्परूप में परिणत पृथिवी से ऊपर की ओर ले जाता है। **'धर्माङ्गिरसो ययुः'** इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार पृथिवी से द्युलोक की ओर जाता हुआ अङ्गिरोऽग्नि वाष्पवस्थापन्न पार्थिव पानी को द्युलोक में ले जाते हैं। वहाँ जाकर यह पानी आन्तरिक्ष्य वायु धरातल में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यही इनका गर्भाधान काल है। पूरे ७॥ महिनों तक यह पानी उस वायु धरातल पर प्रतिष्ठित रहते हैं। अनन्तर जब कि आदित्य अपनी रश्मियों से पर्य्यावर्त्तन करते हैं, ७॥ मासान्तर पर्जन्यवायु के प्रत्याघात से 'न मुञ्चति' लक्षण जलावरोधक नमुचि नामक आसुर प्राण के शैथिल्य से पुनः वह पानी स्थूल रूप में परिणत होते हुए भूमि को आप्लावित कर देते हैं।$

❀**"नाड्यौ वायुसंयोगादारोहणम्।"**

♀**"समानमेतदुदकमुच्चैत्यवचाहभिः।**
भूमिं पर्जन्याजिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः॥"

$**"अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टां नयन्ति। यदा खल्वसावादित्योन्यङ्-रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते, अथ वर्षति।"**
अष्टमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभास्तिभिः।
रसः सर्वसमुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम्॥

ठीक इसी प्रकार स्थूल शरीर परित्यागान्तर सूक्ष्म शरीर धारण कर यह आत्मा भी आन्तरिक्ष्य प्राणाग्नि, प्राणवायु, प्राणसोम, प्राणादित्य आदि में से किसी न किसी लोक में ही प्रतिष्ठित हो जाता है। अवश्य ही जलवत् इसका लोकान्तर गमन होता है, एवं जलवत् यह अपने सुसूक्ष्म रूप से लोकान्तर में प्रतिष्ठित रहता है। जीवित दशा में जो आत्मा तत्त्व सर्वथा सलक्षण बना रहता है, उसका अलक्षण शरीर निधन पर भी असद्भाव नहीं माना जा सकता। क्यों कि—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** इत्यादि गीता सिद्धान्त के अनुसार सत् का कभी अभाव नहीं होता एवं असत् कभी भावरूप में परिणत नहीं होता। स्वयं श्रुति ने भी निम्नलिखित शब्दों में इसी सुव्यवस्थित सदसद्-द्वन्द्व का समर्थन किया है—

"असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद, सन्तमेनं ततो विदः॥" (तै०उ० २।६।५)।

एक दूसरा नास्तिक दल इस सम्बन्ध में आत्मा को रथवत् मानता हुआ इसे उच्छित्तिधर्म्मा बतला रहा है। उसका कहना है कि, अपनी वास्तविक दशा से युक्त एक 'रथ' के चक्र, प्रउग, इषा, कस्तम्भी आदि सम्पूर्ण अवयव शणमयसूत्र से चारों ओर से परस्पर बद्ध रहते हुए रथ-स्वरूप में परिणत हो रहे हैं। इस शणसूत्रबन्धन से एकत्र समन्वित रथावयवों में एक अपूर्व बल उत्पन्न हो रहा है। वही अपूर्व तात्कालिक-संयोगज-बल 'रथ' नामक 'अवयवी' है। रथावयवों से पृथक् 'रथ' नामक कोई स्वतन्त्र अवयवी नहीं हैं। जब वह शणसूत्रबन्धन शिथिल हो जाता है, अथवा उच्छिन्न हो जाता है, तो उसी क्षण रथावयवों का पारस्परिक समन्वय उच्छिन्न हो जाता है। फलतः अवयवी रथ का स्वरूप भी तत्काल ही उच्छिन्न हो जाता है। ठीक यही रथदशा आत्मदशा के सम्बन्ध में घटित है। पृथिवी–जल–तेज–वायु–आकाश, इन पाँचों भूतों के विकारलक्षण हस्त–पाद–शिर–उर–उदर आदि अवयव वायुसूत्र से चारों ओर से वेष्टित होकर परस्पर समन्वित रहते हैं। वायुसूत्रवेष्टन से समन्वित इन शरीरावयों में समन्वय द्वारा तात्कालिक एक अपूर्व प्रज्ञान बल उसी प्रकार उत्पन्न हो जाता है, जैसे कि भिन्न-भिन्न औषधि मात्राओं के एक पात्र में समन्वित होने से उनकी समष्टि में एक अपूर्व बल उत्पन्न हो जाता है। यही अपूर्व बल 'प्रज्ञानात्मा', किंवा आत्मा नामक अवयवी रूप से व्यवहृत होने लगता है। परन्तु विश्वास कीजिए रथवत् यह प्रज्ञान उन शरीरावयों से कोई पृथक् नित्य अवयवी नहीं है। वायुसूत्रबन्धन के श्लथ होते ही शरीरावयों का समन्वय उच्छिन्न हो जाता है। तत्काल समन्वयसिद्ध प्रज्ञान बल भी उच्छिन्न हो जाता है। फलतः शरीरनिधन ही आत्मनिधन है। यही आत्ममुक्ति है।

इस प्रकार प्रेतभाव के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से हमारे सामने परस्परात्यन्तविरुद्ध दो विचिकित्सा उपस्थित हो रही हैं। नहीं कह सकते, दोनों में कौनसा पक्ष ग्राह्य, तथा प्रामाणिक है। इस विचिकित्साद्वयी की दृष्टि से आत्मोत्क्रान्ति का विषय ही जब कि संदिग्ध बन रहा है, तो आत्मोत्क्रान्ति को मूल बना कर प्रक्रान्त होने वाली आत्मगति कैसे निभ्रान्त कही जा सकती है—

"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्यऽस्तीत्येके, नायमस्तीति चैके" (कठ० १।२०) ।

१–अस्तीत्येके—"भूतेषु भूतेषु विचित्यधीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।
(केन० २।५) ।

"अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति, तथेतः प्रेत्य भवति" (छां० ३।१४।१) ।

"एष म आत्माऽनन्तर्हृदये, एतद् ब्रह्म एतमितः प्रेत्यअभि सम्भवितास्मि, इति-यस्यस्यादद्धा, न विचिकित्सास्ति इति ह स्माह शाण्डिल्यः ।" (छां० ३।१४।४) ।

२–नायमस्तीतिचैके–"यथा सैन्धवखिल्य उदकेप्रास्त उदकमेवानुविलीयते, न हास्योद्ग्रहणायेवस्यात् । यतो यतस्त्वाददीत, लवणमेव । एवं वा अरे इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवाऽनुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति ।" (बृ०आ० २।४।१२) ।

"वायुर्वै गौतम तत् सूत्रम् । वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः, परश्चलोकः, सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुः—व्यस्रंसिषतास्याङ्गानि, इति । वायुनाहि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्ति ।"
(बृ०आ० ३।७।२) ।

—※—
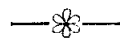
(६) दूसरी दृष्टि से प्रेत-विचिकित्सा का समन्वय कीजिए । मान लेते हैं, पाञ्चभौतिकशरीर से 'प्राण' नामक पृथक् आत्मतत्त्व है । इस प्राणात्मा के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि पाञ्चभौतिक शरीर के निधनान्तर यह प्राणात्मा शरीर से निकल कर लोकान्तर में उत्क्रमण करता है ? अथवा भूतों की तरह भूतों के साथ-साथ यहीं विलीन हो जाता है । इस प्रेतविचिकित्सा के सम्बन्ध में भी प्राप्त होने वाले 'ना–हाँ' इन दो उत्तरों से आत्मगतिविषयक प्रश्न संदिग्ध ही बन रहा है । प्राणलक्षण आत्मा का उत्क्रमण नहीं होता, अपितु वह यही तत्काल शरीर निधन के साथ ही विलीन हो जाता है, यह एक समाधान है, जिसका निम्नलिखित वचन से समर्थन होता है—

"याज्ञवल्क्येति होवाच–यत्रायं पुरुषो म्रियते, उदस्मात् प्राणाः–क्रामन्ति, आहो इ नेति ? 'नेति' होवाच याज्ञवल्क्यः। अत्रैवसमवनीयन्ते। स उच्छ्वयति, आध्मायति, आध्मातोमृतः इति।" (बृ०आ० ३।२।११)।

"प्राणलक्षणआत्मा का शरीर निधन के अनन्तर लोकान्तर गमन के लिए चक्षु, मस्तक, पाद, हस्त, आदि किसी न किसी शरीरावय से उत्क्रमण होता है" इस विरुद्ध सिद्धान्त को निम्नलिखित वचन से समर्थन प्राप्त है—

"तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते। तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति-चक्षुष्टोवा, मूर्ध्नोवा, अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति। प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति।" (बृ०आ० ४।४।२)।

दोनों ही पक्ष शास्त्रीय पक्ष हैं, एतएव दोनों ही प्रामाणिक, किन्तु परस्पर सर्वथा विरुद्ध हैं। बतलाइए ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय ?

(१०) अपनी स्वाभाविक आस्तिकभावना के अनुग्रह से हम मान लेते हैं कि, प्राणलक्षण आत्मा मर्त्यशरीर से भिन्न अनुच्छित्तिधर्म्मा नित्य पदार्थ है। यह भी मान लेते हैं कि, शरीरनिधनानन्तर इसका चक्षु, शिर, हस्त, पादादि किसी शरीरावयव से लोकान्तर में उत्क्रमण होता है। यह सब कुछ मान लेने पर भी विप्रतिपत्ति के सर्वथा निराकरण का उपाय उपलब्ध होता दिखाई नहीं देता। स्वयं 'उत्क्रमण' विचिकित्सा से युक्त हो रहा है। एक स्थान पर इस सम्बन्ध में हमें यह सिद्धान्त सुनना पड़ता है कि— "जिस समय प्राणात्मा इस भौतिक शरीर को छोड़ता है, उस समय जिस प्रकार क्षणमात्र में हमारा मन जीवित दशा में विदूर से विदूर लोक में पहुँच जाता है, एवमेव उत्क्रान्त यह आत्मा क्षणमात्र में आदित्य-लोक में पहुँच जाता है।" देखिए !

"अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामति, अथैतैरेवरश्मिभिरुर्ध्वमाक्रमते। स ओमिति वा, होद्वा मीयते। स यावत् क्षिप्येन्मनः, तावदादित्यं गच्छति।"
(छां०उ० ८।६।५)।

उधर एक ओर वही श्रुतिशास्त्र इस उत्क्रान्ति के सम्बन्ध में अपना यह निर्णय प्रकट कर रहा है कि—"जो भी प्राणी पाञ्चभौतिक शरीर त्यागान्तर इस पृथिवीलोक को छोड़ कर यहाँ से आगे चलते हैं, उन सबको निश्चयेन चन्द्रलोक में जाना पड़ता है।" इस प्रकार **'ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति"** (कौ०उ० १।२) इत्यादि वचन पूर्व सिद्धान्त का प्रतिद्वन्द्वी बनता हुआ हमें संदिग्धावस्था में परिणत कर रहा है।

(११) इसी उत्क्रान्ति के सम्बन्ध में अन्वेषण करने पर और भी कई एक ऐसे विरुद्ध सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं, जिनके रहते आत्मगति-सम्बन्ध में 'इदमित्यमेव' रूप से निर्णय करना असम्भव बन जाता है। 'इस लोक से उत्क्रान्त आत्मा किस क्रम से गतिमार्गों का अनुसरण करता हुआ लक्ष्य पर पहुँचता है ?' प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती है—"जब पुरुष (पार्थिव शरीर त्यागान्तर सूक्ष्म शरीर धारण कर) इस पृथिवीलोक से उत्क्रान्त होता है, तो (सर्व प्रथम) वह वायु में आता है। आगत आत्मा के लिए वह वायुस्तर उसी प्रकार इसे अपने भीतर से (आगे जाने के लिए) मार्ग दे देता है, जैसे रथचक्र में आकाशात्मक छिद्र रहता है। इसी वायुच्छिद्र से यह आत्मा आदित्यस्तर में आता है। यह भी इसे आगे (बढने के लिए) लम्बर (ढोलक) छिद्रपरिमाणवत् मार्ग दे देता है। इसी आदित्यच्छिद्र से यह आत्मा चन्द्रलोक में पहुँचता है। यह भी इसे दुन्दुभि (नगाड़ा) छिद्रसमतुलित मार्ग दे देता है। यहाँ से भी ऊर्ध्व आक्रमण करता हुआ अशोकमहिम (एतन्नामक 'अपुनर्मार' नाम से प्रसिद्ध पारमेष्ठ्य) लोक में पहुँच जाता है, एवं यहाँ अनन्तकाल के लिए प्रतिष्ठित हो जाता है" इस अर्थ का स्पष्टीकरण वाले निम्नलिखित वचन को पहले लक्ष्य बनाइए—

"यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति, स वायुमागच्छति। तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खम्। तेन स ऊर्ध्व आक्रमते, स आदित्यमागच्छति। तस्मै स तत्र विजिहीते, यथा लम्बरस्य खम्। तेन स ऊर्ध्व आक्रमते, स चन्द्रमसमागच्छति। तस्मै स तत्र विजिहीते, यथा दुन्दुभेः खम्। ते न स ऊर्ध्व आक्रमते। स लोकमागच्छति अशोकमहिमम्। तस्मिन् वसति शाश्वतीः समाः।"

(बृ०आ० ५।१०।१)।

यही श्रुतिशास्त्र उत्क्रान्ति के सम्बन्ध में उक्त निर्णय से भिन्न निर्णय प्रकटता हुआ कहता है—"शरीर का शव्य (दाह) कर्म्म किया जाय, अथवा न किया जाय, दोनों ही दशाओं में यह प्रेतआत्मा सर्वप्रथम अर्चि-मार्ग में आता है। अर्चिमण्डल से अहर्मण्डल में, अहर्मण्डल से शुक्लपक्षमण्डल में, यहाँ से षड्मासात्मक उत्तरायणमण्डल में, यहाँ से सम्वत्सरमण्डल में, यहाँ से आदित्यमण्डल में, यहाँ से चन्द्रमण्डल में, यहाँ से विद्युन्मण्डल में पहुँचता है। यही वैद्युतपुरुष अमानव पुरुष है। इसी के आकर्षण से वह प्रेतात्मा विद्युल्लोक में आकर स्वयमपि मृत्युधर्म्मों से एकान्ततः विमुक्त होता हुआ 'अमानवपुरुष रूप में परिणत हो जाता है। यही देवमय है, यही ब्रह्मपथ है। इस मार्ग द्वारा (अमानवविभूतिप्रवर्त्तक) विल्द्युलोक में आने वाले प्रेतात्माओं को पुनः मानव शरीर में जन्म नहीं लेना पड़ता।" इस गतिभाव का समर्थन करने वाले निम्नलिखित वचनों भी लक्ष्य बनाइए—

"अथ यदु चैवास्मिन्–शव्यं कुर्वन्ति, यदि च न–आर्चिषमेवाभिसम्भवति। अर्चिषोऽहः, अह्न आपूर्यमाणपक्षं, आपूर्यमाणपक्षात्-यान् षडुदङ्ङेति मासान्,

तान् मासेभ्यः सम्वत्सरं, सम्वत्सरादादित्यं, आदित्याच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसो विद्युतम् तत् पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्मगमयति । एष देवपथो ब्रह्मपथः । एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवावर्त्तं नाऽऽवर्त्तन्ते, नाऽऽवर्त्तन्ते ।" (छां०उ० ४।१५।५) ।

उक्त छान्दोक्त श्रुति जहाँ देवयानमार्ग द्वारा प्रेतात्मा की नियतोपक्रमगति का विश्लेषण कर रही है, वहाँ अन्य श्रुति अनियतगति भाव का समर्थन करती हुई हमें व्यामोह में डाल रही है । शरीरनिधनानन्तर पुरुष का वाग्भाग अग्नि में, प्राणभाग वायु में, चक्षुर्भाग आदित्य में, मनोभाग चन्दमा में, श्रोत्रभाग दिशाओं (दिक्सोम) में, शरीर पृथिवी में, आत्मा आकाश में, लोम औषधियों में, केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं । रक्तभाग, तथा रेतोभाग पानी में लीन हो जाता है । इस प्रकार जब अध्यात्म संस्था के सारे अवयव स्व-स्व प्रभवों में लीन हो जाते हैं, तो प्रश्न होता है—पुरुष (आत्मा) की इस अवस्था में कहाँ स्थिति रहती है । विभु आकाश तो सब का आयतन है । फलतः 'आकाशमात्म' से प्रश्न का समाधान करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि, इन्द्रियवर्ग, भूतवर्गादि के स्व-स्व प्रभवों में विलीन हो जाने के अनन्तर आकाशायतन में प्रतिष्ठित आत्मा स्वसञ्चित सांस्कारिक कर्म्मों में ही प्रतिष्ठित रहता है । पुण्यकर्म्मानुसार इसे पुण्यलोकों में पुण्यफल भोगने के लिए जाना पड़ता है, एवं पापकर्म्मानुसार पापलोकों का अनुगमन करना पड़ता है ।

सुरापान, ब्रह्महत्या, गोवध, आत्महत्या आदि महापाप कर्म्मातिशयों से इसे असुर्यपापलोकों में जाना पड़ता है । तामिस्र, अन्ध तामिस्रादि ही पापलोक हैं । निम्नलिखित श्रुति द्वारा इसी पापलोक का स्पष्टीकरण हुआ है—

"असूर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।" (ई० ३)

यज्ञ, अध्ययन, दान यह त्रिपर्वा प्रथम धर्म्मस्कन्ध है । तप दूसरा धर्म्मस्कन्ध है, एवं यावज्जीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनकर आचार्य कुल में आत्मसमर्पण कर देना तीसरा धर्म्मस्कन्ध है, इन तीनों से पुण्यातिशय उत्पन्न होता है । इसके अतिरिक्त गोदान, प्रजातन्तु वितान आदि भी पुण्यकर्म्म माने गए हैं । इनसे प्राप्त लोक ही पुण्यलोक हैं । जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ।।१।। (कठ० १।३)

पुत्रेणलोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यथमश्नुते ।
अत्र पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ।।२।।

इस प्रकार शुभाशुभ कर्म्मातिशयों के अनुसार अनियतगति का विश्लेषण करने वाले उक्तार्थगर्भित निम्नलिखित वचन पर भी दृष्टि डालिए। आपको स्वीकार करना पडेगा कि, परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों का उद्‌घाटन करने वाले ये सिद्धान्त निश्चयेन आत्मगतिविषयक प्रश्न को विचिकित्स्य बना रहे हैं।

"यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणः, चक्षुरादित्यं, मनश्चन्द्रं, दिशः श्रोत्रं, पृथिवीं शरीरं, आकाशात्मा, औषधिर्लोमानि, वनस्पतीन, केशाः। अप्सु लोहितञ्चरेतश्च निधीयते। क्वायं तदा पुरुषो भवति–इति। कर्म्म हैव तदूचतुः। पुण्यो वै पुण्येन कर्म्मणा भवति पापः पापेन, इति।"

(बृ०आ० ३।२।१३)।

(१२) केवल एक विप्रतिपत्ति और। आत्मा शरीर से भिन्न पदार्थ है, वह शरीरनिधनान्तर शरीर छोड़ देता है, इन दो सिद्धान्तों के अतिरिक्त आत्मगति से सम्बन्ध रखने वाला जो तीसरा सिद्धान्त है, वह तो एक नवीन दृष्टिकोण के अनुसार सर्वथा ही विप्रतिपन्न बन जाता है। सिद्धान्त यह है कि जीवात्मा सूक्ष्मभाव से लोकान्तर में गमन करता है। इस तृतीय सिद्धान्त का विरोध इसलिए सम्भव है कि, उसी सनातन शास्त्र ने एक स्थान पर यह भी व्यवस्था की है कि, जीवात्मा जिस समय अपने पूर्व शरीर को छोड़ता है, तदव्यवहितोत्तर काल में ही 'तृणजलौका' की भाँति नवीन शरीर धारण कर लेता है। "जिस प्रकार (वर्षाॠतु में विशेषतः उत्पन्न होने वाला) तृणजलौका एक तृणगति को समाप्त कर उसके अन्तिम छोर को पकड़े हुए ही अन्य तृण को गति का आलम्बन बनाने के पश्चात् पूर्वतृण का परित्याग करता है, एवमेव यह आत्मा भी भोगायतन लक्षण पूर्व शरीर की अन्तिम सीमा (मृत्युक्षण) पर पहुँच कर इसे पकड़े हुए ही अन्य शरीर को ग्रहण कर तदन्तर ही पूर्व शरीर का परित्याग करता है।" इस अर्थ का प्रतिपादन करने वाली श्रुति अवश्यमेव आत्मगति विषयक सिद्धान्त पर प्रत्यक्षरूप से आघात कर रही है—

"तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति, एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्याऽऽत्मानमुपसंहरति। तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते, एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते–पित्र्यं वा, गान्धर्वं वा, दैवं वा, प्राजापत्यवां, ब्राह्मं वा, अन्येषां वा भूतानाम्।" (बृ०आ० ४।४।४)।

उक्त श्रुति के समन्वय के लिए क्या प्रयास किया जाय। क्या यह माना जाय कि, जिस प्रकार योगनिर्धूत किल्विषयोगी क्षणमात्र में कायाकल्प द्वारा कर्म्मभोग समाप्त कर डालता है, एवमेव मनोवेग से क्षणमात्र में नवीन शरीर धारण तथा पूर्व शरीरत्याग के मध्यक्षण में आदित्यादि लोकगतियों का अनुगमन

कर डालता है ? अथवा क्या यह मान लिया जाय कि, उक्त श्रुति का तात्पर्य यही है कि, आदित्यादि लोकगतियों के अनुसार ही अन्य शरीर का अनुगमन होता है ? अथवा तो ऋजुभावात्मक इसी अर्थ पर क्या विश्राम मान लिया जाय कि, तत्काल ही आत्मा नवीन शरीर धारण कर लेता है ? यदि ऐसा है, तो आत्मगति ही क्या, वह श्राद्धकर्म्म भी सर्वथा अनुपपन्न हो जायगा, जिसके लिए हमें महानिबन्ध प्रस्तुत करना पड़ा है । इसी आत्मगतिविषयिणी प्रश्नपरम्परा से हमें अन्ततोगत्वा अपनी ये जिज्ञासाएं प्रकट करने के लिए विवश होना पड़ता है कि, आध्यात्मिक संस्था में किसे आत्मा कहना चाहिए ? किस आत्मा की गति होती है ? एवं उस आत्मगति का 'इत्थंभूत' क्या स्वरूप है ?

—**—

आत्मगतिमूलकात्मस्वरूप परिचय

आत्मा के यथार्थ स्वरूप को न जानने के कारण ही हमारे सामने उक्त आत्मगति विषयिणी प्रश्न परम्परा उपस्थित होती है । आत्मस्वरूप की दार्शनिक मीमांसा करने मात्र से इस प्रश्न परम्परा का समाधान जहाँ सर्वथा असम्भव है, वहाँ आत्मस्वरूप की वैज्ञानिक व्याख्या से सम्बन्ध रखने वाले स्व-स्व तन्त्र में सर्वथा विभक्त अव्यक्तात्मा, यज्ञात्मा, महानात्मा, प्रज्ञानात्मा, प्राणात्मा, शरीरात्मा आदि तन्त्रयी निश्रयेन प्रश्न परम्परा-समाधि के लिए पर्य्याप्त हैं । आत्मस्वरूप के इस वैज्ञानिक–विभक्ततन्त्रानुगत–स्वरूप के लुप्त प्राय हो जाने से ही उक्त प्रश्न परम्परा ने एक भयावह काण्ड उपस्थित कर रक्खा है । इन सभी आत्मतन्त्रों का निबन्ध के **'आत्मविज्ञानोपनिषत्'** नामक प्रथम खण्ड में विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन किया जा चुका है । उस विवेचन के सम्यगवलोकन–समन्वय के अनन्तर उक्त १२ ही प्रश्न सुसमाहित हो जाते हैं । प्रकृतपरिच्छेद में हमें केवल उस आत्मा के स्वरूप में कुछ मीमांसा करनी है, जिसका 'साम्परायिक' गति नामक आत्मगति, किंवा परलोकगति से सम्बन्ध है । यद्यपि आत्मविज्ञानोपनिषदन्तर्गत 'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्' नामक अवान्तर प्रकरण में आत्मगतिमूलभूत प्राणात्मा का स्वरूप बतलाया जा चुका है । तथापि एक सर्वथा अपूर्वदृष्टिकोण से सम्बन्ध रखने वाला, प्रकृतपरिच्छेद में मीमांस्य आत्मस्वरूप–परिचय अपना एक विशेष महत्त्व रखता है ।

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदन्तर्गत **'आशौचविज्ञानोपनिषत्'** नामक अवान्तर प्रकरण में वीर्जा-कूटस्थ पुरुष में भुक्त क्रमशः "२१–१५–१०–६–३–१" इन कलाओं से युक्त सात कोश (पितृपिण्डकोश) बतलाते हुए यह स्पष्ट किया था कि, इनमें आरम्भ के ६ कोशों की क्रमशः '२१–१५–१०–६–३- १' इन ५६ कलाओं को ऋण लेकर कूटस्थ पुरुष के शरीर का निर्म्माण होता है एवं इस षट्पञ्चाशत्कल पितृपिण्ड-कोश के ऋण से उत्पन्न पुत्रशरीर पिता के षट्कोश के प्रवर्ग्यभाग से निष्पन्न होता हुआ षाट्कौशिक है । प्रत्येक व्यक्ति का शरीर इस अपत्यदृष्टि से षाट्कौशिक है— (देखिए आ० वि० उ० पृ० सं० २८४) । प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तित्वलक्षण अभिव्यक्ति **'आत्मा–शरीर'** भेद से दो-दो भागों में विभक्त हैं । साथ ही

दोनों भाग परस्पर नित्य सापेक्ष है। 'यत्रात्मा, तत्र शरीरम्, यत्र वा शरीरं तत्रात्मा' न्याय से दोनों अविनाभूत हैं। आत्मोत्क्रान्ति के अनन्तर शेष बचा हुआ शवशरीर 'श्रियमात्मानमश्रयत' इस निर्वचन से युक्त शरीरमर्य्यादा से वञ्चित है, अतएव उक्त व्याप्ति में कोई दोष नहीं आता। 'श्रियमश्रयत' लक्षण शरीर आत्म सम्बन्ध से ही शरीर कहलाया है। एवमेव उत्क्रान्त आत्मा भी सूक्ष्म-कारण, शरीरों से ही युक्त रहना है। आत्म सम्बन्ध विच्छेद से जैसे बलसंघातरूप शरीर अव्यक्तबलगर्भ में विलीन होता हुआ 'शरीर' अभिधा को छोड़ कर केवल अव्यक्त बलसंज्ञा में परिणत हो जाता है, एवमेव शरीरत्रयी के आत्यन्तिक उच्छेद से आत्मा भी विशुद्धरसरूप में परिणत होता हुआ नित्यशुद्धबुद्ध–मुक्त परात्पर पुरुष में लीन होता हुआ 'आत्मा' अभिधा को छोड़ कर केवल अव्यक्त 'रस' संज्ञा में परिणत हो जाता है। वस्तुतस्तु और भी सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर तो हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, 'आत्मा-शरीर' दोनों की स्वरूप सत्ता, एवं तदनुगत सापेक्षभाव सत्कार्य्यवादसिद्धान्त के अनुसार एकान्ततः शाश्वत है। रसावस्था में परिणत आत्मा का शरीर बलावस्था में परिणत शरीर है। रस बलसापेक्ष है, तो बल रसापेक्ष है। ऐसा अवसर कभी नहीं आता, जब कि रस, बल का सर्वथा पार्थक्य हो जाय। रसप्रधान शरीर सापेक्ष अमृत–अनिरुक्त–अमूर्त्त आत्मा, तथा बलप्रधान आत्मसापेक्ष–मर्त्य–निरुक्त–मूर्त्त शरीर, दोनों की समष्टि ही **'शरीरी'–'देही' 'प्रजापति' 'आत्मन्वी'** इत्यादि नामों से व्यवहृत हुई है। जिस प्रकार पूर्व कथनानुसार इस शरीरी का शरीर पितृपिण्डप्रवर्ग्यभोग सम्बन्ध से षाट्कौशिक है, एवमेव आत्म–शरीरसमष्टिलक्षण स्वयं यह 'शरीरी' भी 'षाट्कौशिक' ही माना गया है। दूसरे शब्दों में शरीर-आत्म-समष्टि लक्षण अध्यात्मसंस्था भी शरीरवत् षाट्कौशिकी बन रही है। अध्यात्म के (शरीरी के) इन ६ कोशों का संक्षेप से दिग्दर्शन करना ही आत्मस्वरूप का परिचय कराना है, एवं यही प्रकृत परिच्छेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

शरीरी में, जिसे हमने 'पुरुष' भी कहा है, सामान्यतः यद्यपि आत्मा, शरीर ये दो भाव ही प्रतीत होते हैं। परन्तु सूक्ष्म द्रष्टा वैज्ञानिकों ने इस पुरुष संस्था में **"१-अन्न, २–प्राण, ३–मन, ४–विज्ञान, ५–आनन्द, ६–सत्य"** इन ६ भावों के दर्शन किए हैं एवं इन्हीं ६ भावों के आधार पर उन्होंने पुरुष-संस्थाओं को भी शरीरवत् षाट्कौशिक घोषित किया है।

उक्त छओं आध्यात्मिक कोशों के हम '५–१' इस क्रम से अदृश्य–दृश्य की अपेक्षा से दो विभाग करेंगे। सत्य, आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण ये पाँच कोश अदृश्य हैं, चर्म्मचक्षुओं से इनका प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है। अतएव इस पञ्चकोशसमष्टि को **'अन्तःसंस्था'** कहा जायगा। अन्न नामक प्रथम कोश दृश्य है। अतएव इसे 'बहिःसंस्था' कहा जायगा। इन दोनों संस्थाओं में युक्त ६ कोशों के एक दूसरे दृष्टिकोण से १–४–१' इस क्रम से तीन विभाग किए जायेंगे। ६ठा सत्यकोश मुख्य विभाग है, यही **'आत्मा'** है। ५–४–३–२ संख्या वाले आनन्द–विज्ञान–मन–प्राण, इन चार कोशो की समष्टि **'अन्तःशरीर'** है। एवं १ अन्नकोश **'बहिःशरीर'**। इसी दृष्टि से सत्यकोश आत्मा है, शेष पञ्चकोशसमष्टि 'शरीर' है, दोनों की समष्टि 'शरीरी' है, यही अध्यात्म संस्था है, जिसका आधिदैवत पुरुष के साथ समतुलन हो रहा है—

(६)	१—सत्यम्	इन्द्रियातीता—अन्तःसंस्था ५	(६) १—सत्यम्	आत्मा १	(६) १—सत्यम्	आत्मा १	आत्मन्वी—शरीरी
(५)	२—आनन्दः		(५) १—आनन्दः	अन्तःशरीरम् ४	(५) १—आनन्दः	शरीरम् ५	
(४)	३—विज्ञानम्		(४) २—विज्ञानम्		(४) २—विज्ञानम्		
(३)	४—मनः		(३) ३—मनः		(३) ३—मनः		
(२)	५—प्राणः		(२) ४—प्राणः		(२) ४—प्राणः		
(१)	१—अन्नम्	बहिःसंस्था	(१) १—अन्नम्	बहिःशरीरम् १	(१) ५—अन्नम्		
१			२		३		

१. अन्नमयकोशः (अन्नम्)—

सत्य—ज्ञान—अनन्तलक्षण, गुहानिहित, परमाकाशप्रतिष्ठित, सच्चिदानन्दघन, सर्वधर्म्मोपपन्न आधिदैविक सत्यब्रह्म जहाँ अपने मनः प्राण-वाग्गर्भित आनन्दविज्ञानमनोमय मुक्तिसाक्षी विद्या भाग से मुमुक्षा द्वारा सृष्टि-ग्रन्थि विमोक का कारण बनता है, वहाँ यही सत्यब्रह्म आनन्द—विज्ञान—मनोगर्भित मनः प्राण वाङ्मय सृष्टिसाक्षी भाग से सिसृक्षाका द्वारा सृष्टि—ग्रन्थि—बन्धन का कारण बनता है। सृष्टिसाक्षी आनन्द विज्ञानघन मनोमय प्राणगर्भित वाक् तत्त्व ही सृष्टि (भूतसृष्टि) का मूलप्रभव बनता है। आनन्दविज्ञानघन मन से कामना (सिसृक्षा) का उदय होता है, जिसका—'**एकोऽहं बहुस्याम्' 'प्रजायेय**' इन शब्दों में अभिनय किया जाता है। प्राणभाग से तपोलक्षण अन्तर्व्यापार का उदय होता है एवं वाक्भाग से श्रमलक्षण बहिर्व्यापार का उदय होता है। काम-तपः-श्रम, सृष्टिकर्म्म सहयोगी इन सामान्य सृष्टयनुबन्धनों से सर्वप्रथम 'आकाश' नामक महाभूत का व्यक्तीभाव होता है। व्यक्तीभाव इसलिए कहना उचित है कि 'मनः-प्राण-वाक्' समष्टिरूप सृष्टिसाक्षी सत्यब्रह्म की मनःकला पर प्रतिष्ठित प्राणकला यत्-लक्षण गति है, वाक्कला जूलक्षण स्थिति है। जूरूपा स्थिति आकाश है, यद्रूपा गति वायु (सुसूक्ष्मसूत्र वायु) है। दोनों की समष्टि 'यज्जू' लक्षण 'यजुर्वेद' है। मनोमर्या सत्यब्रह्म कला पर प्रतिष्ठित यजुर्वेद प्राण—वाक् की समष्टिमात्र है। इनमें अविकुर्वाण प्राण तो नित्य मनः कला में ही अन्तर्भूत है एवं विकुर्वाणा वाक्कला (आकाश) भूतमर्य्यादा में समाविष्ट है। वही व्यक्तरूप में आकर अपने वाग्भाग से 'आकाश' रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार '**तस्माद्वा एतस्मादात्मनः**' के 'आत्मनः' से '**मनोगर्भितप्राणेन**' यह तात्पर्य्य निकलता है एवं '**आकाशः सम्भूतः**' वाक्य से '**वाचो व्यक्तिभावः**' यह तात्पर्य्य निकलता है। इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि 'मनःप्राणवाङ्मय' सत्यब्रह्म का मनःप्राण भाग आत्मसृष्टि की प्रतिष्ठा

है एवं विकुर्वाण वाग्भाग शरीरसृष्टि की प्रतिष्ठा है। वाङ्मय, किंवा वाग्रूप आकाश नामक प्रथमभूत ही बलग्रन्थि तारतम्य से अविकृत–परिणामवाद दृष्टया उत्तरोत्तर चार भूतों का जनक बनता हुआ पाञ्च-भौतिक विश्वस्वरूप में परिणत हो रहा है, जैसा कि—**'वाचीमाविश्वा भुवनान्यर्पिता'**–**'अथो वागेवेदंसर्वं'**–**'वाग्विवृताश्च वेदाः'** इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है।

इसी सम्बन्ध में एक बात का स्पष्टीकरण और कर लेना चाहिए। सत्यब्रह्म का वास्तविक स्वरूप **अशेषबलगर्भितरसात्मक ही माना गया है,** जिसे कि विज्ञान भाषा में **'परात्पर'** नाम से व्यवहृत किया गया है। यही परात्परब्रह्म आगे जाकर मायाबलोदय से आनन्द–विज्ञान–मन–प्राण–वाक्रूप में परिणत हो जाता है। आनन्दादि पाँचों चितियाँ उस रसमूर्ति ब्रह्म पर बलचितियाँ हैं। इन पाँच बल चितियों से वही पाँच विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। जिस प्रकार अवारपारीण एक सूत्र के आधार पर पाँच मुक्ता प्रतिष्ठित रहते हैं, पाँचों भिन्नों में वह सूत्र भिन्नवत् प्रतिष्ठित रहता हुआ अभिन्न है, एवमेव अवार-पारीण एक अखण्ड परात्पर के आधार पर प्रतिष्ठित आनन्दादि पाँचों चितियों में भिन्नवत् प्रतिष्ठित रहता हुआ वह अभिन्न है, एकात्मा है। इसी आधार पर **'एतेदात्म्यमिदं सर्वम्'**–**'सर्वंखल्विदं ब्रह्म'** इत्यादि सिद्धान्त प्रतिष्ठित हैं। उस एक का नाम आत्मसत्य है। यही आनन्दादि बलसत्यों का आधारभूत **'सत्यस्यसत्यम्'** है। **इस सत्यस्यसत्यं** अवारपारीण अभिन्न आत्मा पर सर्वप्रथम आनन्दचिति है, अनन्तर क्रमशः विज्ञान–मन–प्राण–वाक् ये चार चितियाँ प्रतिष्ठित हैं। **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत्'** न्याय से सत्य आनन्द में, सत्य–आनन्द विज्ञान में, सत्यानन्दविज्ञान मन में, सत्यानन्दविज्ञानमन प्राण में, सत्यानन्द-विज्ञानमनःप्राण वाक् में अन्तर्भूत हैं। यही क्रम वाक् (आकाश) भूत से उत्पन्न वाय्वादि शेष भूतसर्गों में समझना चाहिए। इसी सृष्ट-प्रविष्ट मर्य्यादा से सर्वत्र सब अवस्थाओं में उसकी उपलब्धि सम्भव है, जैसा कि—**'भूतेषु भूतेषुविचित्यधीराः प्रेत्यास्मालोकादमृता भवन्ति'** से स्पष्ट है। इस स्थिति को लक्ष्य में रख कर ही क्रमप्राप्त 'अन्नमय' कोश का विचार कीजिए।

आत्मा (मनोगर्भितप्राण) से आकाश (वाक्) उत्पन्न (व्यक्त) हुआ। आकाश से बलग्रन्थि द्वारा वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी (मिट्टी) उत्पन्न हुई। आकाश–वायु–अग्नि–जल सहयोग से पार्थिव भाग से गोधूम–यव–तन्दुलादि औषधियाँ उत्पन्न हुई। औषधियों के वितुषीकरण–पेषण–परिपाकादि से भोग्य योग्य अन्न का स्वरूप निष्पन्न हुआ। इस अन्न में उसी सृष्टप्रविष्ट न्याय से पूर्व के सब पर्व गर्भीभूत हैं। तभी तो अन्न को 'ब्रह्म' कहना अन्वर्थ बनता है। इस अन्न की पुरुषाग्नि में आहुति हुई। पुरुषाग्नि में हुत अन्न षड्धात्वनन्तर रेतोरूप में परिणत हुआ। इस रेत की योषिदग्नि में आहुति हुई। योषिदग्नि पुरुषरेत, दोनों के समन्वय से गर्भाधान हुआ। चान्द्रसम्वत्सर में गर्भपुष्टि हुई। दश-मासान्तर वही सिक्तरेत पुरुष (अपत्य) रूप में परिणत होकर भूमिष्ठ हुआ, जिसे हम प्रत्यक्ष दृष्टि से **'अन्नरसमय'** कह सकते हैं। पञ्चकोशगर्भित यही पुरुष (शरीर) पहला अन्नरसमयकोश है। इसी सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट कर लेना चाहिए कि, यद्यपि सभी पार्थिव जड़–चेतन पदार्थ बाह्यस्तरापेक्षा अन्नरसमय बनते हुए 'पुरुष' कहे जा सकते हैं, परन्तु किसी विशेष कारण से 'पुरुष' शब्द केवल मानवर्ग में ही आगे जाकर रूढ हो गया है। यह विशेष कारण है—पूर्ण आधिदैविक ब्रह्म की पूर्ण मात्राओं का मानवसर्ग

में समन्वय। इतर सर्गों में जहाँ मात्राल्पता के साथ-साथ मात्रा ह्रास है, वहाँ मानव सर्ग में केवल मात्राल्पता ही है। इस अल्पता के अतिरिक्त आधिदैविक पूर्णेश्वर विराट् प्रजापति की सम्पूर्ण मात्राओं का मानव सर्ग में समावेश है। इसी आधार पर इसे इतर सर्गापेक्षया प्रजापति से नेदिष्ठ (सम सम्बन्धी, समतुलित) माना गया है, जैसा कि—**'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'** (शत० ४।३।४।३) इत्यादि ब्राह्मण श्रुति से प्रमाणित है। इसी पूर्णता के आधार पर 'पुरुष' शब्द मानवर्ग में ही रूढ हो गया है।

रेतःसेक द्वारा उत्पन्न पूर्णमूर्त्ति अन्नरसमय यही पुरुष शारीरचिति–वैशिष्ट्य से आगे जाकर **'सप्तपुरुषपुरुषात्मकपुरुष'** कहलाया है। शिर, आत्मा, पक्ष, पुच्छ इन चार संस्थाओं के भेद से यह चित्य-पुरुष सप्तचिति-रूप में परिणत हो रहा है, जिसका शतपथभाष्य के चयनविज्ञान-प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। सर्वाङ्ग शरीर में से मस्तक को छोड़कर शेष भाग का विचार कीजिए। इस शेष भाग को समान रूप से समतुलित सात भागों में विभक्त कर दीजिए। वाम-हस्तपादलक्षण उत्तरपक्ष में सप्तभागात्मक अन्नरस का एक भाग भुक्त है। एवमेव दक्षिणहस्तपादलक्षण दक्षिणपक्ष में एक भाग भुक्त है। मूलग्रन्थि से आरम्भ कर कण्ठप्रदेश पर्य्यन्त व्याप्त मध्याङ्ग (धड-कबन्ध) में चार भाग भुक्त हैं। मेरुदण्ड (रीढ की हड्डी) की अन्तिम पश्चिम सीमा में प्रतिष्ठित, शरीरयष्टि को वितत रखने वाली त्रिकास्थि ही पुच्छप्रतिष्ठा है, इसी में एक भाग भुक्त है। वाम-दक्षिण हस्तपाद से गति तथा कर्म्म का उसी प्रकार सञ्चालन होता है, जैसे पक्षी अपने दोनों पक्षों से स्वकर्म्म तथा गति में समर्थ होता है। इसी सादृश्य से, एक-एक भागात्मक वाम-दक्षिण हस्त-पादों को उत्तर–दक्षिण पक्ष मान लिया गया है। जिस प्रकार चेतनाधातुलक्षण आत्मसत्ता से शरीरयष्टि विधृत रहती है, एवमेव चतुर्भागात्मक मध्याङ्ग के आधार पर ही शिर–पाद–हस्त आदि इतर अवयव प्रतिष्ठित रहते हैं, मध्याङ्गोपलक्षित उदरभुक्त रस से ही सर्वाङ्ग-शरीर का पोषणरक्षण होता है अतएव भाग चतुष्टयात्मक इस मध्यतनू को **'आत्मा'** कह दिया गया है। यह आत्म शब्द मध्याङ्गलक्षण तनू का ही वाचक है, जिसके लिए—**"आत्मा वै तनूः"** (श० ६।७।२।६) निगम प्रसिद्ध है। जिस प्रकार पक्षी का सर्वाङ्गशरीर उसके पुच्छभाग पर प्रतिष्ठित होकर उर्ध्व वितत रहता है, एवमेव पुरुष का शरीर इसके त्रिकास्थि पर प्रतिष्ठित होकर ऊर्ध्व वितत (तना) रहता है। इसी सादृश्य से इसे **'पुच्छं प्रतिष्ठा'** कह दिया गया है। इन सात पुरुषों का जो सार भाग (श्री भाग, रस भाग) है, वही आठवाँ शिरोभाग है, जिसका परिमाण तो एक भागात्मक है, किन्तु एक ही भाग में सातों पुरुषों की समान श्री प्रतिष्ठित है। इसी सप्त श्री सम्बन्ध से इसे 'शिर' कहा गया है—(देखिए शत० ६।१।१)। इस प्रकार ठीक सुपर्णपक्षी (गरुड) की भाँति इस अन्नरसमय पुरुष का वितान हुआ है। इसी आधार पर यह पुरुष 'सुपर्ण' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस सुपर्ण की परलोकगति का विश्लेषण करने वाला पुराण भी सुपर्णपुराण (गरुडपुराण) नाम से व्यवहृत हुआ है।

सर्वमात्रगर्भित इसी अन्नब्रह्म से उक्त क्रमानुसार उस सम्पूर्ण प्रजा की उत्पत्ति होती है, जो पृथिवी पर (पार्थिव शरीर से) प्रतिष्ठित है। अन्न से उत्पन्न होकर अन्नादान लक्षण भैषज्य यज्ञ से ही यह प्रजा यावदायुर्भोग पर्य्यन्त जीवित है एवं अन्ततः इस अन्नब्रह्म (पञ्चभूत) में इसका लय हो जाता है। यद्यपि पाँचों भूतों में पूर्व–पूर्वभूत, उत्तर–उत्तरभूत की अपेक्षा ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ माना गया है तथापि, पार्थिव

अन्न को इसलिए इन पाँचों भूतों की भी अपेक्षा हम ज्येष्ठ कह सकते हैं कि इसमें पाँचों की मात्रा समाविष्ट है। तभी तो इसे **'सर्वौषध'** कहना अन्वर्थ बनता है। इसी सर्वौषधरूप अन्न से भूत (भूतभौतिक सत्व प्रजा) उत्पन्न होते हैं। इसी से इनकी आयतन वृद्धि होती है। चूंकि प्रजावर्ग द्वारा यह खाया जाता है, अतः **'अद्यते'** इस निर्वचन से भी इसे 'अन्न' कहा जा सकता है। साथ ही यही अन्न चूंकि स्वस्वरूप निर्म्माण के लिए भूतों को भी खाया करता है, साथ ही अन्त समय में भूतरूप से यह प्रजा को भी अपने में लीन कर लेता है, अतएव **'अत्ति'** इस निर्वचन से भी इसे 'अन्न' कहना अन्वर्थ बनता है। यही पाञ्चभौतिक शरीरात्मक, प्रत्यक्षदृष्ट इस पहले अन्नमयकोश का संक्षिप्तरूप प्रदर्शन है। जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायाम्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणाविपश्चिता" इति।

२—"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नं, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव-शिरः, अयं दक्षिणः पक्षः, अयमुत्तरः पक्षः, अयमात्मा, इदं पुच्छं-प्रतिष्ठा।"

३—"अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् अन्नाद्ध्येव खल्विमानि प्रजाः प्रजायन्ते, या काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथोऽन्नेनैव जीवन्ति, अथैनदपि यन्त्यन्ततः॥"

४—"अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठं तस्मात् सर्वौषधमुच्यते।
सर्वं वै ते ऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते॥
अन्नाद् भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्द्धन्ते।
अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते॥" (तै०उ० २।१-२)।

सप्तपुरुषात्मकपुरुषावच्छिन्नस्यान्नमयकोशस्य प्रतिकृतिः

(सप्तपुरुषपुरुषात्मकं–सप्तचितिमयं–मर्त्यं शरीरम्)

—**—
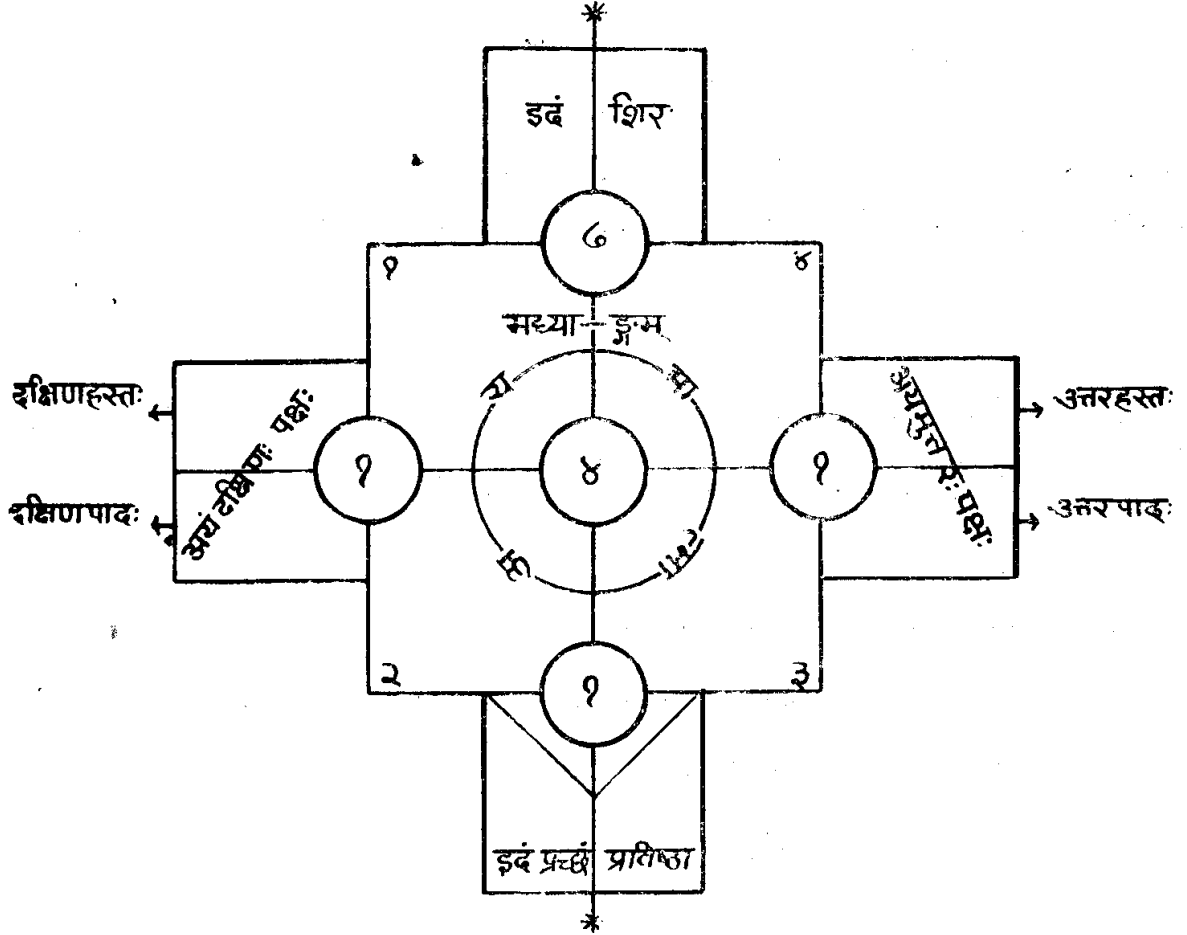
२. प्राणमयकोशः (प्राणः)—

पार्थिव ओषधियों से सम्पन्न अन्न पञ्चभूतात्मक है एवं इसके गर्भ में क्रमशः प्राण–मन–विज्ञान–आनन्दमयकोश प्रतिष्ठित हैं। अन्नमयकोश वाङ्मय है। यह वाक्तत्त्व (वाङ्मय शरीर) विकुर्वाणधर्म्म से क्षण-क्षण परिवर्त्तित होता हुआ क्षरकूटात्मक है। मानना पड़ेगा कि, अवश्य ही इन वाङ्मय क्षरकूटों की समष्टिरूप शरीर को एकसूत्र में बद्ध रखने वाला कोई न कोई सूत्र है। वही सूत्र 'सूत्रवायु' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे प्राणवायु माना गया है (देखिए शत० ८।४।१।८)। क्षरकूट विधरण–सम्बन्ध से ही प्राणतत्त्व 'विधर्त्ता' कहलाया है। वाङ्मय अन्नमयकोश यदि 'उपहित' है, तो तदाधारभूत प्राण 'हित' है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

"तमब्रवीत्-कस्मिंस्त्वोपधास्यामि ? इति । हिते-एवेत्यब्रवीत् । प्राणो वा हितम् । प्राणो हि सर्वेभ्यो भूतेभ्यो हितः । तदाहुः—किं हितं, किमुपहितं ? इति । प्राण एव हितं, वागुपहितम् । प्राणे हीयं वागुपेवहिता, प्राणस्त्वेव हितम् । अङ्गान्युपहितं, प्राणे ही मान्यङ्गान्युपेव हितानि ।" (शत० ६।१।२।१४।१५)।

भूतमयीवाक् का आधार यही देवलक्षण प्राण है । **'देवतानि च भूतानि'** के अनुसार दोनों अभिन्न हैं । यदवच्छेदेन पाञ्चभौतिक वाङ्मय अन्नमयकोश व्याप्त है, तदवच्छेदेनैव (लोम-केश, नखाग्रभागों को छोड़ कर) यह सूक्ष्म प्राणतत्त्व व्याप्त है । चूंकि यह इस भूत शरीर की प्रतिष्ठा है, अतएव इसे शरीर-पेक्षया 'आत्मा' कहा जा सकता है । चूंकि प्रत्यक्षदृष्ट शरीर की अपेक्षा यह स्व-असङ्गधर्म्म से इन्द्रियातीत है, अतएव इसे 'अन्तरात्मा' कहा जा सकता है । इस अन्तरात्मलक्षण प्राणतत्त्व से यह अन्नमयकोश परिपूर्ण है । शरीर के जिस अवयव में यह प्राण मूर्च्छित हो जाता है, वही भाग शवशरीरावयवत् शून्य बन जाता है । प्राणनिर्गमन ही अर्द्धाङ्ग (फालिज) रोग का मूल कारण है । साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह शरीरप्राण इन्द्रिय–मन–बुद्धि आदि के व्यापारों से तथा रोमकूपों से निरन्तर विस्रस्त (खर्च) भी होता रहता है । इस विस्रस्त की क्षतिपूर्ति के लिए प्राणाधान अपेक्षित है । प्राणतत्त्व साक्षात्कर्त्ता महर्षि जहाँ साक्षात् रूप से प्राणाकर्षण द्वारा इस विशिष्ट-प्राण का सन्धान करने में समर्थ हो जाते हैं, वहाँ प्राणस्वरूप से अपरिचित अस्मदादि सामान्य मनुष्यों को इस प्राणक्षतिपूर्त्ति के लिए प्राण से नित्य युक्त अन्न द्वारा (भोजन द्वारा) अहरहर्यज्ञ (अन्नयज्ञ) का आश्रय लेना पड़ता है । **"सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि–अन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति"** (छां० उ० १।११।९) इत्यादि के अनुसार अन्नाहुति ही विस्रस्त प्राण के पुनः सन्धान की मूल प्रतिष्ठा है । अन्नप्राण के इसी घनिष्ठ सम्बन्ध का विश्लेषण करते हुए ऋषि ने मीमांसा की है कि,—"कितने एक अन्न को ही ब्रह्म (शरीरप्रतिष्ठा) कहते हैं । परन्तु यह कथन इसलिए अमान्य है कि, विना प्राण सम्बन्ध के अन्न नीरस हो जाता है । यदि हुत अन्न का प्राण अपनी सीमा में ग्रहण नहीं करता है, तो तत्काल अन्न बाहर निकल जाता है, वान्ति हो जाती है । फलतः केवल अन्न को ही प्रतिष्ठा नहीं माना जा सकता । कितने एक विद्वानों का कथन है कि प्राण ही प्रतिष्ठा है । परन्तु यह कथन भी इसलिए समीचीन नहीं माना जा सकता कि बिना अन्ना-दान के प्राण उसी प्रकार (अपने स्वाभाविक विस्रंसन से) मूर्च्छित हो जाता है, सूख जाता है, जैसे कि बिना जलसेंचन के औषधि–वनस्पतियाँ । अन्न भी ब्रह्म नहीं, प्राण भी ब्रह्म नहीं, फिर किसे प्रतिष्ठा माना जाय ? ऋषि उत्तर देते हैं—अन्तर्य्यामसम्बन्धावच्छिन्न प्राण का अन्न से सम्बन्ध होने पर दोनों के समन्वय से अन्न-प्राणात्मक जो एक अपूर्व भाव निष्पन्न होता है, वही प्रतिष्ठा है—

"अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुः । तन्न तथा । पूयति वा अन्नमृते प्राणात् । प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुः । तन्न तथा । शुष्यति वै प्राणः, ऋतेऽन्नात् । एते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतः ।" (बृ०आ० ५।१२।१)।

वक्तव्य यही है कि अन्नमय के भीतर सूक्ष्म प्राणमयकोश प्रतिष्ठित है। यही शरीर का विधर्त्ता है यही अन्तरात्मा है। 'प्राणमय कोश–अन्नमय कोश के भीतर है' इस वाक्य का भली-भाँति समन्वय कर लेना चाहिए। 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' से श्रुति का क्या अभिप्राय है। जिस प्रकार एक बड़े वसुधानकोश (डब्बे) के भीतर छोटा वसुधानकोश प्रतिष्ठित रहता है, क्या उसी प्रकार अन्नमयकोश (शरीर) के भीतर प्राणमयकोश प्रतिष्ठित है ? नेति–होवाच। अपितु जिस प्रकार जल मिश्रीखण्ड में मधुर रस प्रतिष्ठित हैं, किंवा जल में लवण प्रतिष्ठित है, एवमेव अन्नमय कोश के भीतर प्राणमयकोश प्रतिष्ठित है। अर्थात् मिश्री के बाहर–भीतर सब ओर जैसे मधुर रस व्याप्त है, एवमेव शरीर के बाहर भीतर, सब ओर प्राणतत्त्व व्याप्त है। अन्नमयकोश के अणु-अणु में अन्नमयकोश व्याप्त है। **'अन्तरंमृत्योरमृतंमृत्यावमृतमहितम्'** के अनुसार 'ओतप्रोतभाव' सम्बन्ध कहलाया है। शरीर प्राण में प्रोत है, प्राण शरीर में ओत है। यदि ऐसा सम्बन्ध है, तो **'अन्तरआत्मा'** का क्या अर्थ ? उत्तर स्पष्ट है। यहाँ 'अन्तरः' से केवल सूक्ष्मभाव अभिप्रेत है। पाँचों कोश उत्तर–उत्तरकोशापेक्षया सूक्ष्म हैं। सूक्ष्मत्वेनैव 'बहिरन्तः' व्यवहार व्यवस्थित है। यदि ऐसा न माना जायगा, तो **'तेनैषपूर्णः'** का कोई अर्थ न होगा। श्रुति कहती है—इस प्राणमयकोश से यह अन्नमयकोश, किंवा अन्नमयकोश से प्राणमय कोश पूर्ण है। अर्थात् यदवच्छेदेन अन्नमय कोश व्याप्त है, तदवच्छेदेनैव प्राणमयकोश व्याप्त है। पुरुषविधता-समर्थन भी इसी ओत-प्रोत भाव का समर्थन कर रहा है। अन्नमयकोश सप्तपुरुषपुरुषात्मक बतलाया गया है। चूंकि प्राणमयकोश इस अन्नमयकोश से समतुलित है, अतएव कहा जा सकता है कि, जैसा संस्थाक्रम अन्नमयपुरुष का है, ठीक वैसा ही संस्थाक्रम इस प्राणमयपुरुष का है। प्राणमय कोश का आकार भी पुरुषविध (सप्तपुरुषात्मक अन्नरसमय पुरुषविध-शरीरविध) ही है। इसी अभिप्राय से कहा गया है—**'तस्य पुरुषविधतामनु-अयं पुरुषविधः।'**

बतलाया गया है कि आनन्दमयकोश से आरम्भ कर अन्नमयकोश पर्य्यन्त अवारपारीण वही एक सत्यात्मा (अखण्डात्मा) आधाररूप से व्याप्त है। उसी के सम्बन्ध से अन्नमयकोश पुरुष कहलाया है। एवं जो अन्नमयकोश का आत्मा है, वही इस प्राणमयकोश का आत्मा है। कोश भिन्न-भिन्न हैं, कोशाधारभूत अखण्डसत्यात्मा सब में अभिन्न है। उसी आत्मसत्य सम्बन्ध से प्राणमयादिकोश भी **'अन्तरआत्मा प्राणमयः'** इत्यादि रूप से 'आत्मा' नाम से व्यवहृत हो रहे हैं। प्राणमयकोश में 'आत्म–शरीर' दो विभाग हैं। यही विभाग द्वयी पाँचों कोशों में व्यवस्थित है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। इन दोनों विभागों में अन्न (शरीर) प्राण–मन–विज्ञान–आनन्द, ये पाँचों बलचितियाँ शरीरपर्व हैं, साथ ही बलग्रन्थि भेद से पाँचों परस्पर भिन्न हैं। एवं पाँचों में आधाररूप से प्रतिष्ठित रसैकघन अखण्ड सत्यतत्त्व ही आत्मा है। इन पाँच शरीरों के सम्बन्ध से ही यह 'शरीर आत्मा' कहलाया है। जहाँ पाँचों शरीर (अन्नादि पाँचों कोश) परस्पर भिन्न हैं, वहाँ यह शरीर आत्मा (अखण्ड सत्यात्मा) पाँचो में अभिन्न है। उसी सत्यात्मतत्त्व को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है—**'तस्य–प्राणमयकोशस्य–एष–एव सत्यात्मैव–शरीर आत्मा यः पूर्वस्य–मनोमयकोशस्य।'** अन्नमयकोश के सम्बन्ध में **'तस्यैष एव शरीरात्मा, यः पूर्वस्य'** यह नहीं कहा गया है। कारण यही है कि पाञ्चभौतिक अन्नमयकोश (शरीर) में तमोगुणप्रधान प्रधानभूतावरण से आत्मज्योति सर्वथा अभिभूत है। अतएव शरीर मर्त्य कहलाया है। अन्नरसमय शरीरातिरिक्त शेष चारों में चूंकि आत्मा का उत्तरोत्तर विकास है, अतएव इन चार कोशों के सम्बन्ध में ही आत्म व्यवहार हुआ है।

प्राणमयकोश की पुरुषविधता अन्नमयकोश की पुरुषविधता से समतुलित बतलाई गई है। वस्तुतस्तु अन्नमयकोश की पुरुषविधता प्राणमयकोश की पुरुषविधता से समतुलित है। केवल समझाने के लिए श्रुति ने स्थूलारुन्धती न्याय से विपरीत क्रम का आश्रय लिया है। प्राणतत्त्व ही 'असत्' नाम से व्यवहृत हुआ है। यही ऋषि-पदार्थ है। यह ऋषिपदार्थ एकर्षि, द्वयर्षि, त्र्यर्षि, सप्तर्षि भेद से अनेक जातियों में विभक्त हैं। इनमें पुरुष सृष्टि की प्रतिष्ठा सप्तर्षिप्राण ही माना गया है। यही सप्तर्षिप्राण 'साकञ्जप्राण' नाम से भी प्रसिद्ध है। इस साकञ्जप्राण की परस्पर चिति से यह साकञ्जप्राण **"चत्वार आत्मा, द्वौ पक्षौ, पुच्छं प्रतिष्ठा"** इस रूप से सप्तसंस्थास्वरूप में परिणत हो जाता है। यह एक प्रकार का सांचा है। इस सांचे का जैसा स्वरूप संस्थान है, सांचे में ढले हुए भूतमात्राप्रधान शरीर का, किंवा अन्नरसमय-पुरुष का, किंवा अन्नमयकोश का भी वैसा ही स्वरूप होता है और इसी दृष्टि से यह कहा जा सकता कि प्राणमयपुरुष की पुरुषविधता से अन्नमयकोश की पुरुषविधता समतुलित है। सांचे का (प्राणमयकोश का) जितना आकार, जैसा अतएव संस्थान पहले से नियत रहता है, उसमें ढले हुए अन्नमयकोश (शरीर) का उतना ही आकार, वैसा ही अवयव संस्थान व्यवस्थित रहता है। ये प्राणात्मक सांचे समान नहीं हैं, अपितु विषय हैं। अतएव शरीराकार भी सब के परस्पर विषम हैं। इस विषमता की मूल प्रतिष्ठा शुक्रस्थ महानात्मपिण्ड है, जिसे हमने आशौचविज्ञान प्रकरण में 'बीजपिण्ड' नाम से व्यवहृत किया है। पितृप्राण-मय महानात्मा ही बीजपिण्ड है, जो शुक्राहुति द्वारा साप्तपौरुष साविण्ड्य-वितान का कारण बनता है। इसीलिए इसे योनि कहा जाता है। योनिर्लक्षण इस शुक्रावच्छिन्न महात्मा के सत्व, रज, तम, आकृति, प्रकृति, अहंकृति ये ६ भाव हैं, जिनका आत्मविज्ञानोपनिषदन्तर्गत महानात्मविज्ञानोपनिषत् नामक अवान्तर प्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। चतुरशीतिकल पितृपिण्ड भेद से आकृत्यधिष्ठाता महान् आरम्भ में चतुरशीति-विध (८४ प्रकार का) बनता हुआ आगे जाकर अपने व्यूहनधर्म्म से चतुर-शीति-लक्ष संख्या में परिणत हो रहा है। ये ही प्रजासर्ग के नियत सांचे हैं। पितृप्राणात्मक आकृतिलक्षण इन महद्योनियों के भेद से ही शरीराकृतियों में भेद व्यवस्था हुई है। महान शुक्रावच्छिन्न है, शुक्र अन्नरस-मय है, यही अन्नमयकोश (शरीर) है। इसी दृष्टि से (शुक्रावच्छिन्न महत् दृष्टि से) प्राणमयकोश की पुरुषविधता अन्नमयकोश की पुरुषविधता से समतुलित मान ली गई है। प्राणात्मक सांचा महदवच्छिन्न है, महान् शुक्रमय है, शुक्र ही रूपान्तरित होकर अन्नमयकोश है। विशुद्धप्राण दृष्ट्या (साकञ्जप्राणदृष्ट्या 'तस्य०' इत्यादि का–**'प्राणमयकोशस्य पुरुषविधतामनु–अन्नमय कोशः पुरुषः'** जहाँ यह समन्वय मान्य है, वहाँ शुक्रात्मक पितृप्राणमूर्त्ति महत्–बीज की दृष्टिसे—**'अन्नमयस्यपुरुषविधतामनु प्राणमयः पुरुषविधः'** यह समन्वय भी यथार्थ है।

सर्वाङ्गशरीर में शरीर प्रतिष्ठारूप प्रतिष्ठित, शरीराकृति से समतुलित इस प्राणमयकोश के आगे जाकर त्रैलोक्यरसात्मक आधिदैविक प्राण समावेश से तीन किंवा पाँच विवर्त्त हो जाते हैं। आगत पार्थिव प्राण बस्तिगुहा में प्रतिष्ठित होता है, आगत आन्तरिक्ष्यप्राण उदरगुहा में प्रतिष्ठित होता है एवं आगत दिव्यप्राण उरोगुहा में प्रतिष्ठित होता है। अर्वाग्-बिल, ऊर्ध्वबुध्न शिरोगुहा में प्रथम प्रथम विकसित होने वाला पूर्वोक्त सप्तर्षिप्राण लक्षण साकञ्जप्राण (प्राणमयकोश) आगे जाकर उर–उदर–बस्तिगुहात्रयी

में प्रतिष्ठित दिव्य–आन्तरिक्ष्य–पार्थिव–प्राणत्रयी में युक्त होकर स्वयमपि चार संस्थाओं में विभक्त हो जाता है, जैसा कि—**'गुहाशया निहिताः सप्त सप्त'** इत्यादि वचन से स्पष्ट है। पार्थिवप्राण आगच्छत्-दशा में समान है, निर्गच्छत्दशा में यही अपान कहलाने लगता है। दिव्यसौर प्राण आगच्छत् दशा में प्राण है, निर्गच्छत्दशा में यही उदान कहलाने लगता है। इस प्रकार आगमन निर्गमन भेद से आद्यन्त के प्राणों की दो-दो अवस्था हो जाती है। मध्यस्थ आन्तरिक्ष्य प्राण वायव्य है, पार्थिव प्राणद्वयी आग्नेयी है, सौरप्राणद्वयी ऐन्द्री है। मध्यस्थ वायव्य प्राण ही दोनों युग्मों का स्वरूपरक्षक है। यही 'व्यान' नाम का मध्यस्थ वामन प्राण है—**'मध्येवामनमासीनं सर्वे देवा उपासते।'** प्राणोदान 'प्राण' है, यही दिव्य-प्राण **'द्यौ मूर्द्धा'** न्याय से इस प्राणमय पुरुष का 'शिर' है। अपने आधार पर प्राणपान के संघर्ष द्वारा वैश्वानराग्नि लक्षण जाठराग्नि की स्वरूप रक्षा करने वाला मध्यस्थ व्यान ही दक्षिणस्थ वैश्वानराग्नि सम्बन्ध से इस प्राणमय पुरुष का दक्षिणपक्ष (आग्नेय पक्ष) है। अपान–समान–'अपान' है, यही पार्थिव प्राण अपने आधारभूत जलतत्त्व के सम्बन्ध से उत्तरपक्ष (सौम्यपक्ष) है। शरीराकाश आत्मा है एवं शरीर पुच्छ प्रतिष्ठा है।

प्राणमयकोश के आधार पर इस पाञ्चभौतिक अन्नमयकोश में (शरीर में) अवान्तर कितने प्राण प्रतिष्ठित हैं? इस सम्बन्ध में स्वयं महर्षियों के भी **'को हि तद्वेद यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः'** (श ७।२।२।२०) ये उद्गार हैं। केवल व्यानप्राण के ही कृकल–धनञ्जय–हंस–नागदि अनेक विवर्त्त हैं। द्वासप्ततिसहस्र नाड़ी–भेद से इतने ही प्राणविवर्त्त हो जाते हैं। इन सब प्राणविवर्त्तों को **"प्रतिष्ठाप्राण, जीवनीयप्राण, इन्द्रियप्राण, देवप्राण. ब्रह्मप्राण"** इन पाँच भागों में विभक्त माना जा सकता है। अमृत, मृत्युभेद भिन्न-प्राजापत्यप्राणयुग्म को प्रतिष्ठाप्राण कहा जा सकता है। प्राणो–दान–व्यान–अपान–समान–समष्टि **जीवनीयप्राण** है। पार्थिवप्राण (आङ्गिरस गायत्रप्राण) ही मर्त्यप्रतिष्ठा है एवं सौरदिव्यप्राण (सावित्र-प्राण) ही अमृत प्रतिष्ठा है। पार्थिवस्तौम्य अग्नि–वायु–आदित्य–दिक्सोम–भास्वरसोम इन पाँच देवताओं के प्रवर्ग्यभूत क्रमशः वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन इन पाँच इन्द्रियप्राणों की समष्टि **इन्द्रियप्राण** है। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न प्रतिष्ठावा पार्थिव वैश्वानर अग्नि का प्रवर्ग्यभूत अर्थशक्तिमय पार्थिव वैश्वानर प्राण, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न प्रतिष्ठावा अन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भ वायु का प्रवर्ग्यभूत क्रिया शक्तिमय आन्तरिक्ष्य तैजसप्राण, एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न प्रतिष्ठावा दिव्य सर्वज्ञ इन्द्र का प्रवर्ग्यभूत ज्ञानशक्तिमय दिव्य प्राज्ञप्राण, तीनो प्राणों की समष्टि **देवप्राण** है एवं 'इदं शिरः'–'चत्वार आत्मा'–'द्वौ पक्षौ'–पुच्छं प्रतिष्ठा' भेद से चतुष्पाद बना हुआ सप्तपुरुष पुरुषात्मक कोशप्राण ही पाँचवा ब्रह्मप्राण हैं। इन सब प्राणों की समष्टिरूप अन्नशरीरनेता (अन्नमयकोश की प्रतिष्ठा) यही दूसरा क्रम प्राप्त प्राणमयकोश है। जिसका निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१—"तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामनु—अयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः, व्यानो दक्षिणः पक्षः, अपान उत्तरः पक्षः, आकाश आत्मा, पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा।"

२—"प्राणोब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, प्राणेनजातानि जीवन्ति, प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।"

३—"प्राणं देवा अनुप्राणन्ति मनुष्याः पशवश्च ये ।
प्राणो हि भूतानामायुस्तस्मात् सर्वायुषमुच्यते ।।

सर्वमेव ते आयुर्यन्ति, ये प्राणं ब्रह्मोपासते । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात् सर्वायुषमुच्यते । तस्यैष एव शारीर आत्मा, यः पूर्वस्य ।।
(तै०उ० २।२-३) ।

—**—

३. मनोमयकोशः (मनः)—

अन्नमयकोश अर्थप्रधान है, तदन्तर्गर्भित प्राणमयकोश क्रिया प्रधान है । अर्थात्मक शरीर में प्रतिष्ठित अन्नशरीरनेता प्राण आध्यात्मिक कर्म्म-कलाप का सञ्चालन करने में तभी समर्थ बनता है, जब कि यह किसी अन्य ज्ञानभूमिका को अपना आधार बना लेता है । बिना कामना के प्राणात्मिका जड़ क्रिया का सञ्चालन सर्वथा असम्भव है । क्रियात्मक, क्रियाप्रवर्त्तक, प्राणमय कोश के भीतर ओतप्रोत सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहने वाला काममय वही तीसरा ज्ञानकोश '**मनोमयकोश**' कहलाया है । प्रतिष्ठा-जीवनीय-इन्द्रिय-देव-ब्रह्म भेद भिन्न पञ्चप्राणमूर्त्ति क्रियामयप्राण कोश इस मनोमय कोश का शरीर है । अतएव इसे '**प्राणशरीरनेता**' कहा गया है । इस मनोमय आत्मा से यह प्राणमय आत्मा परिपूर्ण है । यदवच्छेदेन प्राणमय कोश व्याप्त है, तदवच्छेदेनैव मनोमयकोश व्याप्त है । यह मनोमय कोश भी प्राणमय कोश की भाँति सप्तपुरुषपुरुषात्मक बनता हुआ पुरुषविध है । सूक्ष्मदृष्टि से मनोमय कोश की पुरुष विधता ही प्राणमयकोश की पुरुष विधता है, एवं स्थूल दृष्टि से प्राणमयकोश की पुरुषविधता मनोमयकोश की पुरुषविधता की प्रतिष्ठा है ।

ऋक्, यजुः, साम, अथर्व भेद से अपौरुषेय-ब्रह्मनिःश्वसित वेदतत्त्व चार विवर्त्तभावों में परिणत रहता है । इन चारों में ऋक्,-साम-यजुः की समष्टि 'ब्रह्म' वेद है, यही स्वायम्भुव सत्याग्निवेद है । अथर्व सुब्रह्म वेद है, वही परमेष्ठ्य ऋतसोमवेद है । सत्य-ऋतात्मिक यह वेद चतुष्टयी मनोमय आत्मा को कामना द्वारा प्राणसम्बन्ध से वागुपादनत्वेन सृष्टिकर्म्म में प्रवृत्त करती है । त्रयीवेद में यजुर्भाग वय (विषय) रूप है, वस्तुतत्वात्मक है एवं ऋक्-सोम वयोनाध (आयतन-छन्द-सीमा) लक्षण हैं । जिस प्रकार दक्षिणोत्तरपार्श्वरूप कपाटद्वय से वस्तुतत्त्वलक्षण बीज सीमित रहता हुआ सुरक्षित है, एवमेव ऋक्-साम कपाटों से वयरूप यजुः सीमित रहता हुआ सुरक्षित है । ऋक् अग्नि प्रधान है, अग्नि की

अपनी दक्षिणा दिक् है, अतएव ऋगग्नि को इस यजुः का दक्षिणपार्श्व माना जा सकता है। साम **आदित्य प्रधान** है, अदित्य की प्रतिष्ठा उत्तरादिक् मानी गई है।❀ अतएव सामादित्य को इस यजुः का उत्तरपार्श्व माना जा सकता है। मध्यस्थ यजुः उसी प्रकार त्रयीवेद में प्रधान है, जैसे कि शरीर में शिर प्रधान है। इसी दृष्टि से यजु को 'शिर' कहा जा सकता है। पारमेष्ठ्य अथर्वतत्त्व अथर्वाङ्गिरोमय है। भृगुभाग अथर्वा है, अङ्गिरा भाग अङ्गिरा है। स्नेहगुणक भृगु, तेजोगुणक अङ्गिरा, दोनों की समष्टि ही **'आपो भृग्वङ्गिरोमयम्'** के अनुसार 'आपः' है, यही सोमात्मक अथर्ववेद है। सोमान्न मन ही प्रतिष्ठा है। अतएव इस सोमान्नलक्षण अथर्वाङ्गिरारूप अथर्ववेद (सोमवेद) को पुच्छप्रतिष्ठा कहा जा सकता है। 'इदं कुरु, इदं मा कुरु', इदं कुर्वीय, इदं मे स्यात्' इत्याद्याकारक मानस संकल्प ही मन के स्वरूप परिचायक हैं। दूसरे शब्दों में ये आध्यात्मिक आदेश ही मन के मुख्य स्वरूप हैं। अतएव इन्हें आत्म-स्थानीय माना जा सकता है। सोममय मन अग्निमय त्रयीवेद, सोममय अथर्ववेद, इस प्रकार अग्नि–सोम द्वयी के सहयोग से ही कोशरूप में परिणत होता हुआ अध्यात्म संस्था में प्रतिष्ठित है। चतुर्वेद प्राण सम्बन्ध से शिर–पक्ष–पुच्छप्रतिष्ठात्मक बनता हुआ तथा स्वसंकल्प द्वारा आत्मलक्षण बनता हुआ यही कोश काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, धी, ह्री, भी इत्यादि आध्यात्मिक वृत्तियों की प्रतिष्ठा बन रहा है। इन्हीं विरुद्धाविरुद्ध भावों से यह काममय–अकाममय, क्रोधमय–अक्रोधमय, धर्म्म मय–अधर्म्ममय बनता हुआ उच्चावच भावों का अनुगामी बन रहा है। शेष भाग पूर्व के प्राणमयकोश निरूपण से गतार्थ है। प्राणशरीरनेता मनोमय कोश के इसी स्वरूप को लक्ष में रख कर श्रुति ने कहा है—

१—**"तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामनु–अयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः, ऋग्दक्षिणः पक्षः, सामोत्तरः पक्षः, आदेश आत्मा, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा।"**

२—**"मनो ब्रह्मेति व्यजानात् मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, मनसा जातानि, जीवन्ति, मनः प्रयन्त्यभि संविशन्ति।"**

३—**"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।**
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥
तस्यैष एव शारीरात्मा, यः पूर्वस्य॥" (तै०उ० २।३–४)।

❀**"उदिति, सोऽससावादित्यः।"** (जै०उ० २।६।८)।
"द्यौर्वा उत्तरं सधस्थम्।" (शत० ८।६।३।२३)।
"स वा एष (आदित्यः) उत्तरः।" (ऐ०ब्रा० ४।१८)।

४. विज्ञानमयकोश (विज्ञानम्)—

काम–क्रोध–लोभादि भावों के प्रवर्त्तक. आहार–निद्रा–भय–मैथुनादि के सञ्चालक, सर्वप्राणि शरीर में समानरूप से प्रतिष्ठित, प्रज्ञान नामक चान्द्रमन की प्रतिष्ठारूप, प्राणशरीरनेता मनोमय आत्मा के गर्भ में चौथा वह विज्ञानमय कोश प्रतिष्ठित है, जो विद्या–अविद्यात्मिका सौरी बुद्धि की प्रतिष्ठा माना गया है। जो कि बुद्धि तत्त्व इसी विज्ञानमय कोश के सम्बन्ध से 'विज्ञानात्मा' नाम से व्यवहृत हुई है, जो कि विज्ञानात्मा (बुद्धि) प्रज्ञानमन की भाँति प्राणियों में समानरूप से प्रतिष्ठित न होकर विद्वान्, मूर्ख, पशु, पक्षी, कृमि, कीट आदि सर्ग भेद से तारतम्य से प्रतिष्ठित है। जो कि विज्ञान तारतम्य उच्च–नीच आदि श्रेणी–विभागों की मूल प्रतिष्ठा बनता है। जो कि विज्ञान प्रज्ञानवत् विषयागमन की प्रतीक्षा न कर स्वयं विषयों के प्रति अनुधावन करता रहता है। जो कि विज्ञान प्रज्ञानवत् परज्योतिर्म्मय न बनता हुआ स्वज्योतिर्म्मय बन रहा है। इसी विज्ञान का आधार, मनोमय कोश का आलम्बन, आत्मानन्द का सम-सम्बन्धी चौथा विज्ञानमय कोश है। मनोमय कोश की प्रतिष्ठा होने से ही इसे **'मनःशरीरनेता'** कहा गया है। इस विज्ञानमय आत्मा से वह मनोमय आत्मा परिपूर्ण है। यदवच्छेदेन मनोमयकोश व्याप्त है, तदवच्छेदेनैव यह विज्ञानमय कोश व्याप्त है। यह भी मनोमय कोश की भाँति सप्तपुरुषपुरुषात्मक बनता हुआ पुरुषविध है। सूक्ष्मदृष्टि से विज्ञानमय कोश की पुरुषविधता मनोमयकोश की पुरुषविधता की प्रतिष्ठा है, एवं स्थूल दृष्टि से मनोमयकोश की पुरुषविधता विज्ञानमय कोश की पुरुषविधता की प्रतिष्ठा है।

श्रद्धा, सत्य, ऋत, योग, महः ये पाँच मानस भाव ही इस विज्ञानमय कोश के स्वरूप रक्षक माने गए हैं। सोममयी श्रद्धा, जिसका प्रस्तुत निबन्ध के पूर्वप्रकरणों में अनेकधा विश्लेषण किया जा चुका है— मनोमयी है। चान्द्ररस ही श्रद्धा है, यही मनोमयकोश की मूल प्रतिष्ठा है। मनोमयी यही श्रद्धा आध्यात्मिक विज्ञानमय कोश की मुख्य प्रतिष्ठा है, अतएव इसे विज्ञानमयकोश की 'शिरः' स्थानीया माना जा सकता है। मनोगत स्नेहगुणक भृगुरूप सोम भाग ही ऋत है, यह उत्तर से चल कर दक्षिण में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव इस सोमात्मक मनोमय ऋत को विज्ञानमयकोश का दक्षिणपक्ष माना जा सकता है। मनोगत तेजोगुणक अङ्गिरात्मक अग्नि भाग ही सत्य है, यह दक्षिण से चलकर उत्तर में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव इस अग्न्यात्मक मनोमय सत्यभाग को विज्ञानमयकोश का उत्तरपक्ष माना जा सकता है। बुद्धियोगलक्षण आत्मयोग ही विज्ञानमयकोश का मूलाधार है, अतएव ऐसे इस निष्काम कर्म्म लक्षण योग (समत्वयोग, बुद्धियोग) को इस विज्ञानमयकोश का आत्मा कहा जा सकता है। चान्द्रप्राण ही महः है, तत् सम्बन्ध से ही चन्द्रमा 'महान्' कहलाया है।❀ जब तक महच्चन्द्रलक्षण मनोमयकोश अध्यात्म में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक विज्ञानमयकोश स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। अतएव मानस महर्भाव को अवश्य ही इस विज्ञानमयकोश की पुच्छ–प्रतिष्ठा माना जा सकता है। विज्ञानमयकोश के इसी स्वरूप को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है—

❀**"तद्यदस्य तन्नामाकरोत्–चन्द्रमाः–तद्रूपमभवत् प्रजापति र्वै चन्द्रमाः, प्रजापतिर्वै महान्"** (शत० ६।१।३।१६)।

१—"तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामनु-अयं पुरुषविधः । तस्य श्रद्धैव शिरः, ऋतं दक्षिणः पक्षः, सत्यमुत्तरः पक्षः, योग आत्मा, महः पुच्छं प्रतिष्ठा ।"

२—"विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।"

३—"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्म्माणि तनुतेऽपि च ।
विज्ञानं देवाः सर्वे ब्रह्मज्येष्ठमुपासते ॥
शरीरे पाप्मनो हित्वा सर्वान् कामान् समश्नुते ।
तस्यैष एव शारीर आत्मा, यः पूर्वस्य ॥" (तै०उ० २।४-५) ।

—❀—
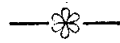
५. आनन्दमयकोशः (आनन्दः)—

ज्यों-ज्यों विज्ञान विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों आत्मा में प्रसादगुणलक्षण शान्तानन्द विकसित होता जाता है । विज्ञान विकास ही आनन्द विकास की मूल प्रतिष्ठा है । यही आनन्दभाव शेष चारों कोशों का मूलाधार है। बिना आनन्द के किसी भी कर्म्म में, किसी भी भोग में प्रवृत्ति नहीं होती । इस आनन्द के अन्तः, बहिः भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं । विषयसम्पर्क से उत्पन्न तात्कालिक आनन्द बहिरानन्द है, यही विषयानन्द है, इसे ही समृद्धानन्द कहा जाता है । विषय से आनन्द उत्पन्न नहीं होता, अपितु विषयागमन से आत्मानन्द में उसी प्रकार क्षणमात्र के लिए एक लहर उत्पन्न हो जाती है, जैसे शान्त सरोवर के शान्त पानी में लोष्ठाघात से क्षणमात्र के लिए लहर उत्पन्न हो जाती है । क्षणोत्तर ही यह लहर शान्त भी हो जाती है । यही क्षणिकानन्द, किंवा मात्रानन्द है । इसी आनन्द का हमें अनुभव हुआ करता है । दूसरा आत्मानन्द स्वस्वरूप से सर्वथा शान्त है। उच्चावचभावशून्य, एकरस, प्रसादगुणात्मक, अनुभवातीत यही आत्मानन्द है, किंवा शाश्वत आनन्द है । ऐन्द्रियविषयानुगत मनोमयकोशाधिष्ठित प्रज्ञानमन क्षणिकानन्द प्रवृत्ति का कारण है, एवं विज्ञानमय कोशाधिष्ठिता विज्ञान-बुद्धि शाश्वतानन्द विकास की प्रतिष्ठा है । विज्ञानमय कोशाधारभूत यही आत्मानन्दमय **'विज्ञानशरीरनेता'** कहलाया है । इस आनन्दमय आत्मा से वह विज्ञानमय आत्मा परिपूर्ण है । यदवच्छेदेन विज्ञानमयकोश व्याप्त है, तदवच्छेदेनैव यह आनन्दमयकोश व्याप्त है । सूक्ष्मदृष्टि से विज्ञानमयकोश की पुरुषविधता आनन्दमयकोश की पुरुषविधता पर प्रतिष्ठित है, एवं स्थूलदृष्ट्या आनन्दमयकोश की पुरुषविधता विज्ञानमयकोश की पुरुषविधता पर प्रतिष्ठित है ।

प्रिय, मोद, प्रमाद, आनन्द, ब्रह्म ये पाँच विज्ञानभाव ही इस आनन्दमयकोश के स्वरूपरक्षक माने गए हैं। इन पाँचों में आदि के चार भाव व्यक्त हैं, पाँचवां ब्रह्मभाव अव्यक्त है। विज्ञानमयकोशानुगत विज्ञानात्मा (बुद्धि) के तारतम्य से एक ही आनन्द के चार विवर्त्त हो जाते हैं। इन चारों को ही हम 'समृद्धानन्द' कह सकते हैं, जिसका विषयानन्दरूप से पूर्व में स्पष्टीकरण हुआ है। पाँचवां ब्रह्मभाव भी आनन्द ही है। परन्तु यह शान्ति-प्रतिष्ठाभावात्मक बनता हुआ विषयानन्द मर्य्यादा से बहिर्भूत है। समृद्धिभाव विरहित होने से समृद्धि सूचक (टुनदिसमृद्धौ) आनन्द शब्द से इस शान्तानन्द का अभिनय न होकर केवल शान्तिप्रतिष्ठा-सूचक 'ब्रह्म' शब्द से ही इसका उल्लेख हुआ है। विज्ञान सम्बन्ध से आत्मा उसी प्रकार शरीर–पानी–पुत्र–अनुचर–द्रव्य आदि में व्याप्त हो जाता है, जैसे सौरहिरण्यमय विज्ञानमय पुरुष स्वविभूति सम्बन्ध से सूर्य्य-रोदसी त्रिलोकी-तद्गत अन्य पृथिव्यादि पदार्थों में व्याप्त रहता है। इसी आधार पर **'यावद्वित्तं तावदात्मा'** यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। इस विज्ञानात्मवित्त के अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त, भेद से दो विवर्त्त हैं। आगे जाकर प्रत्येक के गौण, मुख्य भेद से दो-दो विवर्त्त हो जाते हैं। इन्द्रियवर्ग, पञ्चप्राण, पञ्चभूतात्मक शरीर आदि भोगायतन तथा भोगसाधन पर्व (अन्नमयकोश) मुख्य अन्तर्वित्त है, पुत्र–कन्या–स्त्री–स्वबन्धुबान्धव, ये गौण अन्तर्वित्त हैं। पशु, अनुचर, आवासभूमि, कोशस्थद्रव्य, भोग्य अन्नसम्पत्ति, और-और वे परिग्रह जिनका दैनिक रूप से उपयोग होता है, मुख्य बहिर्वित्त है एवं उद्यान, सरोवर, मार्ग, परिचित सहयोगी इत्यादि वे परिग्रह, जो यदा-कदा उपयोग में आते रहते हैं, गौण बहिर्वित्त है। विज्ञानात्मविभूति से सम्बन्ध रखने वाले ये चार अन्तर्बहिर्वित्त ही प्रियादि चारों विज्ञान भावों के प्रवर्त्तक बनते हैं। इनमें मुख्य अन्तर्वित्त का **'प्रिय'** भाव से सम्बन्ध है, अतएव इसे 'शिरः' कहा जा सकता है। गौण अन्तर्वित्त का **'आनन्द'** भाव से सम्बन्ध है, अतएव इसे 'आत्मा' कहा जा सकता है। मुख्य बहिर्वित्त का **'प्रमोद'** से सम्बन्ध है, यही उत्तरपक्ष है। गौण बहिर्वित्त का **मोद** से सम्बन्ध है, यही दक्षिणपक्ष है। इन्द्रियवर्गादिसमष्टिरूप अन्नमय कोशात्मक मुख्य अन्तर्वित्त ही आत्मपूर्णता की प्रतिष्ठा है, अतएव 'प्रिय' कहना अन्वर्थ बनता है। पुत्र–कन्यादि गौणअन्तर्वित्त ही अध्यात्म संस्था की लौकिक समृद्धि है, अतएव इसे आनन्द कहना अन्वर्थ बनता है। पश्वनुचरादि मुख्य बहिर्वित्त ही विशेष साधक बनता हुआ प्रकृष्ट-हर्षलक्षण प्रमोदभाव का समर्थक बन रहा है एवं उद्यान–सरोवरादि गौण बहिर्वित्त सामान्यतः हर्ष (आत्मप्रसाद) के कारण बनते हुए मोदात्मक बन रहे हैं। चारों में मुख्यवित्त मुख्यलक्षण (अन्नमयकोश लक्षण) अन्तर्वित्त है, अतएव इसे आनन्दमय पुरुष का शिर कहा जा सकता है। गौणबहिर्वित्त ही आत्मानन्द की ऐहलौकिक विभूति का परिचायक है, यही इसका प्रजापतित्व है। इस प्राजापत्य भावा-पेक्षया गौण-अन्तर्वित्तानुगत आनन्द को आनन्दमय कोश का आत्मा कहा जा सकता है। मुख्य बहिर्वित्त विशेषरूप से भोग्य है, भोग्य ही अन्न है, यही सोम है, यह उत्तरदिक्स्थ है। इसी सम्बन्ध से तद्रूप प्रमोद को आनन्दमयकोश का उत्तरपक्ष माना जा सकता है। गौण बहिर्वित्त सामान्य भोग्य है, इसके साथ अन्य अन्नादों का भी सम्बन्ध रहता है। इसी अन्नादाग्नि सम्बन्ध से तदनुगता दक्षिणादिक् की अपेक्षा से गौण बहिर्वित्तजनित मोद को आनन्दमय पुरुष का दक्षिणपक्ष माना जा सकता है। पाँचवां शान्ति-प्रतिष्ठा लक्षण नित्य विज्ञानानन्द रसैकमूर्त्ति ब्रह्मभाव ही इस आनन्दमय की पुच्छप्रतिष्टा है। आनन्दमयकोश के इसी स्वरूप का निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१—"तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैषपूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।"

२—"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। य एवं वेद, प्रतितिष्ठति, अन्नवानन्नादो भवति, महान् भवति प्रजया, पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।"

३—"असन्नेव स भवति, असद् ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद, सन्तमेन ततो विदुः॥
तस्यैष एव शारीरात्मा, यः पूर्वस्य।"❀

—❀—

६—सत्यात्मा–शारीरात्मा—

तेज–अप्–अन्न, इन तीनों के त्रिवृत्करण से उत्पन्न, पृथिव्यप्तेजवाय्वाकाशात्मक, रसासृङ्मांस-मेदोऽस्थिमज्जशुक्र सप्तधातुमय दृश्यकोश ही 'अन्नमयकोश' है, भौम 'शरीरात्मा' इसी अन्नमयकोश में प्रतिष्ठित है। प्रतिष्ठा जीवनीय–इन्द्रिय–देव–ब्रह्म–भेदेन पञ्चप्राणात्मक कोश ही प्राणमयकोश है, पार्थिव प्राणात्मा (वै०तै०प्रा० समष्टिरूप कर्म्मात्मा) इसी प्राणमयकोश में प्रतिष्ठित है। काम-संकल्पादियुक्त स्नेह-तेजोमूर्त्ति कोश ही मनोमयकोश है। इन्द्रियाधिष्ठाता चान्द्रप्रज्ञानमन इसी मनोमयकोश में प्रतिष्ठित है। चान्द्रमहानात्मा का भी इसी में अन्तर्भाव है। चौथा विज्ञानमयकोश ही सौरीविज्ञानबुद्धि की प्रतिष्ठा है। पाँचवा आनन्दमय कोश ही स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा की प्रतिष्ठा है, पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा का भी इसी में अन्तर्भाव है इस प्रकार ये पाँचों कोश ६ खण्डात्माओं की प्रतिष्ठा बन रहे हैं, जिन छओं खण्डात्माओं का आत्मविज्ञानोपनिषत् में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। ये पाँचों कोश बलचिति-लक्षण हैं,

❀इन पाँचों कोशों का विशद वैज्ञानिक विवेचन **'तैत्तिरीयोपनिषत्–हिन्दी–विज्ञानभाष्य'** में देखना चाहिए।

यह आरम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है। इसी बलसम्बन्ध से इन पाँचों कोश-लक्षण आत्माओं को वस्तुतः 'शरीर' ही कहा जायगा। शारीरआत्मा वही कहलायगा, जो पाँच खण्डों का अखण्ड आधार बनता हुआ पाँचों में से आनन्दादि चार इन्द्रियातीत कोशों के 'यः पूर्वस्य' रूप से आत्माभाव का समर्थक बन रहा है। यही अवारपारीण छठा 'सत्यात्मा' है, जिसका पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, सदसद् इत्यादि पाप्म-द्वन्द्वों से कोई सम्बन्ध नहीं है एवं जिसका निम्नलिखित शब्दों में यशोगान हो रहा है—

"सोऽपहतपाप्मा, विजरः, विमृत्युः, विशोकः, अविजिघित्सः, अपिपासः, सत्यकामः, सत्यसंकल्पः। सोऽन्वेष्टव्यः, स विजिज्ञासितव्यः। स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानां (कोशानां) असम्भेदाय। नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः, न जरा, न मृत्युः, न शोकः, न सुकृतं, दुष्कृतम्। सर्वे पाप्मानस्ततो निवर्त्तन्ते। यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति. स आत्मा (सत्यात्मा-अखण्डः)।"

—❀—
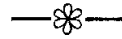
अयमत्र संग्रहः—

(६)—*—अवारपारीणः सत्यात्मा	(१ सत्यम्)→अखण्डः शारीर आत्मा ←		
(५)—१—आनन्दमय आत्मा—	—२ (आनन्दः)—→आनन्दमयकोशः (५ स्तर)	पञ्चकोशाः-शरीरम्	शारीरः-कोशाधिष्ठाता
(४)—२—विज्ञानमय आत्मा—	—३ (विज्ञानम्)—→विज्ञानमयकोशः (४ स्तर)		
(३)—३—मनोमय आत्मा—	—४ (मनः)—→मनोमयकोशः (३ स्तर)		
(२)—४—प्राणमय आत्मा—	—५ (प्राणः)—→प्राणमयकोशः (२ स्तर)		
(१)—५—अन्नमय आत्मा—	—६ (अन्नम्)—→अन्नमयकोशः (१ स्तर)		
↓ अवारपारीणः—सत्यात्मा ←			

शरीरस्थानीय उक्त पाँचों कोश सजातीयसमवाय दृष्टि से, स्वभुक्त सत्यात्मभुक्ति दृष्टि से, अवार-पारीण सत्यात्मविभूति दृष्टि से शरीर, आत्मा, सत्य तीनों शब्दों से व्यवहृत किए जा सकते हैं। प्रत्येक कोश विजातीयभाव विरहित सजातीय भावों की समष्टि बनता हुआ अन्य कोशस्वरूप से भिन्न है। अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमयकोश, पाँचों कोश अन्न-प्राण-मन-विज्ञान-आनन्द लक्षण सजातीयभावों की समष्टि बनते हुए परस्पर एक दूसरे से विभिन्नधर्म्मा हैं। इस विभिन्न दृष्टि से ही एक के ग्रहण से अन्य का ग्रहण नहीं होता। बलचितिकृत इसी विभेद के कारण एक में अन्य का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। इसी बलचिति दृष्टि से पाँचों कोशों को भिन्न-भिन्न पाँच शरीर माना जा सकता है। समष्टिरूप से व्याप्त अवारपारीण सत्यात्मा इन उपाधियों के भेद से **'अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्'** न्याय से इन शरीर स्थानीय पाँचों में विभक्तमर्य्यादा से युक्त होता हुआ पाँचों का स्वतन्त्र आत्मा बन रहा है। सत्यात्मभुक्ति से पाँचों को आत्म शब्द से भी व्यवहृत किया जा सकता है, जो कि आत्मव्यवहार यावदुपाधि पर्य्यन्त सर्वथा सत्य है, एवं जो कि आत्मव्यवहार 'आत्मगति' की मूल प्रतिष्ठा बन रहा है। कोशभुक्त, कोशावच्छिन्न, खण्डात्मा ही गतिधर्म्म से आक्रान्त माना गया है। इसी सोपाधिक आत्मा का जन्म-मृत्यु-परलोकगमन आदि द्वन्द्वभावों से सम्बन्ध है। प्रातिस्विक व्यष्टिभुक्ति के अतिरिक्त समष्टिरूप से विभूति सम्बन्ध से भी इन पाँचों खण्डात्मकलक्षण खण्डकोशों पर सूर्य्यातपवत् अनुग्रह हो रहा है। इस विभूतिदृष्टि से इन्हें 'सत्य' शब्द से भी व्यवहृत किया जा सकता है। जहाँ तक शरीर दृष्टि का सम्बन्ध है, वहाँ तक क्षणिक परिवर्त्तन का साम्राज्य है। जहाँ तक खण्डात्मदृष्टि का सम्बन्ध है, वहाँ

तक **'वासांसिजीर्णानि विहाय'** लक्षण नव-नव शरीरानुगत जन्ममृत्यु–भावों का, एवं गमनागमनद्वन्द्व का साम्राज्य है। जहाँ तक अखण्डात्मक लक्षण सत्य दृष्टि का सम्बन्ध है, वहाँ तक **'न जायते म्रियते'** लक्षण शाश्वतभाव का साम्राज्य है, एवं इसी आत्मस्वरूप विश्लेषण के आधार पर पूर्वप्रतिपादिता प्रश्नपरम्परा का एकान्ततः मूलोच्छेद हो रहा है। श्रुतिशास्त्र में वर्णित जो व्यवस्थाएँ परस्पर विप्रतिपन्न प्रतीत हो रही हैं, वह वस्तुतः आत्मस्वरूपपरिचयभावमूलिका हैं। आत्मविवर्त्त के सर्वथा विभक्त तथा सुव्यवस्थित, उपाधिभेदभिन्न तत्तद्विशेष भावों से सम्बद्ध तत्तद् विशेष व्यवस्था समर्थक वचन तत्तद्विशेषात्मभेददृष्टया सर्वथा निर्विरोध है, जैसा कि अगले परिच्छेद से स्पष्ट हो रहा है—
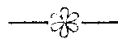
प्रश्नपरम्परासमाधिः

जिन १२ प्रश्नों का पूर्व में उल्लेख हुआ है, उन्हें क्रमशः लक्ष्य बनाते हुए ही प्रस्तुत समाधि परिच्छेद का समन्वय करना चाहिए।

(१) प्रथम विप्रतिपत्ति का स्वरूप यह था कि—"श्रुति ने पार्थिव अध्यात्म संस्था का संगठन-विघटनानन्तर पाँचों पार्थिव भूतों में अप्यय बतलाते हुए पञ्चत्वगति का समर्थन किया है। जो कि पञ्चत्व-गति **'भस्मान्तं शरीरं'** रूप से हमारी दृष्टि के सामने ही भुक्त हो जाती है। अतएव कहना पड़ेगा कि, परलोकगति लक्षण आत्मगति सर्वथा विप्रतिपन्न है। इस विप्रतिपत्ति की समाधि है—'अन्नरसमयपुरुष', किंवा पाञ्चभौतिक अन्नमयकोश। इस दृष्टि से वस्तुतः पञ्चत्वगति प्रधान है। केवल पञ्चत्वगति–समर्थन से ही यह किस आधार पर मान लिया गया कि, स्थूल शरीरत्यागान्तर आत्मगति (परलोकगति) नहीं होती? यही प्रश्नोच्छेदात्मक एक नवीन प्रश्न है, जो केवल शरीरात्मवादियों के लिए असमाधेय प्रश्न बन रहा है।

(२) दूसरी विप्रतिपत्ति का स्वरूप यह था कि—"चेतनालक्षण आत्मा को शरीर से पृथक्तत्त्व मान लेने पर भी इसलिए आत्मगति का समर्थन नहीं किया जा सकता कि पञ्चभूतों की भाँति चेतनालक्षण आत्मा भी तत्काल सर्वव्यापक चैतन्यघन में—**'यथोदकंशुद्धेशुद्धं'** न्याय से विलीन होता है।" विप्रतिपन्न ने यह विचार न किया कि, किन मुक्तात्माओं का चिदात्मा क्रमगति का आश्रय न लेकर सद्यः मुक्त हो जाता है। निष्कामकर्म्म योगी जीवन्मुक्त–विदेहपुरुष ही इस सद्योमुक्ति लक्षण समबलय–गति के अनुयायी बनते हैं, परन्तु जो विषयासक्त-कर्म्मबन्धनानुगत–बद्धजीव हैं, उनका चिदात्मा (प्रत्यगात्मा) सद्यः–मुक्त नहीं हो सकता।

(३) तीसरी विप्रतिपत्ति का स्वरूप यह था कि—"कहीं आत्मा को प्राणमय बतलाया जा रहा है, तो कहीं प्राण को आत्मा के साथ उत्क्रमण करने वाला मान कर प्राण को आत्मा से पृथक् माना जा

रहा है।" प्राणस्वरूप विज्ञान इस विप्रतिपत्ति का भी मूलोच्छेद कर देता है। आग्नेय वैश्वानरप्राण, वायव्य तैजस प्राण, ऐन्द्र प्राज्ञप्राण, इन तीनों पार्थिव स्तौम्यप्राणों की समष्टि आत्मा है एवं आत्मा के (प्राणात्मा के) साथ उत्क्रान्त होने वाला सूक्ष्मशरीरावच्छिन्न–आतिवाहिकप्राण इस प्राणात्मा के प्राण-तत्त्व से सर्वथा दूसरा वस्तुतत्त्व है। केवल नाम साम्य से उत्पन्न विप्रतिपत्ति का इस प्रकार तत्वभेदाधारेण भलीभाँति निराकरण हो जाता है।

(४) चौथी विप्रतिपत्ति यह थी कि—"श्रुति ने—'**आत्मैवाधस्तात्०**' इत्यादि रूप से जब आत्मा को व्यापक बतलाया है, तो उस आत्मा की परलोक गति कैसे सम्भव है।" निराकरण का आधार वही अखण्ड सत्यात्मा है। अखण्डात्मा वास्तव में व्यापक है, एवं अवश्यमेव वह गति मर्य्यादा से ही क्या, समस्त द्वन्द्वभावों से अतीत है। गति का लक्ष्य तो वह खण्डात्मा है, जो उपाधि रूप से जन्ममृत्यु–प्रवाह से युक्त रहता हुआ सदद्वन्द्वों का अनुगामी बना रहता है। अन्य (अखण्ड) आत्मक्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले आगतिभाव के आधार पर अन्य (खण्ड) आत्मक्षेत्रानुगत गतिभाव को विप्रतिपन्न मान बैठना क्या किसी भी दशा में मान्य है?

(५) पाँचवीं विप्रतिपत्ति यह थी कि—"एक ओर कर्म्मसंस्कार को गति का निमित्त बतलाया जाता हैं, साथ ही कर्म्म तारतम्य से आत्मा की ह्रास–वृद्धि का समर्थन किया जा रहा है। दूसरी ओर उसी प्राज्ञ आत्मा को अमृतलक्षण बताते हुए उसे कर्म्मसंस्कारलेप से पृथक् बतलाते हुए '**न कर्म्मणा वर्द्धते, ना कनीयान्**' रूप से ह्रास वृद्धि धर्मों में बहिर्भूत माना जा रहा है।" प्राणमूर्ति प्राज्ञ आत्मा के स्वरूप का जब हम विश्लेषण करते हैं, तो उक्त दोनों विरुद्ध कथनों का समन्वय हो जाता है। प्राज्ञ आत्मा में प्राण, प्रज्ञा, भूत ये तीन पर्व हैं। क्रियातत्त्व प्राण है, चिदंश प्रज्ञा भाग है, एवं चिदंशग्राहक वीध्र सोम भूतभाग है। प्राण तथा चिदंश, दोनों भाग सर्वथा असङ्ग हैं। इनका न स्वस्वरूप से ह्रास होता, न वृद्धि होती। तीसरा सोमात्मक भूत भाग स्वस्नेहगुणातिशय से विषयसंसर्ग से उत्पन्न संस्कारों को ग्रहण करता हुआ तारतम्य से अवश्य ही कनीयान् भी बनता हैं, भूयान् भी बनता है।

(६) छठी विप्रतिपत्ति का स्वरूप यह था कि—"श्रुति ने जन्मकाल में जहाँ आत्मा को पाप्म-दोषों से युक्त बतलाया है, वहाँ मरणानन्तर आत्मा को विशुद्ध बतलाया है। विशुद्धि ही जब आत्ममुक्ति है, मरणोत्तर यह विशुद्धि जब नित्य प्राप्त है, तो परलोकगति का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है।" पाप्म स्वरूप विश्लेषण ही इस विप्रतिपत्ति का निराकरण कर रहा है। स्थूल–सूक्ष्म–कारणादि भेद से दोष अनेक श्रेणियों में विभक्त हैं। महाभूतादिविकारभूत स्थूलशरीर स्थूलपाप्मा है, काम–क्रोधादिवृत्तियाँ सूक्ष्मशरीरानुगत सूक्ष्म पाप्मा है, एवं कर्म्मसंस्कार–अविद्या–काम–संकल्पादि–कारणशरीरानुगत सुसूक्ष्म पाप्मा हैं। मरणानन्तर स्थूल पाप्माओं से अवश्य ही प्राज्ञात्मा विमुक्त हो जाता है, परन्तु गतिनिमित्तक सूक्ष्म–सुसूक्ष्म पाप्मा तब तक इसमें प्रतिष्ठित रहते हैं, जब तक कि यह उस अखण्ड–सत्यात्मा के साथ ऐक्य प्राप्त नहीं कर लेता। दूसरे शब्दों में जब तक इसके सूक्ष्मादिदोष आत्यन्तिक रूप से हट जाते हैं, तभी यह आत्यन्तिक रूप से विशुद्ध होकर उस शुद्ध में लीन होता हुआ गतिचक्र से त्राण पाता है। '**उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति**' से केवल स्थूल पाप्माओं का ही त्याग बतलाया गया है।

(७) सातवीं विप्रतिपत्ति यह थी कि—"एक श्रुति वचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि, मरणोत्तर आत्मा के लिए भोगसाधन लक्षण इन्द्रियवर्ग नहीं बच रहता। अपितु इन भोगसाधनों को तो वह मुमूर्षु-अवस्था में ही छोड़ देता है। परलोकगति फलभोग को लक्ष्य बनाती है। जब साधनों का ही अभाव है, तो गति का क्या प्रयोजन रह जाता है।" भिन्न-भिन्न भोगसाधनों (इन्द्रियों) के द्वारा यह विप्रतिपत्ति भी तिरस्कृत है। अवश्य ही सुषुप्ति अवस्था की भाँति मरणोत्तर स्थूलशरीरानुबन्धी कोई भोगसाधन (इन्द्रिय) शेष नहीं रह जाता, परन्तु जिस प्रकार आत्मगतिनिमित्तक सूक्ष्म शरीर से मुक्त होकर यह आत्मा परलोकगमन में समर्थ बनता है, एवमेव सूक्ष्मशरीर निबन्धन सूक्ष्म भोगसाधन भी अवश्य ही (अपूर्व) उत्पन्न हो जाते हैं।

(८) आठवीं विप्रतिपत्ति यह थी कि—"स्वयं श्रौत वचनों के आधार पर ही कहना पड़ता है कि 'आत्मा ही शरीर है ? अथवा आत्मा शरीर से भिन्न है ?' यह प्रश्न संदिग्ध बन रहा है। जब आत्म-स्वरूप ही संदिग्ध है, तो आत्मगति के सम्बन्ध में विचार करना भी सर्वथा निरर्थक ही माना जायगा।" श्रुति-तात्पर्य समन्वय ही इस विप्रतिपत्ति का भी निराकरण कर रहा है। शरीर से पृथक् आत्मतत्त्व है, एवं वह अवश्यमेव आतिवादिक शरीर धारण कर लोकान्तर में गमन करता है' यही मुख्य सिद्धान्त है। जो इस अस्तिलक्षण आत्मा का स्वरूप पहिचान लेते हैं, वे कभी प्रेतभाव में विचिकित्सा नहीं करते, जैसा कि—'अस्तीत्येके' समर्थक-'**एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि, इति यस्य स्यादद्धा, न विचित्साऽस्ति, इति ह स्माह शाण्डिल्यः**' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। '**यथा सैन्धवाखिल्य०**' इत्यादि जिस श्रुति द्वारा विचिकित्सक शरीरात्मवाद सिद्ध करता हुआ 'नायमस्ति' पक्ष का समर्थन करने चला है, वह श्रुति तो उस आत्मतत्त्व का दृष्टान्त द्वारा विश्लेषण कर रही है, जिसके सम्बन्ध में उसने आरम्भ में ही—'**इदं सर्वं यदयमात्मा**' (बृ० २।४।६) यह प्रतिज्ञा की है। उस सलिलवत्-एकदृष्टा अखण्ड सत्यात्मतत्त्व के साथ अद्वैत सम्बन्ध प्राप्त कर लेने पर भूत-भौतिक निबन्धन सारे विशेषभाव सर्वथा नष्ट हो जाते हैं—'**तान्येवानुविनश्यति**' से यही अभिप्रेत है। '**वायुर्वैगौतमतत्सूत्रम्०**' इत्यादि श्रुति से भी भिन्नात्मवाद सिद्धान्त पर कोई आक्रमण नहीं हो रहा है। वायुसूत्र (प्राणसूत्र) के उत्क्रान्त हो जाने पर शरीर संगठन टूट जाता है, इस प्राकृतिक स्थिति का विश्लेषण करने वाली उक्त श्रुति आत्मसत्तोच्छेद में कैसे प्रमाण बन गई ? यह उन्हीं विप्रतिपन्नमतियों से पूछना चाहिए। हमारी दृष्टि में तो यही श्रुति परम्परया आत्मसत्ता का समर्थन ही कर रही है। प्राणसूत्र अकस्मात् बिना किसी निमित्त के निकल क्यों गया ? इस प्रश्न का समाधान वही आत्मोत्क्रान्ति है। '**तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति**' इस श्रुत्यन्तरप्रामाण्य से आत्मनिष्क्रमण ही प्राणसूत्र निर्गमन का निमित्त बन रहा है।

(९) नवीं विप्रतिपत्ति यह थी कि—"एक जगह श्रुति कहती है—प्राणात्मा का उत्क्रमण नहीं होता, अपितु वह यहीं सद्यः विलीन हो जाती है। अन्यत्र श्रुति कहती है—प्राणात्मा का उत्क्रमण होता है, वह लोकान्तर गमन करता है। इस प्रकार जब उत्क्रमण ही संदिग्ध है, तो आत्मगति के विप्रतिपन्न होने में क्या सन्देह है ?" अवस्थाभेद द्वारा इस विप्रतिपत्ति का भी निराकरण हो रहा है। 'प्राणात्मा का उत्क्रमण नहीं होता, अपितु वह यहीं विलीन हो जाता है' यह सिद्धान्त उन मुक्तात्माओं से सम्बन्ध

रखता है, जिनका प्राज्ञात्मा निष्काम भाव से अकामयमान बनता हुआ विशुद्ध भाव में परिणत होकर सर्वव्यापक शुद्ध ब्रह्म में सद्यः विलीन हो जाता है। यही इसकी समवलय–लक्षण सद्योमुक्ति (अगति) है। **'इति नु–अकामयमानस्य'** यह कहते हुए श्रुति ने स्पष्ट ही मुक्तावस्थानुगता इस अनुक्रान्ति का उत्क्रान्ति पक्ष से भेद सिद्ध कर दिया है। **'अथ कामयमानस्य०'** के अनुसार कामासक्त कामकामी प्राज्ञात्मा की सद्योमुक्ति नहीं होती। अपितु उसे उत्क्रान्त होकर अवश्यमेव क्रमगति का आश्रय लेना पड़ता है।

(१०) दसवीं विप्रतिपत्ति यह थी कि–"कहीं यह कहा जा रहा है कि, शरीरावयवों से निष्क्रान्त आत्मा क्षणमात्र में आदित्यलोक में चला जाता है, तो कहीं यह सुनाई पड़ता है कि उत्क्रान्त आत्मा को पहले चन्द्रलोक में जाना पड़ता है। इस प्रकार गन्तव्यलोक संदिग्ध बन रहे हैं।" आत्मावस्था तथा आत्मभेद द्वारा यह विप्रतिपत्ति भी उच्छिन्नप्राय है। मुक्त (क्रममुक्त) पुरुषों का आत्मा तत्क्षण आदित्य भेदी बन जाता है। ब्रह्माण्डस्फोट द्वारा जिनका आत्मा निष्क्रान्त होता है, उनका यह आत्मा अवश्यमेव क्षणमात्र में ही सूर्य्यभेदी बन जाता है। इन्हें महानात्मा के साथ चन्द्रगति का अनुगमन नहीं करना पड़ता। अतएव ऐसे मुक्तात्मा योगियों के लिए गयाश्राद्ध भी अनपेक्षित है। जो मुक्त नहीं हैं, उनके प्रज्ञात्मा को अवश्यमेव महानात्मा के साथ एक बार चन्द्रलोक में जाना पड़ता है। साथ ही जो मुक्तात्मा हैं, उनके महानात्मा को भी प्रत्येक दशा में चन्द्रलोक जाना पड़ता है।

(११) ग्यारहवीं विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में प्रश्नकर्त्ता ने गतिविषयक वचनों का जो पारस्परिक विरोध उद्धृत किया है, उसका अगले परिच्छेदों में विस्तार से समन्वय होने वाला है। अतः प्रकृत में इसे स्वस्थ दशा में ही छोड़ दिया जाता है।

(१२) बारहवीं विप्रतिपत्ति यह थी कि—"अन्य शरीर को लक्ष्य बना कर ही जीवात्मा पूर्व शरीर का परित्याग करता है। ऐसी दशा में परलोकगमन, तत्रगत्वा भोग भुक्ति, सब कुछ अनर्गलप्रलाप बन जाता है।" कौन कहता है—पूर्व शरीर त्याग के अव्यवहितोत्तर काल में ही जीवात्मा (तृणजलौकावत्) अन्य शरीर धारण नहीं कर लेता। अवश्य ही प्रत्येक अवस्था में आत्मा को सशरीर ही रहना पड़ता है, जैसा कि पूर्व परिच्छेदों में हमने स्वयं आटोप के साथ बतलाया है। अवश्य ही स्थूलशरीर त्यागान्तर सूक्ष्म आतिवाहिक शरीर धारण कर आत्मा लोकान्तर में गमन करता है। इस प्रकार इस विप्रतिपत्ति से भी आत्मगति सम्बन्ध में कोई अव्यवस्था प्रवेश नहीं पा सकती।

—❀—

रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम्।
त्रिर्यद् दिवः परिमुहूर्तमागात्, स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा (ऋक् ३/५३/८)
त्रिर्ह वा एष (मघवा- इन्द्रः - आदित्यः - सौरप्राणः) एतस्या मुहूर्तस्येमां
पृथिवीं समन्तः पर्य्येति। (जैमि. ब्रा. उप. १/४४/८)

गत्यारूढः प्रत्यगात्मा

पञ्चकोश के आधार पर प्रतिष्ठित जिन खण्डात्माओं का '**आत्मस्वरूपपरिचय**' परिच्छेद के उपसंहार में दिग्दर्शन कराया गया है, उनमें से कौनसा खण्डात्मा प्रकृत आत्मगतिविज्ञान प्रकरण में प्रधान लक्ष्य है ? संक्षेप से इस प्रश्न का समाधान करनेनिरूपणीय गतिभावों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। अव्यक्त, यज्ञ, विज्ञान, प्रज्ञान, महान्, प्राण, शरीर, ये छओं आत्मखण्ड नित्यगति, कालगति, भेद से दो-दो गतिभावों से आक्रान्त है। शरीर का प्रत्येक परमाणु क्षणिक-क्रिया के स्वाभाविक-क्षणिक परिवर्तन के कारण बदल रहा है। इसी क्षणिक गति से उन स्थूल बाल–युवा–वृद्धादि अवस्थाओं का उदय होता है, जिनमें प्रत्येक में असंख्य क्षणिक परिवर्तनों का समावेश है। यह स्वाभाविक क्षणिक परिवर्तन ही शरीर की नित्यगति है। आत्माधिष्ठाता सूर्य्यगत 'विश्वामित्र' नामक वायुप्राण जब तक इस स्थूल शरीर में प्रतिष्ठित रहता है, तब तक शरीर कालगति का अतिथि नहीं बनता। उस आयुः सूत्र के उत्क्रान्त होते ही प्राप्तकाला शरीरयष्टि गिर जाती है। यही इस शरीर की कालगति है, जिसे 'मृत्यु' भी कहा जाता है। क्षणगतिरूपा नित्यगति नित्यमृत्यु है, कालानुगता कालगति काल मृत्यु है। इस प्रकार शरीरगति के दो विभाग हो जाते हैं।

प्रज्ञानात्म नामक मन तथा महानात्मा इन दोनों चान्द्र आत्माओं का प्रतिक्षण चन्द्रलोक में श्रद्धासूत्र द्वारा गमनागमन होता रहता है, यही इन दोनों की नित्यगति है। शरीराधिष्ठाता जीवात्मा के उत्क्रान्त हो जाने पर प्रज्ञानगर्भित महानात्मा उसी श्रद्धासूत्र द्वारा एक चान्द्र सम्वत्सर में चन्द्रलोक में चला जाता है, यही इस युग्म की कालगति है। सौरविज्ञानात्मा हृदय में प्रतिष्ठित रहता हुआ, हृदय से आरम्भ कर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा सुषुम्णापथ से सूर्य्यकेन्द्र तक वितत रश्मिप्राणात्मक महापथ से एक निमिषमात्र में अध्यात्ममण्डल से अधिदैवतमण्डल (सूर्य्यमण्डल) पर्य्यन्त तीन बार आता-जाता रहता है। यही इस सौर विज्ञानात्मा की नित्यगति है। जीवात्मा के उत्क्रान्त हो जाने पर यही विद्युन्मूर्त्ति विज्ञानात्मा उसी पथ से निमिषमात्र में स्वप्रभव सौरप्राण में विलीन हो जाता है, यही इसकी कालगति है। पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा ऋतसूत्र के द्वारा, स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा सत्यसूत्र के द्वारा स्वयम्भू–परमेष्ठी लोकों में सतत् आते जाते रहते हैं, यही इन दोनों की नित्यगति है एवं जीवोत्क्रान्त्यनन्तर उन्हीं ऋत-सूत्रों के द्वारा तत्क्षण दोनों स्वप्रभव परमेष्ठी तथा स्वयम्भू लोक में विलीन हो जाते हैं, यही इन दोनों की कालगति है।

उभयगति से सम्बन्ध रखने वाले अव्यक्त, यज्ञ, विज्ञान, प्रज्ञान, महान्, शरीर ये छओं आध्यात्मिक-खण्ड उस 'आत्मगति' से कोई सम्बन्ध नहीं रखते, जिसका प्रकृत प्रकरण में विश्लेषण होने वाला है। कर्म्मानुसार शुभाशुभ गतियों का भोक्ता एकमात्र वह प्राणात्मा ही है, जिसके वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ नामक तीन पर्व बतलाये गए हैं। अव्यक्तादि छओं खण्ड जहाँ धर्म्माधर्म्म–पुण्यपापादि शुभाशुभ संस्कारों के लेप से ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध न करते हुए संस्कारानुगता आत्मगति (कर्म्मगति) से पृथक् रहते हुए जहाँ केवल नियमित नित्यगति, तथा नियमित कालगति, इन दो गतियों से युक्त हैं, वहाँ वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ-मूर्त्ति, देहाभिमानी, अतएव 'देही' नाम से प्रसिद्ध प्राणात्मा (कर्म्मात्मा–भोक्तात्मा–जीवात्मा) ही क्षणिक

परिवर्त्तनरूपा नियमित नित्यगति के अतिरिक्त इस शरीर को छोड़ने के अनन्तर सूक्ष्मशरीर धारण कर कर्म्मानुसारिणी, अतएव सर्वथा अनियमिता कालगति (कर्म्मगति) का अनुगामी बनता है। अनियमित कालगति लक्षणा, कर्म्मगतिरूपा, इस आत्मगति का एकमात्र देही–कर्म्मात्मा से ही सम्बन्ध है, जिसे कि प्रत्यगात्मा भी कहा जाता है। अतएव इसे इस गति प्रकरण में हम **'गत्यारूढप्रत्यगात्मा'** नाम से व्यवहृत कर सकते हैं।

गत्यारूढ प्रत्यगात्मा की नित्यगति, अनियमित कालगति, इन दोनों गतियों में से नित्यगति के **'भावगति, अवस्थागति'** भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। क्षणिक परिवर्त्तन के कारण प्रत्यगात्मा के वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ नामक तीनों आत्मपर्व स्वप्रभव भूतपार्थिव त्रिवृत्तस्तोमावच्छिन्न विराडग्नि, आन्तरिक्ष्य पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न हिरण्यगर्भवायु, दिव्य एकविंशस्तोमावच्छिन्न सर्वज्ञ, इन तीनों आधिदैविकपर्वो के साथ 'प्रहितां–संयोगः' प्रयुतां संयोगः, रूप से अवारपारीण, एति–प्रेति भावात्मिका गायत्री द्वारा (गायत्री सूत्र द्वारा) गमनागमन होता रहता है। यही इस प्रत्यगात्मा की नियमित नित्यगति है।

उक्त नित्यगति के अतिरिक्त 'भावगतिषट्क' का भी प्रत्यगात्मा के साथ समन्वय हो रहा है। क्षणिक क्रियाओं की समष्टि से, दूसरे शब्दों में क्षणिकक्रियानुगत सन्तानात्मक धराषण के आधार से जन्म से (शरीरोदय क्षण से) आरम्भ कर मृत्युपर्य्यन्त (शरीरावसान पर्य्यन्त) प्रत्यगात्म संस्था में—**"जायते**[१]**–अस्ति**[२]**–विपरिणमते**[३]**–वर्द्धते**[४]**–अपक्षीयते**[५]**–विनश्यति**[६]**"** इन ६ भावविकारों का भी सम्बन्ध रहता है। यही पहला भावगतिषट्क है। क्षणिकक्रियावत् यह भावगतिषट्क भी सर्वथा नियमित है। इसके अतिरिक्त **'जाग्रत**[१]**–स्वप्न**[२]**–सुषुप्ति**[३]**–मोह**[१]**–मूर्च्छा**[२]**–मृत्यु**[३]**'** इन ६ अवस्थाओं का भी प्रत्यगात्मा के साथ सम्बन्ध रहता है। इसे **अवस्थागति** शब्द से ही व्यवहृत करेंगे। अवस्था भेद भिन्न यह भावगतिषट्क कालगति की भाँति अनियमित है। बाल–युवा–वृद्ध–तरुणादि अवस्थारूप भावगतियों का पूर्व के नियमित–षड्भावविकारात्मक नियमित भावगतिषट्क में ही अन्तर्भाव है। निष्कर्ष यही निकला कि नियमित क्षणिकगति, नियमित षड्भावविकारगति, इन दोनों की समष्टि तो नियमित भावगति लक्षण नित्यगति है, एवं अनियमित षड्वस्थात्मिकागति अवस्थागति लक्षण नित्यगति है। इस प्रकार नित्यगति के गर्भ में क्षणगति, भावविकारगति, अवस्थागति इन गतियों का अन्तर्भाव हो जाता है।

विविध भागभिन्ना नित्यगति के अतिरिक्त लक्षीभूता 'कालगति' हमारे सामने आती है। कालगति से यहाँ मृत्यु अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि मृत्युकालात्मिका कालगति का तो अवस्थागति में ही अन्तर्भाव हो जाता है। यहाँ कालगति शब्द से यह परलोकगति अभिप्रेत है, जो स्थूल शरीर विनाश के आलम्बन प्रत्यगात्मा के स्वर्ग-नरकादि लोकानुगमनों का आश्रय बनती है। फलतः प्रकृत प्रकरण में इत्थंभूता कालगति का ही आत्मगति शब्द से ग्रहण करना न्याय सिद्ध बनता है। इस कालगति के आगे जाकर अवान्तर अनेक

भेद हो जाते हैं, जिनका अगले परिच्छेदों में संक्षेप से दिग्दर्शन कराया जाने वाला है। 'किस कर्म्मसंस्कार से कौनसी कालगति प्राप्त होती है ? इस प्रश्न का समाधान ही प्रकृत प्रकरण का मुख्य उद्देश्य है।

इसी सम्बन्ध में एक स्पष्टीकरण और कर लीजिए। नित्यगति के प्रधानतः क्षणिकगति, जायते-अस्तीत्यादिरूपा षड्भाव विकारगति, जाग्रत-स्वप्नादिरूपा षडवस्थागति, भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। चौथी अनेक भेदभिन्ना कालगति है। इस प्रकार सम्भूय दो गतियों के (पहली गति के तीन, दूसरी गति का एक) चार विवर्त्त हो जाते हैं। इन चारों गति विवर्त्तों को हमने यद्यपि सामान्यतः प्रत्यगात्मा से सम्बन्ध बतलाया है। तथापि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि इन चारों गतियों के प्रधान आलम्बन प्रत्यगात्मा के चार पर्व ही बनते हैं। अन्नमयकोशाधिष्ठित प्राण-मयकोशानुगत वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञलक्षण कर्म्मात्मा ही प्रत्यगात्मा है। इसी को गत्यारूढ माना जा रहा पार्थिव शरीर इसका प्रथम पर्व है, पार्थिवशरीरावच्छिन्न आग्नेय वैश्वानर इसका दूसरा पर्व है, पार्थिव-शरीर-आग्नेयवैश्वानरावच्छिन्न वायव्य तैजस इसका तीसरा पर्व है, एवं शरीर-वैश्वानर-तैजसावच्छिन्न ऐन्द्र प्राज्ञ इसका चौथा पर्व है। नित्यगति से सम्बन्ध रखने वाली क्षणगति का प्रधानतः पार्थिव शरीर से सम्बन्ध है। नित्यगति से सम्बन्ध रखने वाली जायते-अस्तीत्यादि लक्षण भावगति का प्रधानतः शरीरावच्छिन्न वैश्वानरपर्व से सम्बन्ध है। नित्यगति से सम्बन्ध रखने वाली जाग्रदादिलक्षण अवस्थागति का प्रधानतः शरीर-वैश्वानरावच्छिन्न तैजसपर्व से सम्बन्ध है, एवं कालगति लक्षण विविध भेदभिन्ना आत्मगति का प्रधानतः शरीर-वैश्वानर-तैजसावच्छिन्न प्राज्ञपर्व से सम्बन्ध है। इस विश्लेषण से धातु-लक्षण असंज्ञ जीवों से, तथा मूललक्षण अन्तःसंज्ञ जीवों से सम्बन्ध रखने वाले गतिभावों का भी भलीभाँति समन्वय हो जाता है। पाषाण-लोष्ठादि में पार्थिवशरीरावच्छिन्न केवल वैश्वानर का विकास है। अतएव इनमें पार्थिवशरीरानुगता क्षणगति, शरीरावच्छिन्न वैश्वानरानुगता भावगति इन दो गतियों का ही साम्राज्य है। तैजसपर्वानुगता-जाग्रदादि लक्षण अवस्थागति का इन असंज्ञ धातु जीवों में अभाव है। लता-गुल्म-वृक्षादि मूल जीव हैं। इनमें पार्थिवशरीर-वैश्वानरावच्छिन्न-तैजस का विकास है, प्राज्ञ का अभाव है, अतएव इन्हें 'अन्तःसंज्ञ' कहा जाता है। प्राज्ञाभाव से किंवा प्राज्ञ की उन्मुग्धता से इनमें पार्थिवशरीरा-नुगता क्षणगति, पार्थिवशरीरावच्छिन्न वैश्वानरानुगता भावगति, पार्थिवशरीर-वैश्वानरावच्छिन्न-तैजसा-नुगता अवस्थागति, इन तीन-तीन गतियों का ही साम्राज्य है। प्राज्ञपर्वानुगता-कालगतिलक्षण-परलोकगति का इन अन्तःसंज्ञ मूलजीवों में अभाव है। अस्मदादिससंज्ञ जीवों में प्राज्ञ का भी विकास है। इसमें भी मानव सृष्टि में प्राज्ञकला का पूर्ण विकास है। अतएव तीनों नित्यगतियों के साथ-साथ इस कर्मगतिलक्षण आत्मगति का मानवसर्ग के साथ ही प्रधान सम्बन्ध है। प्रत्यगात्मा के इन गतिभावों को लक्ष्य में रखिए, साथ ही प्राज्ञपर्वानुगता परलोकगतिलक्षण आत्मगति को प्रधान प्रतिपाद्य मानिए, अनन्तर क्रम-प्राप्त गतिनिमित्तों का समन्वय कीजिए—

अयमत्रसंग्रहः—

गतिद्वयी	विवरण
अव्यक्तगतिद्वयी १	शारीरस्याव्यक्तात्मनः–सत्यसूत्र द्वारा स्वायम्भुवे प्राणलोकेऽहरहर्गमनम्→अव्यक्तस्य नित्यगतिः
	,, ,, ,, प्राप्तकालेगमनम्→अव्यक्तस्य नियमिताकालगतिः
यज्ञगतिद्वयी २	शारीरस्य यज्ञात्मनः—ऋतसूत्र द्वारा——पारमेष्ठ्येऽब्लोकेऽहरहर्गमनम्——→यज्ञस्य नित्यगतिः
	,, ,, ,, प्राप्तकालेगमनम्→यज्ञस्य नित्य कालगतिः
विज्ञानगतिद्वयी ३	शारीरस्य विज्ञानात्मनः—महापथा—सौरे वाग्लोकेऽहरहर्गमनम्——→विज्ञानस्य नित्यगतिः
	,, ,, ,, प्राप्तकालेगमनम्——→विज्ञानस्य नित्यकामगतिः
म०प्र० गतिद्वयी ४	शारीरयोर्महत्प्रज्ञानात्मनोः–श्रद्धासूत्र द्वारा चान्द्रे अन्नलोकेऽहरहर्गमनम्→म.प्रज्ञानयोर्नित्यगतिः
	,, ,, ,, प्राप्तकालेगमनम्→म०प्रज्ञानयोर्नित्यकालगतिः
शरीरगतिद्वयी ५	पाञ्चभौतिकस्य शरीरस्य—सूत्रवायुद्वारा भौमेऽन्नादलोकेऽहरहर्गमनम्——→शरीरस्य नित्यगतिः
	,, ,, ,, प्राप्तकालेनिधनम्→शरीरस्य निन्यकालगतिः

प्रत्यगात्मनो नित्यागतिः—

नि—त्या—ग—तिः

१

३ प्राज्ञपर्वस्य गायत्रीसूत्र द्वारा स्वप्रभवे दिव्ये-एकविंशस्तोमावच्छिन्नेसर्वज्ञेऽहरहर्गतिः

२ तैजसपर्वस्य गायत्रीसूत्र द्वारा स्वप्रभवे ग्रान्तरीक्षे पञ्चदशस्तोमावच्छिन्ने हिरण्यगर्भेऽहरहर्गतिः

१ वैश्वानरस्य गायत्रीसूत्र द्वारा स्वप्रभवे पार्थिवेत्रिवृत्स्तोमावच्छिन्ने विराडग्नावहरहर्गतिः

नियमितानित्यागतिः (अग्र्यागतिः प्रथमा)

२

१—जायते→प्रथमो भावविकारः

२—ग्रस्ति→द्वितीयो भावविकारः

३—विपरिणमते→तृतीयो भावविकारः

४—वर्द्धते→चतुर्थो भावविकारः

५—ग्रपक्षीयते→पञ्चमो भावविकारः

६—विनश्यति→षष्ठो भावविकारः

क्रमशः षड्भावविकाराणांनियमितरूपेणानुगमनमेव—वैश्वानर—तैजस—प्राज्ञमूर्त्तेः प्रत्यगात्मनो नियमिता—भावगतिर्नाम्नी द्वितीया नित्यगतिः

३

१—जाग्रदवस्था—महत्—विज्ञान—प्रज्ञान—जाग्रदवस्थालक्षणा

२—स्वप्नावस्था—महत्—विज्ञान जाग्रदवस्थालक्षणा

३—सुषुप्त्यवस्था—महज्जाग्रदवस्थालक्षणा

४—मोहावस्था—जाग्रत्—सुषुप्त्योरन्तः पतितावस्था

५—मूर्च्छावस्था—प्रत्याहृतमनोऽनुगतावस्था

*६—मृत्यु—ग्रवस्था—महन्निर्गमनलक्षणावस्था

ग्रनियमितरूपेण षड्वस्थानुगमनमेव प्रत्यगात्मनोऽनियमिता ग्रवस्थागति-र्नाम्नीतृतीया नित्यगतिः

---

*शरीरनिधनान्तर-परलोकगतिलक्षणा प्रत्यगात्मनः कर्म्मानुसारिणीसम्परायगतिरेव-ग्रनियमिता कालगतिरत्रप्रकरणे-ग्रात्मगतिः, सैवात्र मीमांस्या ।

तदित्थंप्रत्यगात्मनि–शरीरदशायां (स्थूलशरीरदशायां) क्षणिकनियमित-नित्यगतेः, नियमितनित्यभावगतेः, अनियमितनित्यानित्यावस्थागतेः–समन्वयः। शरीरनिधनानन्तरं तु–सूक्ष्मशरीरदशायां–कर्म्मानुगताया आत्मगतेः कालगतेः सम्बन्धः। इत्थं च गतिद्वयावच्छिन्नः प्रत्यगात्मा अवान्तरभेदैर्गतिचतुष्ट्या-युक्तो भवति—

(१) पञ्चभूतविकारात्मकमन्नमयंशरीरम्→क्षणगतेरालम्बनम्
(२) पार्थिवशरीरावच्छिन्नो–वैश्वानरः→भावगतेरालम्बनम्
(३) पा०शरीर-वैश्वानरावच्छिन्नः-तैजसः→अवस्थागतेरालम्बनम्
]→नित्यागतिः—जीवितस्य

(४) पा०श०–वैश्वा०तै०अवच्छिन्नः–प्राज्ञः→कालगतेरालम्बनम्]→कालगतिः—प्रेतस्य

१ {१—पञ्चभूतविकारमयंपार्थिवं शरीरम्
२—शरीरावच्छिन्नोऽर्थप्रधानो वैश्वानरः} →धातुजीवाः—असंज्ञाः (वैश्वानरप्रधानाः)

२ | १—शरीर वैश्वानरावच्छिन्नस्तैजसः]→मूलजीवाः—अन्तसंज्ञाः (तैजसप्रधानाः)

३ | २—शरीर वै०तैजसावच्छिन्नः प्राज्ञः]→जीवजीवाः—ससंज्ञाः (प्राज्ञप्रधानाः)

१
धातुजीवानां—शरीरावच्छेदेन–क्षणगतिः (१)
वैश्वानरावच्छेदेन–भावगतिः (२)
} →नात्र–अवस्थागतिः, नापि वा कालगतिः

२
मूलजीवानां—शरीरावच्छेदेन–क्षणगतिः (१)
वैश्वानरावच्छेदेन–भावगतिः (२)
तैजसावच्छेदेन–अवस्थागतिः (३)
} →नात्र–कालगतिः

३
जीवजीवानां—शरीरावच्छेदेन–क्षणगतिः (१)
वैश्वानरावच्छेदेन–भावगतिः (२)
तैजसावच्छेदेन–अवस्थागतिः (३)
प्राज्ञावच्छेदेन–कालगतिः (४)
} →अत्र च सर्वगतिसमन्वयः

आत्मगत्यारूढप्रत्यगात्मा कौन (जिसकी कर्म्मगति मीमांस्य है ?) इस प्रश्न का निष्कर्षतः यही उत्तर है कि, सूक्ष्मशरीर (आतिवाहिक सूक्ष्मशरीर) से युक्त, वैश्वानर–तैजसगर्भित प्राज्ञ आत्मा ही स्थूल शरीरावस्था में कृत शुभाशुभ कर्म्मसंस्कारों से युक्त रहता हुआ कामयमान वह प्रज्ञात्मा है, जिसे नियतपन्था का अनुगमन करते हुए कर्म्मगति का आश्रय लेना है ।

आत्मोत्क्रान्तिनिमित्तानि-(उत्क्रान्तिपरिचायकाश्च)—

निरूपणीया आत्मगति के **'उत्क्रान्तिगति, लोकगति'** भेद से दो विवर्त्त किए जा सकते हैं । इन दोनों आत्मगतियों में उत्क्रान्ति का स्थूलशरीर से सम्बन्ध है, एवं लोकगति का सूक्ष्मशरीर से सम्बन्ध है । पूर्व के परिच्छेद में आत्मगतियों के प्रधानतः 'नित्यगति, कालगति' भेद से दो विवर्त्त बतलाए थे । साथ ही जीवितदशा से सम्बन्ध रखने वाली आत्मगति के क्षणगति, भावगति, अवस्थागति ये तीन विवर्त्त बतलाए गए थे एवं अनेक भेदभिन्ना दूसरी कालगति का स्पष्टीकरण हुआ था । तीनों नित्यगतियों में से तीसरी 'अवस्थागति' नाम की नित्यगति में जाग्रदादि सात अवान्तर गतियों का स्पष्टीकरण हुआ था । इन सातों में सातवीं मृत्यु अवस्थालक्षण आत्मगति (नित्यागति) 'उत्क्रान्तिगति' है एवं प्रेतभावापन्ना कालगति ही लोकगति है । उत्क्रान्तिगतिलक्षण अवस्थागति का, दूसरे शब्दों में मृत्युअवस्था प्राप्ति का क्या निमित्त ? साथ ही कालगति लक्षण आत्मगति (परलोकगति) का क्या निमित्त ? किन कारणों से तो

स्थूलशरीर में प्रतिष्ठित प्रत्यगात्मा मृत्यु-अवस्था में (उत्क्रान्ति गति में) परिणत होता है ? एवं किन कारणों से इसे सूक्ष्मशरीर धारण कर तत्तल्लोकगतियों का आश्रय लेना पड़ता है ? यह प्रश्न है। इनमें लोकगति लक्षण आत्मगति (कालगति) के नियमित ८ निमित्तों का तो अगले **'आत्मगतिनिमित्तानि'** नामक अगले परिच्छेद में विस्तार से निरूपण किया जायगा एवं प्रकृत परिच्छेद में उत्क्रान्तिलक्षण आत्मगति (नित्यागति–मृत्युअवस्थागति) के निमित्तों का दो शब्दों में स्पष्टीकरण अभिप्रेत है।

यद्यपि मृत्युलक्षण उत्क्रान्ति का तत्त्वतः कालगतिलक्षण परलोकगति में ही अन्तर्भाव है। क्योंकि **"अथ यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति, तावज्जानाति"** (छां० ८।६।४) इत्यादि छान्दोग्य श्रुति के अनुसार 'उत्क्रान्ति' शब्द स्थूल शरीर के अनन्तर ही चरितार्थ होता है, तथापि इसी छान्दोग्य श्रुति के अनुसार उत्क्रान्ति का सम्बन्ध जीवित दशा में भी सिद्ध हो जाता है। तभी तो मृत्युगति का जीवित-गति में (अवस्थागति) में अन्तर्भाव माना गया है। मरणासन्न व्यक्ति के निकटतम बन्धुबान्धव व्यक्ति इसकी शय्या के आस-पास बैठ जाते हैं, और सम्बोधन करते हुए—"हमें जानते हो, हम कौन हैं ?' इत्यादि प्रश्न किया करते हैं। जब तक इस मुमूर्षु का आत्मा शरीर से उत्क्रान्त नहीं हो जाता, तब तक यह इनके प्रश्न को भी समझता हैं, एवं शक्य मन्दवाणी से, अथवा तो हस्तादि के संकेत से, अथवा तो नेत्रादि द्वारा उत्पन्न भावविशेषों से अपनी जीवित दशा का परिचय भी दिया करता है। मुमूर्षु की इसी जीवित दशा का छान्दोग्य श्रुति ने निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

"अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति, तमभित आसीना आहुः जानासि मां, जानासि मां–इति। स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति, तावज्जानाति।"

(छां०उ० ८।६।४)।

उक्त छान्दोग्य श्रुति का निष्कर्ष यही है कि, जब तक मुमूर्षु व्यक्ति की इन्द्रियाँ थोड़ा बहुत भी कार्य करती रहें, तब तक तो इसे अनुत्क्रान्त समझना चाहिए, एवं जब सारी चेष्टाएँ एकान्ततः उपरतः हो जायँ, तब इसे उत्क्रान्त समझ लेना चाहिए। इस उत्क्रान्ति की ही शरीर दशा, शरीराभाव भेद से दो अवस्था हो जाती है। **'यावदनुत्क्रान्तो भवति, तावज्जानाति'** (छां०उ० ८।६।४) इस अनुत्क्रान्ति अवस्था के, तथा—**'अथ यत्रैतस्माच्छरीरादुत्क्रामति"** (छां०उ० ८।६।५) इस उत्क्रान्ति अवस्था के, दोनों के मध्य में अनुत्क्रान्ति–उत्क्रान्ति, दोनों अवारपारीण धर्म्मों से युक्त एक मध्यस्था तीसरी अवस्था उसी प्रकार प्रतिष्ठित है, जैसे जाग्रत्–सुषुप्ति के मध्य में दोनों धर्म्मों से युक्त एक तीसरी मुग्धावस्था (मोहावस्था) और प्रतिष्ठित रहती है। मोहावस्थापन्न व्यक्ति में जाग्रत्–सुषुप्ति, दोनों के धर्म्म रहते हैं। यह एक प्रकार की ऐसी स्तब्धावस्था है, जिसे न सोना ही कहा जा सकता, न जागना ही। जाग्रदवस्था में कर्म्मप्रवणतालक्षण इन्द्रियों के जो नियमित–सुव्यवस्थित व्यापार होने चाहिए, उनका भी यहाँ अभाव है, एवं सुषुप्ति में जो व्यवस्थित इन्द्रिय व्यापारोपरति देखी जाती है, उसका भी यहाँ अभाव है। अतएव इस मोहावस्था के सम्बन्ध में **"मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः"** (ब्रह्मसूत्र) यह व्यवस्था हुई। सर्वाङ्गशरीर चेष्टाओं

का एकान्ततः लुप्त हो जाना आत्मोत्क्रान्ति की सूचना है, चेष्टानुगति आत्मानुत्क्रान्ति की परिचायिका है"। एक अवस्था ऐसी भी है, जिसमें चेष्टानुगति का भी आत्यन्तिक अभाव नहीं होता, साथ ही चेष्टाओं का विकास भी नहीं रह जाता है। उभयधर्म्मविछिन्ना, अतएव मुग्धावस्था–समतुलिता यही मध्यावस्था प्रकृत में 'जीवितदशानुगताउत्क्रान्ति' से ग्राह्य है।

सम्पूर्ण शारीरप्राण (कर्म्मेन्द्रियाँ) व्याननाड़ियों के द्वारा (जिनका नाडी-निमित्त प्रकरण में विश्लेषण होने वाला है) हृदय स्थान में आ जाते हैं। चक्षु–घ्राण–रसना–श्रोत्र–त्वक् पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ हृदयस्थ मुख्यप्राण में अपीत हो जाते हैं। इस अवस्था में आकर मुमूर्षु की सारी बाह्य इन्द्रिय चेष्टाएँ विलुप्त हो जाती हैं। इस अवस्था में आकर न देखता, न सूंघता, न स्वाद ग्रहण करता, न सुनता, न स्पर्श का अनुभव करता, न हाथ-पैर हिलाता। इस समय केवल हृदय स्थान में थोड़ी धड़कन रहती है। यह धड़कन जहाँ इसका एकमात्र अनुत्क्रान्तिभाव का लक्षण है, वहाँ इतर सम्पूर्ण चेष्टाएँ उत्क्रान्ति के लक्षण हैं। यही वह मध्यमावस्था है, जिसे हम जीवितदशानुगताउत्क्रान्ति (मृत्यु) कहा करते हैं। इस दशा में परिणत व्यक्ति के सम्बन्ध में तत्स्वजनों के मुख से—"अब सब समाप्त हो गया" शब्द निकलता है। इसी मध्यमावस्था का स्पष्टीकरण करती हुई बृहदारण्यक श्रुति कहती है—

"स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येति, अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति। स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति। स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्य्यावर्तते, अथारूपज्ञो भवति। एकीभवति। न पश्यतीत्याहुः, न जिघ्रतीत्याहुः, न रसयत इत्याहुः, न वदतीत्याहुः, न स्पृशतीत्याहुः, न विजानातीत्याहुः। तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते। तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति–चक्षुष्टो वा, मूर्ध्नो वा, अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः। तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति। प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वेप्राणा अनूत्क्रामन्ति। स विज्ञानो भवति, सविज्ञानमेवान्ववक्रामति। तं विद्या कर्म्मणी समन्वारभेते, पूर्वप्रज्ञा च।"

(बृ०उ० ४।४।१, २)

• इसी मध्यमावस्था के सम्बन्ध से उक्त श्रुति से आगे की बृहदारण्यक श्रुति चरितार्थ होती है। अभी जीवात्मा अपने वर्त्तमान स्थूलशरीर में आसक्त है। जब तक इस वर्तमान शरीर के साथ इसका ममत्व है, तब तक सम्पूर्ण इन्द्रियाँ काम करती रहती हैं एवं इसी अवस्था के लिए—'**यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति**' कहा जाता है। इस दशा में मुमूर्षु जीवात्मा की मोहमात्रा अतिशय रूप से जाग्रत हो जाती है। स्वपुत्र–कलत्रों की भावी चिन्ता से, स्वार्जित सम्पत्ति की व्यवस्था से नितान्त

दुःखी हो जाता है, रोने लगता है, बन्धुवर्ग भी क्षुब्ध हो जाता है। इसी आत्यन्तिक मोहाक्रमण से, अब मैं न बचूंगा, इस विभीषिका से परलोकगति सहायक भगवन्नामस्मरण की ओर भी प्रवृत्ति नहीं होती।* जिस प्रकार बुझता दीप आत्यन्तिकरूप से प्रज्ज्वलित होकर अन्ततः शान्त हो जाता है, एवमेव आत्यन्तिक विभिषिका से क्षुब्ण प्राण (इन्द्रियप्राण) स्व-स्व प्रतिष्ठा स्थानों को छोड़कर व्यान नाड़ियों द्वारा हृदय में सञ्चित होते हुए क्षणमात्र के लिए प्रत्यगात्मचैतन्य विकास के कारण बन जाते हैं, अनन्तर ही आत्मा सप्राणपरिग्रह उत्क्रान्त हो जाता है।

जब तक प्राणवर्ग स्व-स्व स्थान में प्रतिष्ठित है, संज्ञा जाग्रत है। इस संज्ञा का उस योगमाया-बन्धन से सम्बन्ध है, जो इस प्राणी के भूमिष्ठ होने पर इसके शिशुशरीर में संक्रान्त हुई थी। जब तक प्राणी गर्भ में रहता है, तब तक योगमाया का वेष्टन नहीं होता। फलतः गर्भाशयगत अवस्था में प्राणी की अन्तःप्रज्ञा विकसित रहती है। इसी पूर्वप्रज्ञा विकास से गर्भदशा में प्राणी के सामने सम्पूर्ण लोक-स्थितियाँ प्रत्यवत् उपस्थित रहती हैं। इसी प्रज्ञा के अनुग्रह से इस दशा में संसार बन्धन का वास्तविक स्वरूप चित्रण इसके सामने विद्यमान हो जाता है। इसी आत्मबोध से यह इस अवस्था में संकल्प करता है कि, अब इस जन्म में मैं कभी भूल कर भी ऐसा कर्म्म नहीं करूंगा, जो पुनः जन्मचक्र प्रवृत्ति का कारण बन जाय। गर्भाशयगत, योगमाया विरहित, अतएव लब्धप्रज्ञ गर्भी की इसी सद्भावना का श्रुति ने निम्नलिखित शब्दों में अभिनय किया है—

अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकरण सम्पूर्णो भवति, पूर्वजातिं स्मरति, शुभाशुभं च कर्म्म विन्दति—(कथयति च)—

पूर्वयोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाःस्तनाः ॥१॥

जातस्यैव मृतस्यैव जन्म चैव पुनः पुनः।
अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् ॥२॥

एकाकी तेन दह्यामि गतास्ते फलभोगिनः।
यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म्म शुभाशुभम् ॥३॥

---

*कृष्णस्त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते-अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफ-वात-पित्तैः कण्ठावरोधनविधौस्मरणं कुतस्ते ॥

यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत् प्रपद्ये महेश्वरम् ।
अशुभक्षयकर्त्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ।।४।।

यदियोन्याः प्रमुच्येऽहं तत् सांख्यं योगमभ्यसे ।
अशुभक्षय कर्त्तारं फलमुक्ति प्रदायकम् ।।५।।
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं ध्याये ब्रह्म सनातनम् ।" (गर्भोपनिषत् ३-५)

"नवम मास में सर्वावयव लक्षण बनता हुआ ज्ञान-इन्द्रियादि साधनों से युक्त होता हुआ प्राणी पूर्णात्मिक बन जाता है । इसी अवस्था में आकर विकसित प्रज्ञा के प्रभाव से इसे अपनी पूर्वजातियों (जन्मों) का स्मरण होता है, अतीत जन्मों में इसने जो कुछ भले-बुरे कर्म्म किए थे, उन सबके परिणाम इसके सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं । इन सांस्कारिक शुभाशुभ कर्म्मकषायों से क्षुब्ध गर्भी कहने लगता है कि—मैंने हजारों योनियाँ प्राप्त की, विविध प्रकार के आहार-विवार किए, सहस्रों माताओं का स्तनपान किया, उत्पन्न हुआ, फिर मर गया, पुनः उत्पन्न हुआ, पुनः मर गया, इस प्रकार जन्म-मृत्यु-चक्र में पिसता रहा । मैंने मोहवश स्वपरिवार को सुखी बनाने के लिए जो भले-बुरे काम किए, उन सब के भले-बुरे संस्कारों का कुफल तो मुझे भोगना पड़ रहा है एवं तात्कालिक लाभ उठाने वाले आज मेरे इस कुफल भोग में कोई थोड़ा भी सहयोग नहीं दे रहे । इन परिस्थितियों से क्लान्त प्राणी भविष्य के लिए प्रतिज्ञा करता है कि—

"यदि इस बार योनि संकट से मैं छूट जाऊँगा तो निश्चयेन ज्ञानप्रद शिव में आत्मसमर्पण कर दूंगा, जोकि शिवतत्त्व भुक्ति-मुक्ति के प्रदाता हैं। निष्काम कर्म्मयोग तथा ज्ञानयोग का अनुगमन करूँगा, सनातन ब्रह्म का ध्यान करूँगा । अहो ! सचमुच संसार दुःख का समुद्र है । सिवाय भगवच्छरणगति के इससे त्राण पाने के लिए दूसरा द्वार नहीं है ।"

होता क्या है ? सुनिए ! जिस प्रकार एक स्वस्थ-पूर्णप्रज्ञ मनुष्य पाषाणादि के प्रबल आघात से तत्क्षण संज्ञाशून्य हो जाता है, सारी सुध-बुध खो बैठता है, ठीक इसी प्रकार एवयामरुत् के प्रत्याघात से योनिद्वार पर उपस्थित प्राणी योनियन्त्र से यन्त्रित होकर इस असह्य पीड़ा से पीड्यमान बनता हुआ आत्यन्तिक दुःख से आक्रान्त हो जाता है । यही दुःखाक्रमण इसकी पूर्वप्रज्ञाविलुप्ति का एक कारण है । जब योनियन्त्र से छुटकारा पाकर यह भूमिष्ट होता है, तो उत्पत्ति के अव्यवहितोत्तरक्षण में ही यह त्रैलोक्य-व्यापक किंवा विश्वव्यापक अशनायाधर्म्मानुगत-वैष्णववायुतत्वात्मक योगमायानुबन्ध से युक्त हो जाता है । **'हवा लगी संसार की हो गया बारा बाट'** इस लोकसूक्ति के अनुसार विश्ववायु (वैष्णववायु-योगमाया) से वेष्टित होते ही इसकी रही सही पूर्वप्रज्ञा भी अभिभूत हो जाती है । फलस्वरूप पूर्वजाति, शुभाशुभ-संस्कारस्मृति, कृतप्रतिज्ञाएँ, सब कुछ योगमायानुग्रह से स्मृतिगर्भ में विलीन हो जाते हैं ।* प्रकट हो जाती

*__नाहंप्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः ।__ (गीता)
योगमाया हरेश्चैतत् तया संमोह्यते जगत् ।। (सप्तशती)

है—वैष्णवी–योगमायानुगत–अन्नदानलक्षण वह अशनाया, जिसके प्राकट्य से उत्पन्न शिशु रोदन द्वारा अन्नादान की कामना प्रकट करने में समर्थ होता है। इसी योगमायोदय स्थिति का स्पष्टीकरण करती हुई उपनिषच्छ्रुति आगे जाकर कहती है—

"अथ योनिद्वारं सम्प्राप्तोयन्त्रेणापीड्यमानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेनवायुना संस्पृष्टः। तदा न स्मरति जन्ममरणानि, न व कर्म्म शुभाशुभं-विन्दति।" (गर्भोपनिषत् ४)।

उक्त विवेचन से हमें यह मान लेना पड़ा कि, प्राणी की जन्म–मृत्यु, नाम की दोनों अवस्थाएँ एतच्छरीरानुगत मायाबन्धनाभाव, एतच्छरीरानुगतयोगमायाबन्धनप्रवृत्तिक्षण, एतच्छरीरानुगतयोगमायाबन्धन-निवृत्तिक्षण एवं एतच्छरीरानुगतयोगमायाबन्धनाभाव, इन चार अनुबन्धों से चार प्रकार की हो जाती हैं। प्रथम जन्मावस्था गर्भशरीर से सम्बन्ध रखती है। शुक्र-शोणित के मिथुनभाव में औपपातिक आत्मा का कर्म्मानुसार हीन-श्रेष्ठ-मिथुनभाव में प्रविष्ट होना इसकी प्रथम जन्मावस्था है। इस जन्मावस्था में (गर्भावस्थापर्य्यन्त–नवमासपर्य्यन्त) स्थूलशरीरानुगतायोगमाया के बन्धन का अभाव है। भूमिष्ठ होना द्वितीय जन्मावस्था में (भूमिष्ठ होने से मरणशय्यानुगति पर्य्यन्त) स्थूलशरीरानुगता योगमाया के बन्धन के साम्राज्य है। जब तक शारीरप्राण सिमट कर हृदय में नहीं आ जाते, तब तक (पहले-पहले) इस योगमाया का प्रभुत्व है। शारीरप्राणों के संकुचित होने का अर्थ है, स्थूलशरीरानुगता योगमाया के बन्धन का निवृत्तिक्षण। यही निवृत्तिक्षण इसकी प्रथम मरणावस्था है। यहाँ से प्राणोत्क्रान्ति पर्य्यन्त स्थूलशरीरानुगता योगमायाबन्धन की गर्भावस्थावत् निवृत्ति है, यही द्वितीय मरणावस्था है, जिसका देहत्याग पर अवसान है। जिस प्रकार द्वितीय जन्मावस्था से पहले गर्भ नाम की प्रथम जन्मावस्था में प्रज्ञा का विकास रहता है, एवमेव इस द्वितीय मरणावस्था में भी योगमायाबन्धन निवृत्ति से प्रज्ञा का विकास हो जाता है। सारी स्थिति सामने आ जाती है, वही दुःखावस्था जाग्रत हो जाती है। हृदयस्पन्द ही इस अवस्था का भोग काल है। चूंकि इस अवस्था में स्थूलशरीरममत्व छूट जाता है, सूक्ष्म आतिवाहिकशरीरममत्त्व उत्पन्न हो जाता है, भावी शरीर प्रज्ञान क्षेत्र में संस्काररूप से प्रतिष्ठित हो जाता है। अतएव यह कहना अन्वर्थ बनता है कि—"जैसे तृणजलौका अन्य तृण को आलम्बन बना कर पूर्व तृणान्त को छोड़ता है, वैसे ही जीवात्मा जब अन्य (सूक्ष्म) शरीर को भावना संस्कार (रूप से) लक्ष्य बना लेता है, तभी पूर्वशरीर को छोड़ता है।"*

पूर्व शरीरान्तदशा में अन्य सूक्ष्मशरीर की स्वरूप, भावना संस्कारात्मक है, इस सम्बन्ध में श्रुति ने एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त उपस्थित किया है। एक शिल्पी (चित्रकार) चित्र निर्म्माण से पहले अपने प्रज्ञानपटल पर भावी चित्र का मानसिक चित्र स्थापित करता है। अनन्तर इसे पुरः उपस्थित पट्ट-पटल पर पहले रेखारूप (आउट लाइन) से चित्रित करता है, अनन्तर तूलिका से रङ्ग-पूर्त्ति द्वारा आयतनपूर्त्ति

---

* **व्रजंस्तिष्ठनपदैकेन यथैवैकेनगच्छति। यथातृणजलौकेयं देही कर्म्मगतिं गतः॥**

कर उस आध्यात्मिक–भावनासंस्कारात्मक–बीजात्मक चित्र को भावनाचित्र के अनुरूप दे डालता है। ठीक यही घटना यहाँ घटित होती है। कर्म्मसंस्कार लक्षीभूत सूक्ष्मशरीर की भावना संस्काररूप से स्थूल शरीर-दशा में ही प्रतिष्ठित हो जाती है। अनन्तर (स्थूलशरीरत्यागान्तर) बाह्य सूक्ष्मभूतमात्राओं के समावेश से यह भावनात्मक शरीर सूक्ष्मभूतात्मक बन जाता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है—

"तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यआत्मानमुपसंहरति, एवमेवायमात्मा-इदं शरीरंनिहत्य अविद्यां गमयित्वाऽऽन्यमाक्रममाम्यात्मानमुपसंहरति।" (बृ०आ० ४।४।२)।

"स्थूलशरीरासक्ति छोड़ता हुआ उसे अपने ज्ञानक्षेत्र से पृथक् करता हुआ इसे तो भुला देता है, एवं भावनात्मक अन्य शरीर को ग्रहण कर इस स्थूल शरीर से अपने आपको समेट कर हृदय में आ जाता है।" यही तात्पर्य्य है। यह भी निश्चित है कि, जब तक इसकी स्थूलशरीर में आसक्ति रहती है, तब तक न तो इन्द्रिय प्राण ही स्व-स्थानों को छोड़ते, न चेतना ही विलुप्त होती, न पूर्वप्रज्ञा का ही उदय होता। हृदयावस्था में आ जाना ही इसकी स्थूलशरीर से निवृत्ति, तथा सांस्कारिक स्थूलशरीर की प्रवृत्ति है, एवं इस दृष्टि से दोनों शरीर समानकालिक हैं। अनन्तर—

"तद्यथा पेशस्कारी पेशसोमात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते (वर्णैः), एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्य-अविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते (भूतसूक्ष्मैः)–पित्र्यं वा, गान्धर्वं वा, दैवं वा, प्राजापत्यं वा, अन्येषां वा भूतानाम्।" (बृ०आ० ४।४।४)।

यद्यपि शुभाशुभकर्म्मानुसार इसे निकृष्ट–उत्तम दोनों में से कोई एकसा शरीर मिलता है। तथापि भोगायतनत्वेन सभी शरीर आत्मप्रिय बनते हुए कल्याणतर हैं। प्रत्येक प्राणी अपने-अपने शरीर को प्रिय समझता है। जिन कृमि–कीट–जलजन्तु आदि का शरीर हमारी दृष्टि में महावीभत्स, ग्लानिप्रद है, उन-उन प्राणियों के लिए वे-वे ही शरीर अत्यन्त प्रिय हैं। इसी स्वाभाविक प्रिय भाव को लक्ष्य में रख कर **"अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते"** कहा गया है।

१—नवमासात्मिका–अवस्था—प्रथमा जन्मावस्था (योगमायाभावः)→प्रज्ञोदयः

२—प्रसवावस्था——→द्वितीया जन्मावस्था } →योगमायाप्रवृत्ति→प्रज्ञानिभूतिः
३—मरणासन्नावस्था——→प्रथमा मरणावस्था }

४—हृद्यागमनावस्था——→द्वितीया मरणावस्था]→योगमायानिवृत्तिः→प्रज्ञोदयः
↓
ततः–शरीरादुत्क्रान्तिः

प्रथम जन्मावस्था में 'इदं च–परं–च जानाति' है। द्वितीय जन्मावस्था से प्रथम मरणावस्था भोग-पर्य्यन्त 'इदमेवजानाति, न परम्' है। द्वितीय मरणावस्था में—'इदं च–परं–च जानाति, परन्तु-न विचेष्टते' है। शरीरोत्क्रान्ति में भी उभयं–विजानाति है—"सविज्ञानमेवान्ववक्रामति।" प्रथम–मरणावस्था, अनुत्क्रान्ति है, शरीरादुत्क्रान्ति उत्क्रान्ति है, इस उत्क्रान्ति का कालगति लक्षण आत्मगति (परलोकगति) में ही अन्तर्भाव है। इन अनुत्क्रान्ति उत्क्रान्ति भावों के मध्य में प्रतिष्ठित द्वितीय मरणावस्थारूपा अवस्था भी शरीरबहिर्विनिर्गमाभाव से अनुत्क्रान्ति है, एवं शरीरासक्तिविरहभाव की अपेक्षा से उत्क्रान्ति है। दोनों उत्क्रान्ति पक्ष ही मुख्य है। क्योंकि—इस अवस्था में रहता हुआ भी शरीर सम्बन्ध बहिर्य्यामात्मक बनता हुआ ऐन्द्रियकभोग से वञ्चित होता हुआ स्वभोगायतन लक्षण से बहिष्कृत है। अतएव सप्तावस्थान्तर्गत इस उभयात्मिका–उत्क्रान्ति अवस्था को हमने उत्क्रान्ति ही मान लिया है। अतएव इसे शरीरादुत्क्रान्ति लक्षण–आत्मगति (कालगति) से पृथक् मान लिया है। इसी उत्क्रान्ति के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित है कि, किन कारणों से आत्मा इस उत्क्रान्ति अवस्था में परिणित हो जाता है? एतत् प्रश्न समाधि ही प्रकृत प्रकरण का मुख्य लक्ष्य है—

जिस प्रत्यगात्मा ने यावज्जीवन इस पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर को अपना भोगायतन बनाया, क्या कारण है कि, वह ऐसे प्रिय शरीरबन्धन को सहसा छोड़ बैठता है? क्या अपनी इच्छा से वह शरीर छोड़ता है? क्या मलिन वस्त्र की भाँति जीर्ण शरीर से इसे घृणा हो जाती है? क्या शरीरपरित्याग घृणामूलक है? 'नेतिहोवाच'। शरीर चाहे घृणित से घृणित अवस्था में परिणत हो जाय, अन्य व्यक्ति भले ही ऐसे शरीर का स्पर्श भी न करना चाहे, परन्तु उक्त—"**कल्याणतरं रूपं कुरुते**" सिद्धान्तानुसार जो इस घृणित भी शरीर में प्रतिष्ठित है, वह किसी भी दशा में इसे नहीं छोड़ना चाहता। ऐसी परिस्थिति में मानना पड़ेगा कि, यह आत्मा स्वशरीर परित्याग में स्वतन्त्र नहीं है, अपितु किसी प्राकृतिक निमित्तान्तर के उपस्थित होने से ही विवश बन कर इसे शरीर छोड़ना पड़ता है। वही प्राकृतिक निमित्त प्रकृत में मीमांस्य है।

जीवनधर्म्म का प्रतिद्वन्द्वी धर्म्म मृत्युधर्म्म है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि—'**जात्यायुर्भोगाः**' (न्या० भा०) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार जाति (योनि), आयु (जीवनसूत्र), भोग (भागधेय) तीनों जन्मान्तरीय कृत कर्म्मों से उत्पन्न तथा उक्थरूप से प्रत्यज्ञात्मा के प्राज्ञभाग पर प्रतिष्ठित सञ्चित सांस्कारिक कर्म्मों के ही उदर्क (परिणाम–फल) हैं। चूंकि सांस्कारिककर्म्मों का निमित्त एकमात्र प्रत्यगात्मानुगता उत्थाप्याकांक्षामूला जीवेच्छा ही थी, अतएव जीवन को भी हम जीवात्मनिबन्धन ही कहेंगे। कर्म्मानुसार जितना लम्बा जीवनसूत्र इसमें प्रतिष्ठित रहता है, इस जन्म में उस जीव को उतने नियमित समय पर्य्यन्त ही जीवित रहना पड़ता है। जीवसूत्रोपयिक कर्म्मसंस्कार के क्षीण हो जाने पर इसे यह शरीर छोड़ देना पड़ता है। इस प्रकार परम्परया स्वयं जीवेच्छासहकृत जीवकर्म्म संस्कार ही जीवन तथा तदवसान लक्षण मृत्यु, दोनों का निमित्त बन रहा है। कर्म्मसंस्कारदृष्टि से जीवनसूत्र भोगकाल भी नियत है, यही इसकी कालिक जीवनगति है, एवं जीवनसूत्रावसानकाल भी नियत है, यही इसकी कालिक मृत्यु है। इसी नियत कालिक जीवन–मृत्युभावद्वयी को लक्ष्य में रख कर कहा जाता है—

नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि ।
कुशाकनृकविद्धोऽपि प्राप्तकालो न जीवति ।।

देखते हैं—कितने ही प्राणी शैशवावस्था में, कितने ही युवावस्था में, कितने ही प्रौढ़ावस्था में, कितने ही वृद्धावस्था में, एवं कितने एक दशमी अवस्था में मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं। यह तारतम्य भी कर्म्मसिद्धान्त का ही पोषक बन रहा है। यदि जीवन–मृत्युद्वन्द्व का कर्म्मसंस्कार से कोई सम्बन्ध न होकर केवल प्रकृतितन्त्रायी ईश्वरेच्छा से ही सम्बन्ध होता, तो सूर्य्य–चन्द्र–ग्रह–पृथिवी आदि की भाँति इन सब प्राणियों का जीवन तथा मृत्युकाल सर्वथा नियत तथा समानकालिक होता। फलतः सिद्ध हो जाता है कि, जिस प्रकार जीवात्मा का कर्म्मसंस्कार ही आयुर्लक्षण जीवनसूत्र का निमित्त है, एवमेव कर्म्मसंस्कार ही जीवन सूत्रावसानलक्षण उत्क्रान्ति (मृत्यु) का निमित्त है, स्व-स्व-स्वरूपानुसार नियतकाल मर्य्यादा से सम्बद्ध नियत संस्कारानुगत जीवन तथा मृत्युकाल, दोनों नियत हैं। कर्म्मनिमित्त पक्ष में **'अकालमृत्यु'** सम्बन्धी प्रश्न उपस्थित होता है। लोग कहा करते हैं, अमुक प्राणी की असमय में ही मृत्यु हो गई। **'अकालमृत्युहरणंसर्वपापप्रणानशनम्'** इत्यादि धर्म्मभावनाएँ भी इस अकालमृत्यु का समर्थन कर रही हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि, यदि अन्य प्राप्याघात–रोगादि के कारण प्राप्त काल से पहले ही मृत्यु हो जाती है, तो—**'नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि'** सिद्धान्त का क्या अर्थ? यदि निमित्तान्तर के आवागमन से समय से पहले मृत्यु हो सकती है, तो निमित्तान्तर से नियत समय से अधिक जीवित भी रहा जा सकता है, और उस दशा में केवल पूर्वजन्मसञ्चित कर्म्मसंस्कार को ही जीवन–मृत्युभावों का निमित्त मान लेना कथमपि व्यवस्थित सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। इस अकाल जीवन, अकाल मृत्यु अवस्था की दृष्टि से अवश्यमेव कर्म्मसंस्कार के अतिरिक्त भी किसी अन्य को इनका निमित्त मानना पड़ेगा। वही निमित्त प्रकृत में मीमांस्य है।

'नाकाले म्रियते जन्तुः' सिद्धान्त की मूलप्रतिष्ठा जहाँ जीवात्मानुगत कर्म्मसंस्कार है, वहाँ अकाल-मृत्युप्रवृति की प्रतिष्ठा ईश्वरात्मानुगत कालिकचक्र है, एवं अध्यात्म संस्था में दोनों निमित्त प्रतिष्ठित है। ईश्वरात्मा के कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाला जीवनसूत्र सब प्राणियों के लिए समान हैं। दूसरे शब्दों में ईश्वरीयकोश से सब प्राणियों को नियत जीवनसूत्र मिलते हैं। जीवात्मा अपने कर्म्मानुसार ईश्वरीयकोश से प्राप्त इन जीवनसूत्रों के उपयोग में स्वकर्म्मसंस्कार को निमित्त बना लेता है। यदि उसके कर्म्मसंस्कार में उस ईश्वरीयधन को नियतकालचक्रपर्य्यन्त सुरक्षित रखने की योग्यता है, तब तो यह कालिक आयु का पात्र बन जाता है, यदि संस्कार में वह योग्यता नहीं है, तो नियत कालचक्र से पहले भी इसके आयुसूत्र समाप्त हो जाते हैं। संस्कार निबन्धनकाल की दृष्टि से प्रत्येक प्राणी प्राप्तकाल में ही मरता है। यदि संस्कार निबन्धन प्राप्तकाल उस ईश्वरीयधनानुगत प्राकृतिक प्राप्तकाल से समतुलित है, तब तो वह कालिक (ईश्वरीय) प्राप्तकाल भी नियमितकाल ही माना जायगा। यदि संस्कार निबन्धन प्राप्त-काल ईश्वरीयकालमर्य्यादा से पहले ही भुक्त है, तो उस दशा में वह ईश्वरीयकाल अप्राप्तकाल (अकाल) कहलायेगा, एवं उसी अकालदृष्टि से कर्म्मसंस्कारानुगत प्राप्तकालमृत्यु (कालमृत्यु) अप्राप्तकाल मृत्यु

कहलायगी । अपने सांस्कारिक काल की अपेक्षा केवल 'कालमृत्यु' ही व्यवस्थित है, एवं ईश्वरीयकोश की की अपेक्षा काल–अकाल–भाव व्यवस्थित हैं । यदि किसी प्रबल निमित्तान्तर से सांस्कारिक–मृत्युकाल पर विजय प्राप्त करली जाती है, तो ईश्वरीयकालापेक्षया अकालमृत्यु बनी हुई यह सांस्कारिक कालमृत्यु टल जाया करती है । शिवभक्त मार्कण्डेयादि इसके निदर्शन हैं ।

इसके अतिरिक्त यज्ञ–योगादि साधन विशेषों से ईश्वरीयकोश की वृद्धि करते हुए सामान्यनियत आयुर्वृद्धि भी सम्भव है । वेदभक्त भारद्वाजादि इसके निदर्शन हैं । प्रकृतितन्त्रविजेताओं के आशीर्वादात्मक प्राणदान से भी आयुर्वृद्धि दृष्ट है । अस्तु आयुःसम्बन्धी ये सारे विवाद पुराणरहस्यादि अन्य निबन्धों में विस्तार से निर्णीत हैं । प्रकृत में हमें उस सामान्य आयुःसूत्र का विचार करना है, जिसके सततागमन, सततभोग से प्राणी जीवित रहता है, एवं जिसके निरोध से प्राणी इस स्थूल शरीर से उत्क्रान्त हो जाता है । प्राकृतिक आयुसूत्र का सततगमनागमन जहाँ जीवन का प्रधान निमित्त है, वहाँ प्राकृतिक आयुःसूत्र का विच्छेद ही उत्क्रान्ति का प्रधान निमित्त है । इस आयुःसूत्र विच्छेद का निमित्त कौन है ? इस प्रश्नान्तर को यहीं उपरत कर जीवननिमित्त भूत आयुःसूत्र का स्वरूप ही प्रकृत में संग्राह्य है ।

"ज्योति–गौ–आयुः" नामक तीन प्रतिष्ठालक्षण मनोताओं से युक्त ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तिधन-सूर्य्य क्रमशः देवप्राणात्मक ज्योतिष्टोम यज्ञ से शारीर आत्मा की प्राणसंस्था का, भूतात्मक गोष्टोमयज्ञ से शारीर आत्मा की वाक्संस्था का, एवं चिदात्मक आयुष्टोम यज्ञ से शारीर आत्मा की मनःसंस्था का प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण बन रहा है । अध्यात्मसर्वस्वभूत सूर्य्य खगोलीय जिस मध्यवृत्त के केन्द्र में प्रतिष्ठित होकर स्वसम्वत्सरमण्डल का अधिदैवतलक्षण आत्मा बन रहा है,—**'सूर्य्योबृहतीमध्यूढस्तपति'** सिद्धान्त के अनुसार वह मध्यवृत्त **'बृहती छन्द'** नाम से प्रसिद्ध है । सप्ताहोरात्रवृत्त लक्षण गायत्र्यादि सात छन्दों में (पूर्वापरवृत्तों में) मध्यस्थवृत्त इतर छओं दक्षिणोत्तरस्थ वृत्तों की अपेक्षा बृहत् (बड़ा) है, अतएव इसे 'बृहती छन्द' कहना अन्वर्थ बनता है । इस बृहतीछन्द के सम्बन्ध से —**बृहद्धतस्थौभुवनेष्यन्तः पवमानो हरित आविवेश' 'बिभ्राड् बृहत् पिबतु सौम्यम्'** इत्यादि मन्त्रवर्णानानुसार सूर्य भी 'बृहत' कहलाया है, एवं सौरसाममण्डल (ज्योतिर्म्मण्डल) **,बृहत्साम'** कहलाया है, कि **'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका'** द्वितीय खण्ड के तत्त्ववेदनिरुक्ति प्रकरण के 'सामातिमानपरिच्छेद' में विस्तार से प्रतिपादित है । बृहत्साम स्वरूपसम्पादक यही बृहतीछन्द **'विष्वद्वृत्त'** नाम से अर्वाचीन ज्योतिःशास्त्र में प्रसिद्ध है, एवं स्वयं ब्राह्मणग्रन्थों में इसी के लिए—'विषुव' शब्द प्रयुक्त हुआ है । (शत० १२।१।३।१४) ।

सूर्य्यप्रतिष्ठा लक्षण इस बृहतीछन्द के ९ अक्षर माने गए हैं । चतुष्पादबृहती छन्द नवाक्षरैकैक-पादभेद से षट्त्रिंशदक्षरसंख्यामित (३६ अक्षर) बन रहा है । मनः–प्राण–वाङ्मय सौरतत्त्व स्वरश्मि-वितान से सहस्त्र भावों में विभक्त है । सहस्ररश्मि सम्बन्ध से ही सूर्य्य सहस्रदीधिति कहलाया है । प्रत्येक रश्मिप्राण मनःप्राणवाङ्मय तत्त्व से युक्त हैं । फलतः रश्मिभेद से इस सौरतत्त्व के सहस्र विवर्त्त हो जाते हैं । षडत्रिंशदक्षरा बृहती के प्रत्येक अक्षर के साथ इस तत्त्वानुगता रश्मिसाहस्री का व्यूहन-सम्बन्ध होता है । ३६ अक्षरों से सूर्य्यतत्त्वसाहस्री षट्त्रिंशत् साहस्री (३६०००) रूप में परिणत हो जाती है । इस

प्रकार अन्ततोगत्वा अध्यात्मप्रतिष्ठा लक्षण ज्ञानक्रियाअर्थमूर्त्ति सौरतत्त्व के बृहती सहस्र (बृहती ३६, सहस्र १०००, सम्भूय ३६००० छत्तीस हजार) विवर्त्त हो जाते हैं। यही वह ईश्वरीय मूलधन है, जिसकी पार्थिव दैनन्दिन भ्रमण में प्रतिदिन हमें एक-एक मात्रा मिलती रहती है। इस प्रकार पूरे ३६००० दिन तक उस महापथ द्वारा सुषुम्णामार्ग से आयुस्वरूपरक्षक से सूर्य्यमात्राएँ अध्यात्म में भुक्त होती रहती हैं, जिस महापथ का अगले परिच्छेद में स्पष्टीकरण होने वाला है। अभिप्लवस्तोमात्मक अहर्गणों से सम्बद्ध ये ३६००० आयुःसूत्र, किंवा आयुःप्राण ही **'विश्वामित्र'** प्राण नाम से प्रसिद्ध है। त्रिकालसन्ध्या द्वारा गायत्रीमन्त्र के माध्यम से इसी आयुर्लक्षण विश्वामित्रप्राण का आदान होता है। इसी आधार पर सन्ध्या-कर्म्म का—**"ऋषयो दीर्घसन्ध्यात्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः"** यह फल बतलाया जाता है। ऐतरेयारण्यक में इस आयुःप्राण का तथा इसकी ३६००० संख्याओं का विशद वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। विशेष जिज्ञासुओं के लिए तदारण्यक ही द्रष्टव्य है।

३६००० सूत्रों के १–१ सूत्रभोग से पूरे ३६ हजार दिन में यह भोग समाप्त हो जाता है। इतने दिनों की समष्टि पूरे १०० वर्ष हैं। यही पुरुष का प्राकृतिक पूर्णायुर्भोगकाल है, जैसा कि—**"शतायुर्वै पुरुषः"** इत्यादि निगम से प्रमाणित है। स्वसंस्कारपूर्णता से पुरुष इस प्राकृतिक पूर्णायु को भोग कर शरीर छोड़ने वाला जहाँ 'कालमृत्यु' व्यवहार का पात्र बनता है, वहाँ स्वयंसंस्कार तारतम्य से १०० वर्ष से पहिले तारतम्य से शरीर छोड़ने वाले के लिए 'अकालमृत्यु' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अग्निज्वलन, गृहपात, भूकम्प, शत्रुकृतमारणोच्चाटन, आदि निमित्तों से भी संस्कार स्तब्ध हो जाता है, मूर्च्छित हो जाता है। प्राकृतिक आयुःसूत्र के ग्राहक सांस्कारिकसूत्र के इस प्रकार प्रबल अग्निज्वलनादि निमित्तों के उपस्थित हो जाने पर संस्कार भोग से पहिले जो मृत्यु हो जाती है, वह भी अकाल मृत्यु ही कहलाई है। वस्तुतस्तु पूर्णसंस्कारानुगता पूर्णायुर्भोगावसानकालप्राप्त कालमृत्यु तथा अपूर्णसंस्कारानुगता अपूर्णभोगावसानकालप्राप्त अकालमृत्यु, दोनों कालमृत्यु हैं एवं निमित्तान्तराघात से मूर्च्छित संस्कारावसान से होने वाली आकस्मिक मृत्यु ही 'अकालमृत्यु' है। ईश्वरोपासन, आस्तिक्य, दया, धर्म्म, सत्य, अहिंसा, आदिपथ इसी अकालमृत्यु से त्राण करते हैं। अतीतानागतज्ञ (त्रिकालज्ञ) योगियों की प्राणदान प्रक्रिया, स्वयं योगमार्ग का अनुगमन, छन्दोमास्तोमादि आयुःसंस्कारवर्द्धक यज्ञविशेष, आयुर्वेदोक्ता कायाकल्पप्रक्रिया, इत्यादि परिगणित साधनों को छोड़ कर उक्त लक्षण स्वाभाविक दोनों कालमृत्युएँ अनिवार्य्य हैं। तीसरी अकालमृत्यु का निरोध ईश्वरोपास्ति (इष्टसंस्मरण) आदि से सम्भव है। इसी सम्बन्ध में—'अकालमृत्यु हरणम्' प्रसिद्ध है, एवं उक्त दोनों के सम्बन्ध में- **"नाकाले म्रियते जन्तुः"—"प्राप्तकालो न जीवति"** कहा गया है।

विषय स्पष्टीकरण का यों समन्वय कीजिए कि, तैलपूर्ण पात्र में प्रतिष्ठित तूलवर्त्तिका प्रज्वलित है। जब तक तैल समाप्त नहीं हो जाता, तब तक दीप प्रज्वलित रहेगा। कोश में दस दिन की तैल मात्रा सुरक्षित है। प्रतिदिन तैल डाल दिया जाता है, पूरे दस दिन तक दीपक जलता रहता है। यही इसका पूर्णायुर्भोगकाल है। दस दिन के अनन्तर कोशधन समाप्त हो जाता है, इधर तैलपात्र भी रिक्त हो जाता है, दीपक बुझ जाता है। यही इसका स्वाभाविक–पूर्णायुर्भोग कालावसानलक्षण मृत्युकाल है। कोश में

तो दस दिन का तैल सुरक्षित है, परन्तु दस दिन से पहिले किसी भी दिन तैलपात्र फूट जाता है, तत्काल दीप निर्वाण हो जाता है। यही इसका स्वाभाविक अल्पायुर्भोग कालावसान लक्षण मृत्युकाल है। पहिले का निमित्त कोशधन समाप्ति था, इसका निमित्त कोशधनग्राहक के स्वरूप का विनाश है। तैलपात्र भी सुरक्षित है, १० दिन के लिए कोशधन भी सुरक्षित है, बत्ती भी ठीक है, प्रकाश भी यथावत् प्रक्रान्त है। अकस्मात् झञ्झावात आता है। इन वायु-झकोरों से यह निर्बल छोटी-सी दीपशिखा इतरदीपस्वरूप सब रक्षकों के रहते भी बुझ जाती है। यही इसका असमयावसानलक्षण अकालात्मक मृत्युकाल (अकालमृत्यु) है। आकस्मिक-आगन्तुक-प्रतिबन्धक ही इस अकालमृत्यु का निमित्त है। यदि झञ्झावात के अवसर पर दीपक को उस आक्रमण से किसी पत्रादिवेष्टन द्वारा, किंवा निर्वातस्थानान्तर में ले जाते हुए सुरक्षित कर दिया जाता है, तो इस अकालमृत्यु का अवरोध हो जाता है। ठीक यही अवस्थात्रयी दीपार्चि* से समतुलित हृदयावच्छिन्न प्रत्यगात्मा में घटित होती है।

पूर्वजन्मकृत आयुर्भोगात्मक संस्काररूप तैल से परिपूर्ण पाञ्चभौतिक शरीररूप पात्र के केन्द्र में (हृदयस्थान में) प्रतिष्ठित वैश्वानर-तैजसरूपा तूलवर्त्तिका के अग्रभाग में संस्कारस्रोतरूप तैलस्रोत से सम्बन्ध प्राज्ञरूप वर्त्तिकाग्रभाग प्रज्ज्वलित है। प्राकृतिक-अंशीभूत सौरबृहन्मण्डलरूपकोश में पूरे १०० वर्षों के लिए षट्त्रिंशत्-सहस्र-बृहत्प्राण (आयुःप्राण) रूप तैल सुरक्षित है, इस कोशगत तैलमात्रा अहोरात्र सम्बन्ध से इस शरीरपात्रगत सांस्कारिक तैल के साथ सम्बन्ध बन रहा है। प्रतिदिन एक-एक मात्रा के रूप से आयुःप्राणात्मक तैलयुक्त होता रहता है। यह स्वाभाविक क्रम पूरे १०० वर्ष तक चलता रहता है। फलस्वरूप सौ वर्ष पर्य्यन्त आत्मदीप प्रज्ज्वलित रहता है। यही इसका पूर्णायुर्भोगकाल है। १०० वर्ष के अनन्तर कोशधन समाप्त हो जाता है, तैलपात्र रिक्त हो जाता है, आत्मदीप का निर्वाण हो जाता है। इस दीपपात्र शरीर से आत्मदीप उत्क्रान्त होकर उस अन्य पात्र के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, जहाँ स्वतन्त्ररूप से स्वतन्त्र कोशधन की भुक्ति आरम्भ हो जाती है। यही इस आत्मदीप का स्वाभाविक पूर्णायुर्भोगकालावसानलक्षण मृत्युकाल है।

प्राकृतिककोश में तो पूर्ण ही तैल मात्रा सुरक्षित है, परन्तु प्राकृतिक नियत अवधि (१०० वर्षों) से पहले ही इस आयुर्म्मात्रा के ग्राहक जन्मान्तरीय संस्कार का भोग समाप्त हो गया। जब तक उस अपूर्ण संस्कार की सत्ता का भोग समाप्त नहीं हो जाता, तब तक आगतकोशधन की भुक्ति से आत्मदीप प्रज्ज्वलित रहता है। यही इसका अल्पायुर्भोग काल है। अपूर्णकर्म्मसंस्कार की भुक्ति जब भी अपूर्णकाल में समाप्त हो जाती है, स्वाभाविक स्रोत-सम्बन्ध अवरुद्ध हो जाता है। तत्काल आत्मदीप उत्क्रान्त हो जाता है, यही इसका अल्पायुर्भोगकालावसान लक्षण मृत्युकाल है। पहले का निमित्त कोशधन की समाप्ति थी, इस दूसरे का निमित्त आत्मधन की समाप्ति (भुक्ति) है।

---

*अनन्तारश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि।
सितासिताः कद्रुनीलाः कपिला मृदुलोहिता॥ (तै०उ०)
मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः (या०स्मृ०य०प्र०प्रा० ४।१०६)।

प्राकृतिक कोश में भुक्तातिरिक्त आयुर्म्मात्रा शेषांश से सुरक्षित है, तद्ग्राहक आत्मकोशगत संस्कारात्मक आत्मधन भी अभी शेषांश से सुरक्षित है। स्वस्थदशा में वह आत्मदीप निरापदरूप से प्रज्ज्वलित है। शरीरायनरूप मकान की छत गिर पड़ी, विद्युत्-पात हो गया, अग्निकाण्ड घटित हो गया, भूकम्प से नगर के नगर भूगर्भ में विलीन हो गए, इत्यादि आकस्मिक आक्रमणों से संस्कारात्मक आयुःसूत्र शरीरलक्षणपात्र के विनष्ट हो जाने से उस प्राकृतिक कोशधन-सूत्र से विच्छिन्न हो जाता है, आत्मदीप तत्क्षण उत्क्रान्त हो जाता है। यही इसकी आकस्मिकाघात-जनित संस्कार विलुप्तिलक्षण अकालमृत्यु है। यदि स्वस्थ दशा में इस आत्मदीप को क्षेत्रज्ञ विज्ञात्मा ने ईष्टसंस्मरणरूप अभेद्य चट्टान से वेष्टित कर दिया है, इसके अतिरिक्त जिनका संस्कारसूत्र जन्मान्तरीय सुकृतसंस्कार से युक्त होता हुआ दृढ है, तो उनका यह आत्मदीप इन आकस्मिक आक्रमणों से भी त्राण पा जाता है।

इन आकस्मिक निमित्तों के चार विवर्त्त माने गए हैं। स्वयं संस्कार ही तज्जातीय है कि, प्रासाद-पतन, सर्पदंश, अग्नि विस्फुलिंग आदि निमित्तों से ही जिसका उदर्क मुक्त होता हो, यह एक प्रकार का आकस्मिक निमित्त है। इस जन्मान्तरीय आकस्मिक निमित्त का अल्पायुगत संस्कार भुक्तिलक्षण कालमृत्यु में ही अन्तर्भाव है। पहले से ही ऐसा निश्चित रहता है कि, अमुक प्राणी की अमुक आकस्मिक निमित्त से प्राणोत्क्रान्ति होगी। इन आकस्मिक आक्रमणों से त्राण पाना प्रत्येक दशा में असम्भव है। यही कारण है कि, साँप काटा व्यक्ति यदि शाबरचिकित्सा से पुनः उद्बुद्ध नहीं होता तो तत्चिकित्सक कह दिया करते हैं—**'सर्प फर्म्माया हुआ है।'** इस कथन का यही तात्पर्य्य है कि नियत कालमृत्यु का यह नियत (सांस्कारिक निमित्त) है। जन्मान्तरीय कोई नियत निमित्त नहीं है। परन्तु भूल से साँप पर पैर रख दिया, कूप में गिर गया, कपड़ों में आग लग गई, विषाक्त भोजन कर लिया, इन प्रज्ञापराधजनित आकस्मिक निमित्तों से भी प्राणोत्क्रान्ति सम्भव है। यही दूसरा विवर्त्त है। इष्टबल, पूर्वजन्म सञ्चित संस्कार-बल, सफल चिकित्सा आदि उपाय यहाँ सफल होते देखे गए हैं। इस उत्क्रान्ति को अकालमृत्यु ही कहा जायगा। प्राणी ने कोई भूल न की, आराम से सो रहा है, आततायी आते हैं, धोके से शस्त्रप्रहार कर डालते हैं, जहरीला जन्तु दंश कर लेता है, प्राणोत्क्रान्ति हो जाती है। केवल एक प्राणी से सम्बन्ध रखने वाले ये आकस्मिक निमित्त तीसरा विवर्त्त है। यह भी अकालमृत्यु ही है, एवं इष्टसाधना द्वारा इससे भी त्राण पाते देखा गया है। चौथा वह आकस्मिक निमित्त है, जिसका प्रधानतः प्रकृतिमण्डल से सम्बन्ध है, एवं जिसका प्रधान लक्ष्य व्यष्टि (एक प्राणी) न होकर समष्टि (अनेक व्यक्ति) बनती है। जनपदविध्वंसिनी, भूकम्प, युद्ध आदि आकस्मिक निमित्त इसी कोटि में अन्तर्भूत है, एवं यही चौथी अकाल-मृत्यु है, जिससे इष्टादि द्वारा त्राण पाया जा सकता है।

प्रथम अकालमृत्यु का निमित्त सञ्चित दुष्कृत संस्कार है, द्वितीय अकालमृत्यु का निमित्त प्रज्ञापराध (नासमझी) है, तृतीय अकालमृत्यु का निमित्त घातक निमित्तों का आसुरीभाव है, एवं चौथी अकालमृत्यु का निमित्त कौटुम्बिक-सामाजिक-राष्ट्रीय पाप है। राष्ट्र के असत्पथानुगमन से प्रकृति क्षुब्ध हो जाती है, क्षुब्ध प्रकृति अनावृष्टि-अतिवृष्टि-अवृष्टि-भूकम्पादि से समष्टि के आकस्मिक नाश का कारण बनती है। इस प्रकार पूर्णमृत्युकाल, अपूर्ण मृत्युकाल, अकालात्मक मृत्युकाल इन तीन उत्क्रान्तियों में तीसरी

उत्क्रान्ति के निमित्त भेद से चार विवर्त्त हो जाते हैं। पूर्णमृत्युकाल का निमित्त कोशधनक्षय है, अपूर्ण मृत्युकाल का निमित्त संस्कारभुक्ति है। कोशधनक्षय का निमित्त प्राकृतिक स्वाभाविक नियम है, एवं स्वल्पकालानुगता संस्कार भुक्ति का निमित्त पापाचार है। पूर्व में हमने इस स्वल्पसमयोत्क्रान्ति का निमित्त केवल संस्कार भुक्ति ही बतलाया था। अवश्य ही यह भी एक निमित्त है, एवं अवश्य ही इस निमित्त का निमित्त जन्मान्तरीय पापाचार (दुष्कृत) है, एवं इसी इसी दृष्टि से इस उत्क्रान्ति में अकाल-मृत्यु चतुष्टयी में से (तज्जातीय संस्कारानुगता दूसरी अकालमृत्यु) का अन्तर्भाव भी मान लिया है, किन्तु इस निमित्त के अतिरिक्त प्राकृतिक नियमोल्लंघन, स्वास्थ्यकर आहारादि का अभाव, असंयम आदि भी इसके निमित्त हैं, एवं संस्कार भुक्तिलक्षणनिमित्त का निमित्त जैसे जन्मान्तरीय दुष्कृत था, एवमेव इन असंयमादि लक्षण निमित्तों का निमित्त एकमात्र है—हमारी परतन्त्रता, दासता, जिसके अनुग्रह से पूर्णायु-र्भोग के सब साधनों के रहते भी हम उनका उपयोग नहीं कर सकते। कम से कम आज का भारत तो इसी निमित्त का पात्र बन रहा है। यही भारतीय सन्तति के स्वल्पायु में ही उत्क्रान्त हो जाने का मुख्य बीज है। न केवल इसी उत्क्रान्ति का, अपितु शेष चारों अकालमृत्युओं का भी आज तो यही निमित्त बन रहा है। इस कथन से जो निष्कर्ष निकलता है, वह परिलेख से स्पष्ट है—

१—पूर्णायुर्भोगानुगता——→परमोत्क्रान्तिः———→पूर्णमृत्युकालः

२—स्वल्पायुर्भोगानुगता——→स्वल्पावस्थोत्क्रान्ति——→अपूर्णमृत्युकालः

३—स्वल्पायुर्भोगानुगता——→असमयोत्क्रान्तिः ⎫

४—स्वल्पायुर्भोगानुगता——→असमयोत्क्रान्तिः ⎬ →अकालमृत्युः

५—स्वल्पायुर्भोगानुगता——→असमयोत्क्रान्तिः ⎪

६—स्वल्पायुर्भोगानुगता——→असमयोत्क्रान्तिः ⎭

—❀—

१—कोषधनभुक्त्यनुगता——→अवसानम्——→पूर्णमृत्युकालः

२—आत्मधनभुक्त्यनुगता——→मृत्यु———→अपूर्णमृत्युकालः

३—स्वसंस्कारनिमित्तानुगता——→उत्क्रान्तिः ⎫

४—प्रज्ञापराधानिमित्तानुगता——→निधनम् ⎬ →अकालमृत्युः

५—आसुरभावाक्रमणनिमित्तानुगता→विनष्टिः ⎪

६—प्राकृताक्रमणनिमित्तानुगता→महतोविनष्टिः ⎭

—❀—

१—कोषधनक्षयस्य——→प्राकृतिकनियमो निमित्तः——→पूर्णमृत्युकालः

२—आत्मधनमुक्तेः——→जन्मान्तरीय दुष्कृतं निमित्तम्—→अपूर्णमृत्युकालः

३—स्वसंस्कारनिमित्तस्य→राष्ट्रपरतन्त्रतैवनिमित्तभूता
४—प्रज्ञापराधनिमित्तस्य→अज्ञानमेव निमित्तम्
५—आसुरभावाक्रमण नि०→अज्ञानमेव निमित्तम्
६—प्राकृताक्रमणनिमित्तस्य→राष्ट्रस्यासदाचरणमेव नि०
} →अकालमृत्युः

—❀—
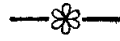
इस प्रकार मृत्युलक्षण उत्क्रान्ति के ६ विवर्त्त माने जा सकते हैं, साथ ही छओं के उक्त रूप से भिन्न-भिन्न निमित्त माने जा सकते हैं। ये ६ उत्क्रान्तियाँ तथा निमित्तषट्क एक प्रकार से स्थूल विभाग हैं। यदि इनके अवान्तर सूक्ष्म विवर्त्तों का एवं तदनुगत सूक्ष्म निमित्तों का विश्लेषण किया जाता है, तो यह संख्या अनन्तभाव पर विश्राम करती है। क्षणिककर्म्म, भावकर्म्म, अवस्थाकर्म्म, कालिककर्म्म भेद से स्थूलदृष्टया चार भागों में विभक्त कर्म्मों के अवान्तर असंख्य कर्म्म ही इस उत्क्रान्ति तथा तन्निमित्तों के आनन्त्यभाव का मूल कारण है, जो तत्तत् विशेष कर्म्मसंस्कारानुसार स्वयं ऊह्य है। मृत्यु होती क्यों है? सामान्यरूप से प्रवाहित जीवनसूत्र क्यों उच्छिन्न हो जाता है? इत्यादि लक्षण उत्क्रान्ति निमित्तक प्रश्नों की यही संक्षिप्त मीमांसा है, एवं इस मीमांसा का निष्कर्ष यही है कि, आध्यात्मिक सांस्कारिक कर्म्मों की मुक्ति के अवसान से होने वाला आधिदैविक रुद्रवाय्वात्मक याम्यप्राण का आक्रमण ही इस उत्तक्रान्ति का प्रधान निमित्त है। अतएव याम्यप्राण को अवसान का निमित्त माना गया है, जैसा कि निम्नलिखित मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है—

१—अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतनाः।
अदाघमोऽवसानं पृथिव्या अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मै॥
(यजुः सं० १२।४५)

२—यमो ह वाऽअस्या अवसानस्येष्टे। स एवास्माऽअस्यामवसानं ददाति। (शत० ७।१।१।४)।

"यमराज ही इस प्राणी को पृथिवीलोक भोग से पृथक् कर इसे लोकान्तरगमन के लिए विवश बनाते हैं" उक्त मन्त्रब्राह्मणश्रुतियों का यही तात्पर्य्य है। क्या सभी प्राणी यमराज के अतिथि बनते हैं? उत्तर दिया जाता है कि, जो पुण्यात्मा है, जिनके प्राज्ञभाग पर विद्यासमुचित प्रवृत्तिकर्म्म का दिव्याति-

शय प्रतिष्ठित हैं, वे पुण्यात्मा तो धर्म्मराज के अतिथि बनते हैं, एवं जिनका आत्मा विद्यानिरपेक्ष कर्म्म-संस्कार से युक्त है, वे यमराज के अतिथि बनते हैं। इन दोनों मृत्यु देवताओं का अगले परिच्छेद में स्पष्टीकरण होने वाला है। प्रकृत में प्रकरणसङ्गति के लिए इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, ग्रहों में सर्वान्त कक्षा में भुक्त शनैश्चर ग्रह ही यमराज है, यही धर्म्मराज है। सूर्य्यदिगनुगत ज्योतिर्मय अर्द्ध शनि-भाग धर्म्मराज है, सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत तमोमय अर्द्ध शनिभाग यमराज है। इस यमराज का वाहन महिष (भैंसा) पशु है। प्राकृतिक प्राणतत्त्व जिस भूत को आलम्बन बना कर भौतिक सृष्टि में भुक्त होता है, वही भूतालम्बन उस प्राण का वाहन कहलाया है। महिष पशु उस याम्यप्राण का आलम्बन है, एकमात्र इसी दृष्टि से नैदानिकों ने इसे यमवाहन मान लिया है। प्रत्येक प्राणदेवता के साथ तद्रूप एक-एक 'अभिमानी देवता' का सम्बन्ध रहता है, जैसा कि—**"अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्'—'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्"** इत्यादि आर्षवचनों से प्रमाणित है। अभिमानी देवता यथेच्छ स्थूल–सूक्ष्म आकारों में परिणित हो सकता है। निधनकाल में यही अभिमानी यमदेवता उत्क्रान्त होने वाले आत्मा की विभीषिका का कारण बनता है।

सौरप्राणात्मक आयुःसूत्र का अवसान ही इस याम्यप्राण साम्राज्य का कारण बनता है, इस दृष्टि से सौरप्राण को भी 'यम' कहा जा सकता है। शरीर आग्नेय प्राणावसान भी इस याम्यप्राण प्रतिष्ठा का उपोद्बलक बनता है, अतः आग्नेय प्राण को भी यम कहा जा सकता है। शनैश्चर नामक सत्ययाम्यप्राण प्रवर्ग्यरूप से दक्षिणदिगूत ऋतवायु में में प्रतिष्ठित रहता है। इसी ऋतलक्षण वायुप्राण के सम्बन्ध से दक्षिण दिशा याम्या कहलाई है। दक्षिण से उत्तर की ओर सतत् इसका आक्रमण (गमन) होता रहता है। अतएव भारतीय वास्तुविद्याचार्य्यों ने दक्षिण द्वार को गृहस्थी के लिए अशुभ माना है। इस ऋत-वायव्य याम्याप्राणदृष्टि से वायु (दक्षिण वायु) को भी यम कहा जा सकता है। इसका पहले पृथिवी में भोग होता है, पृथिवी द्वारा आयुःसूत्र विच्छेदक इसका शरीर में प्रवेश होता है। इस दृष्टि से पृथिवी को भी यम (यमी) कहा जा सकता है। इस प्रकार मृत्यु (उत्क्रान्ति) प्रवर्त्तक (निमित्त) यमतत्त्व का अनेक दृष्टियों से समन्वय किया जा सकता है, जैसा कि निम्नलिखित निगम वचनों से प्रमाणित है—

१—**"एष वै यमः, य एष (सूर्य्यः) तपति। एष हीदं सर्वंयमयति। एतेनेदं सर्वं यतम्।"** (शत० १४।१।३।४)।

२—**"अग्निर्वाव यमः।"** (गो०ब्रा०उ० ४।८)।

३—**"अग्निर्वै यमः, इयं (पृथिवी) यमी। अाभ्यां हीदं सर्वं यतम्।"** (शत० ७।२।१।१०)।

४—**"अयं वै यमः, योऽयं (वायुः) पवते।"** (शत० १४।२।२।११)।

५—"किं देवतोऽस्यांदक्षिणायां दिश्यसि ? इति । यमदेवत, इति ।"

(शत० १४।१।३।४) ।

यम और मृत्यु को आज दिन अभिन्न तत्त्व माना जा रहा है । तत्त्व दृष्ट्या वस्तुतः दोनों पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं । आत्मोत्क्रान्ति मृत्यु है, इस उत्क्रान्ति का पारम्परिक निमित्त यम मृत्यु है । इसी आधार पर ऐतिह्य ग्रन्थों में दोनों का पृथक् रूप से निर्देश हुआ है ।* यमतत्त्व का जहाँ विश्लेषधर्म्मा अङ्गिरा-तत्त्व से सम्बन्ध है, वहाँ मृत्युतत्त्व का संकोचधर्म्मा भृगु से सम्बन्ध है । सहस्वान् नामक पारमेष्ठ्य समुद्र का वारुणप्रवर्ग्य भाग–'**इति तु पञ्चम्यामाकृतावापः पुरुषवचसो भवन्ति**' इत्यादि छान्दोग्यश्रुतिसिद्ध आपोमय पुरुष शरीर में जन्मतः ही प्रतिष्ठित हो जाता है । यही आप्य प्रवर्ग्यभाग (भार्गव भाग) मुच्यु है, मुच्यु ही परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्ष भाषा में 'मृत्यु' नाम से व्यवहृत हुआ है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

"स समुद्रादमुच्यत, स मुच्युरभवत् । तं वा एतं मुच्युं सन्तं मृत्युरित्याचक्षते परोक्षेण । परोक्ष प्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः ।" (गो०ब्रा०पू० १।७) ।

मृत्युतत्त्व जन्मतः ही शरीर में प्रविष्ट है । इसी मृत्युप्राण से सूर्य्य द्वारा आगत आयुःसूत्र प्रतिदिन क्षीण हो जाता है । जब यमतत्त्व अवसानकाल में शरीर में प्रविष्ट होता है, तो मृत्यु का स्वायत्त शासन हो जाता है, तत्काल वह अपने स्वाभाविक उत्क्रान्ति-धर्म्म से विकसित होता हुआ आत्मोत्क्रान्ति का कारण बन जाता है । अशनायालक्षण इस मृत्युपाश का आत्मानन्दलक्षण अमृत से अभिभव करते हुए प्रकृत उत्क्रान्ति निमित्तप्रकरण उपरत किया जाता है ।

—**—

---

*यदा दासश्च व्यासश्च यमेन सह मृत्युना ।
भवितव्यगृहं यान्ति तदा दासो मरिस्यसि ।। (महाभारत)

आत्मोत्क्रान्तिपरिचायकाः

इसी परिच्छेदविषय से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाला एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमारे सम्मुख और उपस्थित होता है। यद्यपि मृत्युलक्षण आत्मोत्क्रान्ति प्रियशरीरात्मक किसी भी पुरुष को किसी भी शारीरदशा में अभीष्ट नहीं है। कोई यह नहीं चाहता कि, मेरे शरीर का निधन हो जाय। तथापि इन आसक्त पुरुषों को यह विश्वास है कि—**'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु'**—**'संयोगा विप्रयोगान्ताः'** न्याय से एक न एक दिन उत्क्रान्तिलक्षण मृत्यु निश्चित है। सांसारिक विषयासक्त, भौतिक सम्पत्ति परायण ऐसे पुरुषों को अपनी सम्पत्ति–पुत्र–कलत्रादि की व्यवस्था के नाते मृत्युकाल जानने की जिज्ञासा रहती है। जिन निमित्तों से मृत्युकाल निश्चित किया जाता है, वे निमित्त ही **'उत्क्रान्तिपरिचायक'** नाम से व्यवहृत हुए हैं। इन निमित्तों का दो दृष्टिकोणों से समन्वय किया जा सकता है। मरणशय्यारूढ व्यक्ति की अन्तिम अवस्था में जो मृत्यु चिह्न प्रकट होते हैं, उनका परिचय अन्य व्यक्तियों के प्रज्ञा धरातल से विशेष सम्बन्ध रखता है। यद्यपि इस अवस्था में स्वयं मरणासन्न व्यक्ति भी इन मृत्यु चिह्नों का साक्षात्कार कर लेता है, फलस्वरूप यथाशक्य अपनी सम्पत्ति के सम्बन्ध में अस्तव्यस्त व्यवस्था भी करता है, तथापि इन चिह्नों का विशेष परिचय द्रष्टा–बन्धुवर्ग को ही होता है। यही उत्क्रान्ति परिचायकों का एक दृष्टिकोण है।

दूसरा दृष्टिकोण मृत्युकाल से कुछ मास पहले ही सम्बद्ध हो जाता है। वर्ष-छः मास पहले से ही अध्यात्म संस्था में कुछ एक ऐसे चिह्न उत्पन्न हो जाते हैं, जिनके आधार पर व्यक्ति अपने मृत्युकाल का निश्चय कर लेता है। इन्हीं को प्रकृत में हमने 'उत्क्रान्तिपरिचायक' कहा है। शास्त्र का इस सम्बन्ध में आदेश है कि, जब पुरुष को इन चिह्नों का आभास हो जाय, तो इसे विश्वास कर लेना चाहिए कि, अब मेरा मृत्युकाल सन्निकट है, अधिक समय शरीर न ठहरेगा। अतः गार्हस्थ्य–सामाजिकादि व्यवस्था रक्षा के नाते इन परिचायक चिह्नों के प्रकट होते ही इसे जो कुछ व्यवस्था करनी हो, कर डालनी चाहिए— **"स यत् करणीयं मन्येत, स कुर्यात्।"** परोक्ष, प्रत्यक्षरूप से ये परिचायक चिह्न दो श्रेणियों में विभक्त है। इनमें से पहले प्रत्यक्ष निदर्शनों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

वैश्वानर–तैजस–गर्भित प्राज्ञ आत्मा ही प्रत्यगात्मा हैं, यही जीवात्मा है। इसी का संस्कारानुसार एतद्योनि में जन्म (आगमन) हुआ था, यही कर्म्मानुसार समय आने पर मृत्यु व्यवस्था (निर्गमन) को प्राप्त होगा। यह आध्यात्मिक देवसत्य नामक भोक्तासुपर्ण उस आधिदैविक देवसत्य नामक साक्षीसुपर्ण (सूर्य्यपुरुष–आदित्यपुरुष) से समतुलित है। उसी का अंश बनता हुआ तदभिन्न है। जब तक हृदयस्थान से आरम्भ कर सूर्य्यकेन्द्रान्त वितत 'सुषुम्णा' नामक व्यान नाड़ी का हृदय के साथ अन्तर्य्याम–सम्बन्ध सुरक्षित रहता है, तब तक इसी नाड़ी के द्वारा वह आदित्यप्राण (आयुः स्वरूप रक्षक विश्वामित्र प्राण) अध्यात्म में प्रविष्ट होता हुआ जीवनसत्ता का कारण बना रहता है। जिस प्रकार नियतकाल पर संक्रान्त होने वाली ग्रहदशा नियतकाल से कुछ समय पूर्व ही दृष्टि सम्बन्ध से (विभूति द्वारा) अपना अधिकार

जमा लेती है, किंवा ग्रहणकाल से पहले ही जिस प्रकार भूच्छाया तथा चन्द्रच्छाया अपना स्वत्त्व प्रतिष्ठित कर लेती है, ठीक इसी भाँति मृत्युकाल से कुछ मास पहले ही मृत्युच्छाया का अध्यात्म संस्था से प्रतिच्छायात्मक सम्बन्ध हो जाता है। इस मृत्यु प्रतिच्छाया प्रवेश से व्यान नाड़ी का हृद्ग्रन्थिबन्धन श्लथ हो जाता है। इसके ढीले पड़ जाने से आयुःस्वरूप रक्षक आदित्य प्राण के आगन में मन्दगति का समावेश हो जाता है। इसके मान्द्य से प्रत्यगात्मा निर्बल सा होता है। फलस्वरूप स्वस्थसबल प्रत्यगात्मा इन्द्रियों के द्वारा जिन प्राकृतिक स्थितियों का जिस व्यवस्थित रूप से प्रत्यक्ष करता था, वह व्यवस्थिति कुछ समय पूर्व ही उत्क्रान्त हो जाती है। प्राकृतिक पदार्थों के दर्शन–स्पर्श–भोगादि में विकृति उपलब्ध होने लगती है। इस प्रकार जब भी किसी पुरुष को प्राकृतिक पदार्थों में वैकल्प्य उपलब्ध होने लगे, विश्वास कर लेना चाहिए कि, अब प्रकृति मुझे छोड़ रही है। अब शीघ्र ही मुझे प्रयाण करना पड़ेगा।

जो सूर्य्य जीवनदशा में ज्योतिर्म्मय, रश्मियुक्त दिखलाई देता है, वही इस व्यवस्थिति उत्क्रान्तिदशा में चन्द्रमा की भाँति निस्तेज दिखलाई देने लगता है। विदित होता है, जिस प्रकार चन्द्रमा में रश्मिप्रसार नहीं है, वैसे यहाँ भी रश्मि प्रसार का अभाव है। प्राकृतिक रश्मिप्रसार का उक्तलक्षण मान्द्यदी ऐसी स्थिति का जनक है। जो आकाशमण्डल निर्म्मल–स्वच्छ था, यह रक्तवर्ण का प्रतिभासित होने लगता है। गुदमार्ग अतिशय रूप से चौड़ा हो जाता है। हृद्ग्रन्थि के श्लथ हो जाने से मूलग्रन्थि भी श्लथ हो जाती है, मलभाण्ड निर्बल हो जाता है, बद्धकोष्ठता का उच्छेद हो जाता है। शौचकर्म्म का संयम एकान्ततः विलुप्त हो जाता है। काक पक्षी के घोंसले में जिस प्रकार एक दुर्गन्ध आया करता है, इसके मस्तक में वैसा ही दुर्गन्ध आने लगता है। काक पक्षी का प्रेतप्राण से (जो कि शवशरीर में प्रतिष्ठित रहता है, जिससे शवशरीर सड़ने लगता है) घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिसकी तृप्ति के लिए श्राद्धकर्म्म में काक के लिए भी बलि का विधान हुआ है। हृद्ग्रन्थि विमोक से जैसे मूलग्रन्थि शिथिल हो जाती है, एवमेव तत्सम्बद्धा ब्रह्मग्रन्थि भी शिथिल हो जाती है। जब तक ब्रह्मग्रन्थि दृढमूल बनी रहती है, तब तक ब्रह्मरन्ध्र द्वारा प्रविष्ट ब्रह्मणस्पति नामक पावक सोममात्रा का अविच्छिन्न आगमन होता रहता है। ग्रन्थि शैथिल्य से इसका आगमन अवरुद्धप्राय हो जाता है। फलस्वरूप शवशरीरानुबन्धी प्रेतप्राण का प्रवेश हो जाता है। यही उक्त काककुलायगन्ध का मूल कारण है।

सूर्य्यगोल ऐसा प्रतीत होने लगता हैं, मानों इसमें अनेक छिद्र हों। कभी-कभी अपने शरीर की छाया भी ऐसी ही दिखलाई देती है। दर्पण में अथवा पानी में कभी टेढा मस्तक दिखलाई देता है, कभी आँखों का शुक्लमण्डल कृष्णमण्डल के भीतर दिखलाई देता है, कभी कृष्ण के भीतर शुक्लमण्डल की प्रतीति होने लगती है। आँख बन्द कर लेने पर आँखों के आगे छोटे-छोटे ताराकाराकारित वर्त्तुलाकार सुसूक्ष्म–शुक्लवर्ण के **'केशोण्ड्रक'** नामक बरक दिखाई देते हैं। उक्त अवस्था आ जाने पर इनका दिखना भी बन्द हो जाता है। स्वस्थ जीवितदशा में जब कोई व्यक्ति कान–नाक बन्द कर लेता है, तो उसे धक्-धक्-रूप से शब्द सुनाई पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों अग्नि प्रज्ज्वलित हो रहा है। सचमुच यह कायाग्निस्वरूपरक्षक वैश्वानराग्नि का ही घोष है। उक्त अवस्था में आकर यह घोष भी सुनाई नहीं पड़ता। श्वेतज्वालायुक्त अग्नि नील दिखलाई पड़ता है—जैसे कि मयूरग्रीवा। निर्म्मलाकाश में बिना मेघ

के बिजली चमकती दिखलाई पड़ती है। मेघाच्छन्न आकाश में इतर व्यक्तियों द्वारा दृष्ट बिजली भी इसे दिखलाई नहीं पड़ती। कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि, मानो आकाशमण्डल से उतर कर मेघों ने भूस्तर को आवृत कर लिया है। कभी भूप्रदेश जलता हुआ दिखलाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों की वृत्तियाँ शिथिल हो जाती है। सौन्दर्य्य कुरूपता में प्रतीत होता है, सुस्वादु भोजन नीरस लगने लगता है, मन्दध्वनि उग्र प्रतीत होने लगता है। किसी भोग में आनन्दोलब्धि नहीं होती। सब कुछ फीका-फीका सा लगने लगता है। ये ही कुछ एक ऐसे प्रत्यक्ष परिचायक चिह्न हैं, जिनके आधार पर—'**अस्यात्मा न चिरमिव जीविष्यति**' सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। इन्हीं प्रत्यक्ष निदर्शनों का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान ऐतरेय कहते हैं—

"स यश्चायमशरीरः प्रज्ञात्मा", यश्चासावादित्यः एकमेतत्इत्यावोचाम। तौ यत्र विहीयेते—

यदा—१. चन्द्रमा इवादित्यो दृश्यते, न रश्मयः प्रादुर्भवन्ति।

२. लोहिनी द्यौर्भवति, यथा मञ्जिष्ठा।

३. व्यस्तः पायुः।

४. काककुलायगन्धिकमस्य शिरो पायति।

५. छिद्रइवाऽऽदित्यो दृश्यते, रथनाभिरिवाभिख्यायते।

६. छिद्रां वा छायां पश्येत्।

७. आदर्शे वा, उदके वा, जिह्यशरसमात्मानं पश्येत्।

८. अशिरसं वा आत्मानं पश्येत्।

९. विपर्य्यस्ते वा कन्याके दृश्येयाताम्।

१०. जिह्येन वा कन्याके दृश्येयाताम्।

११. अपिधायाक्षिणी उपेक्षेत, तद्यथा वटरकाणिसम्पतन्तीव दृश्यन्ते, तानि यदा न पश्येत्।

१२. अपिधायकर्णा उपशृणुयात् स एषोऽग्नेरिवप्रज्वलतो रथस्येवोवपब्दिः, तं यदा न शृणुयात्।

१३. नील इवाग्निर्दृश्यते, यथा मयूरग्रीवा।

१४. अमेघे वा विद्युतं पश्येत् ।

१५. मेघे वा विद्युतं न पश्येत् ।

१६. मेघे वा मरीचिरिव पश्येत् ।

१७. यत्र भूमि ज्वलन्तीमिव पश्येत् । (इति प्रत्यक्ष दर्शनानि)—

तदा—"सम्परेतोऽस्याऽऽत्मा, न चिरमिव जीविष्यति, इति विद्यात् । स यत्करणीयं मन्येत, तत् कुर्वीत ।" (ऐ०आ० ३ आ० । २ अ० । ४ खं०) ।

अब कुछ एक अप्रत्यक्ष चिह्नों की भी मीमांसा कर लीजिए । शीघ्र ही संसार छोड़ने वाले व्यक्ति को आनन्दापीति–लक्षणा सुषुप्ति (घोरनिद्रा) नहीं आती । अपितु प्रायः सान्ध्यस्वप्नावस्था का ही प्राधान्य रह जाता है । इस स्वप्नावस्था में इसे कृष्णवर्णाकार कृष्णदन्तयुक्त मनुष्य (यमप्रतिकृति) दिखलाई पड़ता है, साथ ही ऐसा भान होता है मानो यह कृष्णपुरुष मुझे मार रहा है । एक शूकर (पार्थिववराह-वायुप्रतिकृति) मार रहा है, मर्कट (वानर आन्तरिक्ष्यवायुप्रतिकृति) इस पर चढ रहा है, प्रबलवात (झंझावातभूवायुप्रतिकृति) इस स्वप्नद्रष्टा को इधर से उधर फेंक रहा है । यह स्वयं सुवर्ण खा कर उसकी वान्ति कर रहा है, शहद खा रहा है, कमलनाल खा रहा है, रक्तकमल मस्तक पर धारण कर रहा है । गर्दभरथ में आरूढ होकर चलता है, गले में लाल फूलों की माला पहन कर काले बछड़े से युक्त काली गाय को दाहिनी दिशा की ओर मुख करके भगाता है, इत्यादि सब स्वप्न ही अप्रत्यक्ष परिचायक चिह्न हैं, जैसा कि निम्नलिखित श्रुति से प्रमाणित है—

अथ–स्वप्नाः

१. पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति, स एनं हन्ति ।

२. वराह एनं हन्ति ।

३. मर्कट एनं आस्कन्दयति ।

४. आशुवायुरेनं प्रवहति ।

५. सुवर्णं खादित्वाऽपगिरति ।

६. मध्वश्नाति ।

७. बिसानिभक्षयति ।

८. एकपुण्डरीकं धारयति ।

९. खरैर्युक्तैर्याति ।

१०. वराहैर्युक्तैर्याति ।

११. कृष्णां धेनुं कृष्णवत्सां नलदमाली दक्षिणामुखोव्राजयति ।

अथ

आत्मगतिविज्ञानोपनिषदि आत्मगतिनिमित्तानि

(क) "पन्थानः"

(ख) "कर्म्माणि"

जिस प्रकार जन्म, मृत्यु, क्रिया, दोष ये चार भाव अघाशौच-संक्रमण के निमित्त बनते हैं एवमेव प्रत्यगात्मा की परलोकगति के "**१–पन्थानः, २–कर्म्माणि, ३–नाड्यः, ४–छन्दांसि, ५–देवताः, ६–आतिवाहिकाः, ७–आकाशः ८–लोकाः** ये आठ भाव निमित्त बनते हैं। इन आठों निमित्तों का सोपपत्तिक विवेचन ही प्रकृत परिच्छेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। पहले क्रमप्राप्त सर्वप्रतिष्ठारूप 'पन्थानः' निमित्त की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है—

(क) पन्थानः—

स्थूलशरीरत्यागान्तर उक्त लक्षण गत्यारूढ प्रत्यगात्मा **'तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्'** (वेदान्त सू० ३।१।१)। इस आर्य सिद्धान्त के अनुसार पञ्चमहाभूतों की सुसूक्ष्म मात्राओं से सम्पन्न सूक्ष्म शरीर से, अपूर्व प्रज्ञान–विज्ञान–इन्द्रियमात्रा से, सञ्चित कर्म्मसंस्कार से, इत्यादि भोगायत तथा भोग साधनों से युक्त होता हुआ स्वशुभाशुभकर्म्मानुसार लोकान्तर में गमन करता है। यही गति कालगतिलक्षण आत्मगति, किंवा कर्म्मगति है। इस गति के लिए आधिदैविक (प्राकृतिक) विश्व में जो नियत मार्ग हैं, उन्हें ही **'पन्थानः'** कहा गया है। श्रौतसिद्धान्त के अनुसार आत्मगतिनिमित्तक यह मार्ग सामान्यतः दो भागों में विभक्त है, जैसा कि निम्नलिखित मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है—

"द्वे स्रुती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुतमर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरञ्च ॥"
(ऋक् सं० १०।८८।१५)।

"द्यौष्पितः पृथिवीमातः" (ऋक् सं०)। इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार पृथिवी (भूमि–भूपिण्ड) माता है तथा द्युलोकोपलक्षित सौरसम्वत्सर पिता है। इन द्यावापृथिव्यश्यैतनौधस रसों से ही तदन्तर्भुक्त प्रजा का स्वरूप निर्म्माण होता है, अतः अवश्य ही इन्हें माता-पिता कहा जा सकता है। पितरौ-लक्षणा द्यावापृथिवी के गर्भ में प्रतिष्ठित **पितर** (महानात्मपिण्ड)-**देवता**-(प्राण)–**मर्त्य** (प्रत्यगात्मा) तीनों प्रतिष्ठित हैं। जब ये कम्पित होते हैं, भौमलोक छोड़ते हैं, तो इनके दो ही गन्तव्य मार्ग होते हैं। अर्थात् उत्क्रान्त आत्मा आधिदैविक विश्व में सर्वथा नियतरूप से प्रतिष्ठित दोनों में से किसी एक ही मार्ग का अनुगमन करता है। वे ही दोनों नियत मार्ग क्रमशः **शुक्लमार्ग, कृष्णमार्ग** नामों से व्यवहृत हुए हैं। जैसा कि निम्नलिखित स्मृतिवर्णन से प्रमाणित है—

शुक्ल–कृष्णे गतिह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः ॥ (गी० ८।२६)।

शुक्लमार्ग ही **'देवयानः पन्थाः'** है, एवं कृष्णमार्ग ही **'पितृयाणः पन्थाः'** है। देवयानमार्ग यत्रतत्र उत्तरमार्ग, अर्चिमार्ग, देवमार्ग इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है, एवं पितृयाणमार्ग दक्षिणमार्ग, धूममार्ग, पितृमार्ग इत्यादि नामों से सम्बोधित हुआ है। आगे जाकर इन दोनों मार्गों के दो-दो अवान्तर भेद हो जाते हैं। देवयानमार्ग के वे दोनों विभाग क्रमशः **देवपथ, ब्रह्मपथ** इन दोनों से तथा पितृयाणमार्ग के दोनों विभाग क्रमशः **पितृपथ, यमपथ** इन दोनों से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार दो से चार मार्ग हो जाते हैं। इस मार्ग चतुष्टयी के भेद से आत्मगति के भी मुख्य चार ही भेद हो जाते हैं। वे चारों गतियाँ क्रमशः **'परमगति, उत्तमगति, सद्गति, दुर्गति'** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। देवयानमार्ग द्वारा ब्रह्मपथ से ब्रह्मलोक में जाना परमगति है। देवयानमार्ग द्वारा देवपथ से देवलोक (स्वर्गलोक) में जाना उत्तम गति है। पितृयाणमार्ग द्वारा पितृपथ से पितृलोक (पितृस्वर्ग) में सद्गति है, एवं पितृयाणमार्ग द्वारा यमपथ से यमलोक (नरक) में जाना दुर्गति है। परम–उत्तम–सत्–दुर्गतिभाव व्यवस्थापक इन ब्रह्मपथ–देवपथ–पितृपथ–यमपथ चारों मार्गों का शेष कर्म्म, नाड़ी, छन्द, देवता, आतिवाहिक, आकाश, लोक इन सातों गतिनिमित्तों के साथ समन्वय हो रहा है। स्वयं कर्म्म भी देवयान–पितृयाणात्मक बनता हुआ चतुर्विध है। नाड़ी में भी चारों भाव समाविष्ट हैं। एवमेव छन्द–देवता आदि में भी चारों अवस्था भुक्त हैं, जैसा कि तत्तन्निमित्त प्रकरणों में स्पष्ट हो जायगा।

(ख) कर्म्माणि —

परिगणित गतिनिमित्तों में से कर्म्मनिमित्त इसलिए अपना विशेष महत्व रखता है कि, इसी कर्म्मजनित संस्कार के तारतम्य से नाडी–लोक–आतिवाहिकादि निमित्तों के स्वरूप में तारतम्य उत्पन्न होता है। इसी कर्म्म की संक्षिप्त मीमांसा इन शब्दों में की जा सकती है कि, **'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु-तिष्ठत्यकर्म्मकृत्'** न्याय से प्रत्येक मनुष्य यावज्जीवन अवश्य ही कर्म्म-प्रपञ्च से आक्रान्त रहता है। इन मानवीय कर्म्मों को महर्षियों ने **'कर्म्म–विकर्म्म–अकर्म्म'** भेद से तीन भागों में विभक्त माना है। आगे जाकर इन तीनों में से प्रत्येक के अवान्तर अनेक भेद हो जाते हैं, जिनका गीता विज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत 'कर्म्मयोग परीक्षा' नामक द्वितीय खण्ड के 'ख–ग' विभागों में विस्तार से निरूपण हुआ है। प्रकृत में विषय समन्वय के लिए केवल मुख्याकर्म्मत्रयी का ही दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

गुणत्रयावच्छिन्ना, योगमाया नामात्मिका जिस प्रकृति (हरिमाया) के गर्भ में अस्मदादि प्रजावर्ग प्रतिष्ठित है, वह प्रकृति निरन्तर कुछ न कुछ कर्म्म किया करती है। कर्म्मप्रधाना, कर्म्मशीला इस प्रकृति की प्रेरणा से, किंवा प्रकृति की अव्यर्थ प्रेरणा से अस्मदादि प्रजावर्ग को भी विवश होकर किसी न किसी कर्म्म में अवश्यमेव प्रवृत्त रहना पड़ता है, जैसा कि, **"कार्य्यते ह्यवश्यः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः"** इत्यादि स्मृति से प्रमाणित है। हमें कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रखने वाली योगमायात्मिका कर्म्ममयी इस प्रकृति के **'स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी'** ये पाँच मुख्य पर्व हैं। पाँचों ही प्राकृतपर्व नास्तिसारबल सम्बन्ध से, तथा अस्तिसार रस सम्बन्ध से आत्मा–शरीर, भेद से दो-दो भागों में विभक्त हैं। रसप्रधान अस्तिभाव आत्मा है, बलप्रधान नास्तिभाव शरीर है। आत्मा ब्रह्म है, यही ज्ञान है। शरीर ब्रह्मायतन है, यही कर्म्म है। ब्रह्म-कर्म्मात्मिका इसी प्रकृति के लिए **'ब्रह्म-कर्म्म च मे दिव्यम्'** यह कहा गया है। पञ्चपर्वात्मक यही प्राकृतिक विश्व आधिदैविक विश्व है, जिसके समष्टि-व्यष्टिरूप से ब्रह्म-कर्म्म भेद से दो-दो विवर्त्त हैं। प्राकृतिक आधिदैविक विश्व ही ज्ञानप्रधानात्मक दृष्टि से **'ब्रह्माश्वत्थ'** कहलाया है, एवं कर्म्म-प्रधाना शारीरदृष्टि से **'कर्म्माश्वत्थ'** कहलाया है। ब्रह्माश्वत्थ अपरिवर्त्तनीय ज्ञान सम्बन्ध से अपरिवर्त्तनीय है, एवं कर्म्माश्वत्थ परिवर्त्तनीय क्षणिक–कर्म्म सम्बन्ध से सम्यक्–संसरणशील है। इसी कर्म्मदृष्टि से यह प्राकृतिक कर्म्माश्वत्थ वृक्ष 'संसारवृक्ष' (संसारमहीरुह) कहलाया है, जिसकी ब्रह्माश्वत्थ ही मूल प्रतिष्ठा है।

"अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके" (वे०सू० २।३।४३) **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'**—**'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्'**–**'यदेवेहतदमुत्र, यदमुत्रतदन्विह' पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'**—**'योऽहं सोऽसौ, योऽसौ सोऽहम्'** इत्यादि स्मृति–श्रुति प्रमाणों के अनुसार जीवसर्ग ब्रह्म–कर्म्माश्वत्थरूप उक्त प्रकृतिपञ्चक का ही अंश है। सुतरां—**'कारणगुणाः कार्य्यैः गुणानारम्भते'** न्याय से जीवसर्ग में भी अंशी के ब्रह्म–कर्म्म दोनों विवर्त्तों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। अन्तर अंशी तथा अंश में केवल यही है कि, प्राकृतिक आधिदैविक पुरुष के ब्रह्म–कर्म्मधातु समभावापन्न बनते हुए शान्त हैं एवं वैकृतिक आधिभौतिक इस पुरुष के ब्रह्म–कर्म्म धातु विषमभावापन्न हैं, और यही धातुवैषम्य जीव की दुःख प्रवृत्ति का आदिकारण है, जिसके मूल में प्रज्ञापराध प्रतिष्ठित है।

यद्यपि उक्त कथनानुसार जीवसर्ग में अंशी प्राकृतिक पुरुष के स्वयम्भू–परमेष्ठी आदि पाँचों पर्वों के ही ब्रह्म–कर्म्म युग्मों का अंश भुक्त होता है, तथापि **'रोदसी त्रिलोकी'** नाम से प्रसिद्ध सौर त्रिलोकी से सम्बन्ध रखने वाली अस्मदादि पार्थिव जीवसर्ग में प्राकृतिक पुरुष के सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी इन तीन पर्वों के ब्रह्म-कर्म्मयुग्मों की ही प्रधानता रहती है। इन तीनों के सम्बन्ध में भी यह विशेषता और लक्ष्य में रखनी चाहिए कि, सूर्य्यसंस्था में ब्रह्ममात्रा प्रधानरूप से विकसित हैं, तदनुकर्म्ममात्रा भी पूर्ण विकसित है। इस प्रकार सौर ब्रह्मकर्म्मयुग्म समभावापन्न बनता हुआ शान्तिलक्षण समत्वयोग (बुद्धियोग) की प्रतिष्ठा बन रहा है। चन्द्रमा में ज्ञानमात्रा का अर्द्धविकास है, कर्म्ममात्रा का पूर्ण विकास है, एवं पृथिवी में आकर ब्रह्ममात्रा सर्वथा उन्मुग्ध हो रही है, कर्म्म अतिशयरूप से प्रबल बन रहा है। दूसरे शब्दों में इसी तारतम्य का यों भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है कि, कर्म्म में ज्ञानमात्रा का पूर्ण विकास है, कर्म्ममात्रा गौण है। चन्द्रमा में ज्ञानमात्रा अर्द्ध है, कर्म्ममात्रा पूर्ण है, एवं पृथिवी में ज्ञानमात्रा मुकुलित

है, कर्म्ममात्रा विकसित है। कर्म्म तथा क्रिया शब्द अभिन्नार्थक हैं। क्षणकर्म्म का नाम क्रिया है, अनेक क्षण त्रियाओं की धाराबलानुगता सन्तानावस्था (समष्टि) कर्म्म है। क्रिया समष्टिगुण है, गुणकूट ही द्रव्य है, यह द्रव्य ही कर्म्मपुद्गल है। इसी आधार पर नास्तितत्वोपासकों ने सत्ता का- **'उत्पादव्ययध्रौव्यं सत्'** यह लक्षण किया है। यही क्रियारूप, किंवा क्रियासमष्टिरूप कर्म्म लोकभाषा में द्रव्य (अर्थ) नाम से व्यवहृत हुआ है।

इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि, द्युलोकाधिष्ठाता सूर्य्य में ज्ञानशक्ति की प्रधानता है, आन्तरिक्ष्य चन्द्रमा में क्रियाशक्ति का प्राधान्य है, एवं पार्थिव संस्था में अर्थशक्ति विकसित है। ज्ञान ब्रह्म है, क्रिया कर्म्म हैं, क्रियासमष्टि अर्थ है। इस प्रकार बलग्रन्थि तारतम्य से तीनों युग्मों के क्रमशः 'ब्रह्म–कर्म्म–अर्थ' ये रूप हो जाते हैं। कर्म्मगर्भित ब्रह्म (ज्ञान) ब्रह्म है, ब्रह्मगर्भित कर्म्म कर्म्म है, एवं ब्रह्म-कर्म्म (क्रिया) गर्भित द्रव्य अर्थ है। सूर्य्य ब्रह्म संस्था है, चन्द्रमा कर्म्मसंस्था है, पृथिवी अर्थसंस्था है। ज्ञान–क्रिया–अर्थमूर्त्ति सूर्य्य में ज्ञान का प्राधान्य है, ज्ञान–क्रिया–अर्थमूर्त्ति चन्द्रमा में क्रिया का प्राधान्य है, एवं सतत् त्रयमूर्ति पृथिवीलोक में अर्थ का प्राधान्य है। प्रकृत में तीनों विवर्त्तों का कर्म्मांश-मात्र ही निरूपणीय है।

१. पार्थिव कर्म्म

इन्द्रप्रमुख त्रयस्त्रिंशद्देवप्राणभुक्ति से ज्ञानप्रधान सूर्य्य **देवलोक** है, अग्निष्वात्तादि अष्टविध पितृ-प्राणभुक्ति से क्रियाप्रधान चन्द्रमा **पितृलोक** है, एवं वैश्वानर प्रमुखमानवप्राणभुक्ति से पार्थिव विवर्त्त मनुष्यलोक है। भूपृष्ठ पर जन्म धारण करने वाले मनुष्य में त्रिलोकी के अतिमान (पारस्परिक भुक्ति) सम्बन्ध से तीनों लोकों की मात्रा का समावेश है। इन तीनों प्रवर्ग्य भागों के सम्बन्ध से मानव–प्रजा में तीन प्रकार की कर्म्मधाराओं का समावेश रहता है। हाँ, यह विशेषता अवश्य सुरक्षित है कि, मनुष्य चूंकि पार्थिव प्राणी है, अतएव इसमें सूर्य्य–चन्द्रापेक्षया पार्थिव अंश का प्राधान्य है। फलतः पार्थिव अर्थप्रधान कर्म्म का प्राधान्य स्वतः सिद्ध है। इससे कम मात्रा पितृकर्म्म की रहती है, ततोऽपि स्वल्पमात्रा देवकर्म्म की रहती है। पार्थिवशरीरावच्छिन्न–पार्थिवभूतात्मलक्षण जीवात्मा इस पार्थिव अर्थ प्राधान्य से जन्म से ही अर्थ की ओर (जड़परिग्रहसंग्रह की ओर) विशेष रूप से आकर्षित रहता है। तमोगुणप्रधाना यही अर्थासक्ति इसके प्रज्ञाभाग को उत्तरोत्तर मलीमस बनाता हुआ अन्ततोगत्वा इसकी असुर्य्य–तामसगति का प्रवर्त्तक बनता है, जिसके निरोध के लिए शास्त्रोपदेश प्रवृत्त हुआ है।

धर्म्मशिक्षा का निगरण कर जाने वाली वर्तमान युग को अर्थशिक्षा (वकालत, इञ्जिनीयरिंग इत्यादि) के अनुग्रह से, तथा मोक्षशिक्षा का निगरण कर जाने वाली कामशिक्षा (डॉक्टरी) के अनुग्रह से अर्थ–कामभावों को ही परमपुरुषार्थ मानने वाले महापुरुषों की आध्यात्मिक संस्था में धर्म्मानुगत पितृकर्म्म का, एवं मोक्षानुगत देवकर्म्म का आत्यन्तिकरूप से अभाव रहता है। प्रधानता रहती है, एकमात्र अर्थ-कामानुगत पार्थिवकर्म्म की। अर्थसञ्चय एवं तद्द्वारा ऐन्द्रियक कामों की तृप्ति, ये दो कर्म्म ही इन अर्थ-प्रेमियों के जीवन के मुख्य लक्ष्य बने रहते हैं। फलतः ऐसे अर्थी, कामी कदापि शान्तिलाभ नहीं उठा

सकते। **अर्थसञ्चय** साधक, कामनापूरक कर्म्मों में अहोरात्र व्यस्त रहना, सञ्चित अर्थ का प्रासाद निर्म्माण, उद्यानविहारादि में उपयोग करना, अपनी इन कामनाओं की लिप्सा में पड़कर तत्साधनभूत अर्थ के संग्रह के लिए आत्माभिमान को जलाञ्जलि समर्पित कर निकृष्टवृत्तियों का अनुगमन करना, एवं **'खाना-पीना मौज उड़ाना'** को ही मुख्य सिद्धान्त मानना, यही इन अर्थप्रेमियों की करुण गाथा है।

देवता–पितर जैसी दिव्य विभूतियों का ऋण लेकर उत्पन्न होने वाले मनुष्य ने यदि यावज्जीवन उक्त लक्षण वित्तानुग्राहक ही कर्म्म किया तो उसने क्या किया ? कुछ भी नहीं। स्वोदरपोषण के लिए एक पशु अपने जीवन में जो कुछ करता है, वही पुरुषार्थ इस अर्थार्थी ने किया। सचमुच ऐसे अर्थी का उस अर्थी से ही समतुलन किया जायगा, जो शवशरीर का वहन करता है। अर्थ स्वयं जड़ है, मर्त्य है, शवात्म है। इसे प्रधान लक्ष्य बनाता हुआ अर्थी जीवित ही अर्थी में आरूढ है। **'नामृतत्वस्यत्वाशास्ति वित्तेन'** न्याय से वित्तानुगामी शवशरीरी इस लोक के मनुष्य के लिए शाश्वतशान्तिद्वार के कपाट सर्वथा अवरुद्ध है। चूंकि अर्थप्रधान इन सब लौकिक पार्थिव कर्म्मों का 'स्व' (अपने आप) से ही सम्बन्ध है, इसका यह कर्म्म तथा कर्म्मसाध्य अर्थ केवल स्वोपभोग के लिए है, अतएव यह पार्थिव–स्वकर्म्म—**'स्वार्थ'** कहलाया है, एवं तदनुगामी पशु–समतुलित मनुष्य **'स्वार्थी'** कहलाया है। ऐसे स्वार्थी, वित्तलोलुप की दृष्टि में माता, पिता, भ्राता, भगिनी, कुटुम्ब, समाज आदि का कोई महत्त्व नहीं है। इसके स्व-भाव की व्याप्ति रहती है—केवल जाया, पुत्रादिपर्य्यन्त। कभी-कभी तो जाया–पुत्रादि भी अपवाद बन जाते हैं। स्वस्वार्थसिद्धि के लिए यदि इस नराधम को माता–पिता की वञ्चना करनी पड़े तो इस जघन्य कर्म्म के लिए भी यह सन्नद्ध रहता है। सबका सर्वस्व अपहरण करने में यह अपनी शिक्षा का सदुपयोग मानता है। असेव्य सेवा, लक्ष्मी वाहनों के प्रति आत्मसमर्पण, शारदोपासकों का उपहास आदि इसके अतिथि बने रहते हैं। स्वार्थ साधना की प्रश्नोपस्थिति पर यह 'स्पष्टीवादी' बनने की घोषणा कर देता है। काल-महिमा का बखान करता हुआ, समाज से तिरस्कृत होता हुआ भी यह अङ्गीकृत सिद्धान्तों का परित्याग कर देता है। कहना होगा कि, वर्तमान युग में ऐसे स्वार्थियों से ही (अधिकांश में) भारतवसुन्धरा भारपीडिता बन रही है।

२. पितृकर्म्म

सौभाग्य से यदि किसी में चान्द्रपितृकर्म्म का भी विकास रहता है, तो वह अपने स्वार्थ के साथ-साथ अन्य व्यक्तियों के स्वार्थसाधन को भी स्वकर्म्म से लक्ष्य बनाता है। यह उन्हीं कर्म्मों का अनुगमन करता है, जिनसे अपने उपकार के साथ-साथ दूसरों की भी भलाई सम्भव है। इसका यह परार्थसाधक कर्म्म आत्मस्थश्रद्धासूत्रान्वित पितृप्राण की प्रेरणा का फल है, अतएव इस परार्थकर्म्म को अवश्य ही पितृकर्म्म कहा जा सकता है। इस कर्म्म के—**'इष्ट–आपूर्त्त–दत्त'** भेद से तीन विवर्त्त माने गये हैं। परार्थ-वर्ग को कुटुम्बस्वार्थ, अन्य व्यक्तिस्वार्थ, अनेक व्यक्तिस्वार्थ भेद से तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। जीवित पिता, माता, भ्राता, भगिनी अन्य सपिण्ड कुटुम्बी आदि के भरण-पोषण के निमित्त स्व-सम्पत्ति का उपयोग करना कुटुम्बस्वार्थलक्षण 'स्वार्थकर्म्म' है, एवं मृत सपिण्डों के लिए श्राद्ध करना भी यही स्वार्थकर्म्म है। इस स्वार्थलक्षण परार्थ का ही नाम **'इष्ट'** कर्म्म है। इससे स्वकर्म्म को भी साहाय्य

प्राप्त होता है, कुटुम्बियों की रक्षा होती है। चान्द्रलोकगत पितृपिण्ड भी तृप्त होते हैं, आप्यायितपिण्ड श्रद्धासूत्र द्वारा स्वयं इसके महत्पिण्ड को भी प्रजातन्तु वितान में समर्थ बनाते हैं। साथ ही श्राद्धकर्म्मान्त में होने वाले ब्राह्मण भोजन से यही इष्टकर्म्म आंशिकरूप से सामाजिक स्वार्थसाधन लक्षण परार्थ का भी उपोद्‌बलक बन रहा है। स्वपिण्ड स्वार्थ के अतिरिक्त अन्य अनाथ बालक, अनाथ विधवा, हीनाङ्ग, असमर्थ, दरिद्र आदि व्यक्तियों को लक्ष्य बना कर इनकी भोजनाच्छादनादि से रक्षा करना 'दत्त' नामक परार्थ पितृकर्म्म है, एवं वापी—कूप–तड़ाग–देवालय—वाचनालय—पुस्तकालय—धर्म्मशाला—पाठशाला आदि निर्म्माण द्वारा अनेक व्यक्तियों (समाज) का एक साथ उपकार करना परमार्थलक्षण **'आपूर्त्त'** कर्म्म है। इस प्रकार परार्थलक्षण पितृकर्म्म के उक्तरूप से स्वार्थ–परार्थ–परमार्थ भेद से इष्ट-दत्त-आपूर्त्त नामक तीन अवान्तर कर्म्म हो जाते हैं। इस त्रिविध पितृकर्म्म से श्रद्धासूत्र द्वारा आध्यात्मिक पितृप्राण उत्तरोत्तर विकसित होता रहता है। अतएव इस कर्म्मत्रयी को पितृस्वर्गगति का निमित्त बतलाया गया है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

विद्या, ब्रह्म, वेद तीनों तत्त्व उपाधिभेद से भिन्न होते हुए भी निरूपाधिदृष्ट्या अभिन्नार्थ के सूचक हैं। संस्कारावच्छिन्न वही प्रत्यगात्मज्ञान विद्या है, विषयावच्छिन्न वही प्रत्यगात्मज्ञान ब्रह्म है, एवं विषयावच्छिन्न वही प्रत्यगात्मज्ञान वेद है। इसी ज्ञानसामान्य दृष्टि से तीनों के लिए—**'त्रयीविद्या, त्रयंब्रह्म, त्रयोवेदाः'** व्यवहार प्रचलित है। जैसा कि ईशविज्ञानभाष्यादि में विस्तार से निरूपित है। महदुक्थ (सूर्य्यपिण्ड) रूप से ऋङ्मय, महाव्रत (सौरप्रकाशमण्डल) रूप से साममय, पुरुष (सूर्य्य, सूर्य्यमण्डलान्तर्गत स्थितिगर्भितगतिलक्षण सावित्राग्नि) रूप से यजुर्म्मय बनती हुई सूर्य्यसंस्था त्रयीवेदधन है, जैसा कि **'सैषात्रयी विद्या तपति'** (शत०) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। इसी त्रयीविद्या के आधार पर सौरयज्ञलक्षण सौरदिव्यकर्म्म प्रतिष्ठित है, जैसा कि—**'सैषा त्रयीविद्या यज्ञः–यज्ञं कृन्वा सत्यं तनवाम है'** इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। जिस प्रकार विशुद्ध स्वार्थसाधक लौकिक पार्थिव स्वार्थ कर्म्मों का इस सौरत्रयी विद्या से कोई सम्बन्ध नहीं है, एवमेव स्वार्थ–परार्थ–परमार्थ भेद से इष्ट–दत्त–आपूर्त्तभेदेन त्रिधाविभक्त परार्थलक्षण उक्त पितृकर्म्म भी त्रयीज्ञान की कोई अपेक्षा नहीं रखता। यद्यपि पितृकर्म्म के श्राद्धकर्म्मात्मक इष्टकर्म्म में त्रयीविद्या का (वेदमन्त्रों का) उपयोग होता है, परन्तु यह इतिकर्त्तव्यता कुलपुरोहित-याजक ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न हो सकती है। स्वयं न जानने पर भी पितृकर्म्म का यह अंश सम्पन्न हो सकता है। शेष दत्त, आपूर्त्त नामक पितृकर्म्मों से तो त्रयीविद्या का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। नितान्त मूर्ख, किन्तु धनसम्पन्न एक अज्ञव्यक्ति की दत्त-आपूर्त्त का अनुगमन कर सकता है। अतएव केवल इष्ट को छोड़कर शेष दोनों पितृकर्म्मों में पृथिवी के सम्पूर्ण मनुष्यों को समानाधिकार प्राप्त है। चूंकि पितृकर्म्मत्रयी में त्रयीविद्या निरपेक्ष है, अतएव इसे—**'विद्यानिरपेक्षसत्कर्म्म'** कहना अन्वर्थ बनता है।

३. दिव्यकर्म्म

तीसरा क्रमप्राप्त दिव्यकर्म्म है, जिसका सवनत्रयावच्छिन्न, छन्दस्त्रयी–अनुगत–ब्रह्मक्षत्र–विड्भाव-प्रवर्त्तक सम्वत्सरमण्डल से ही सम्बन्ध है। त्रयीविद्यामयसौरभाग ही आध्यात्मिकसंस्था में प्रतिष्ठित होकर दिव्यकर्म्म प्रवृत्ति का कारण बनता है। इसके आगमन में विशेषधर्म्म का हस्तक्षेप है। भारतीय महर्षियों

ने इसी विशेषता के आधार पर ब्रह्म–क्षत्र–विड्वीर्य्यानुबन्ध से नित्यसिद्धा वर्णत्रयी की व्यवस्था की है, जैसा कि—'**वर्णव्यवस्थाविज्ञानादि**' निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है। इसी प्राकृतिक–नित्य–जन्म-मूला–वर्णव्यवस्था के आधार से त्रयीविद्यात्मक दिव्यकर्म्म केवल भारतीय द्विजातिवर्णत्रयी के लिए ही नियमित हैं। इनके सम्बन्ध में समानाधिकार का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि पार्थिवकर्म्म की प्रबलता रहती है, तो यह दिव्यभाव सर्वथा अभिभूत हो जाता है, अन्यथा विकसितमात्र से ही तब तक दिव्यकर्म्मों में सफलता नहीं मिल सकती, जब तक कि स्मार्त्तषोडशसंस्कारपूर्वक त्रयीविद्याध्ययन द्वारा विद्यात्मक संस्कार अध्यात्म में प्रतिष्ठित नहीं कर लिया जाता। केवल कुलपुरोहित के आधार पर स्वयं ज्ञानप्राप्त किए बिना दिव्यकर्म्मानुगमन असम्भव है। अतएव इस दिव्यकर्म्म को—'**विद्यासापेक्षकर्म्म**' कहना अन्वर्थ बनता है।

उक्त लक्षण दिव्यकर्म्म के भी पितृकर्म्मवत् '**यज्ञ–तप–दान**' भेद से तीन विवर्त्त माने गए हैं। अरणिमन्थन द्वारा उत्पन्न दिव्यलोक की प्रतिकृतिरूप आहवनीय कुण्ड में प्रतिष्ठित, सामिधेनी मन्त्रों से समिद्ध, दिव्यभावापन्न वैध अग्नि में मन्त्र द्वारा आहुति देना ही यज्ञकर्म्म है। इस यज्ञकर्म्म से उत्पन्न दिव्यातिशयरूप दैवात्मा ही यज्ञ पुरुष है, जिसका यज्ञकर्त्ता यजमानात्मा के मानुषात्मा (प्रत्यगात्मलक्षण भूतात्मा) के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध हो जाता है, एवं आयुर्भोगान्तर जो कि दैवात्मा स्वाभाविक दिव्याकर्षण से इस प्रत्यगात्मा की स्वर्गगति का कारण बनता है। यज्ञकर्म्म द्वारा उत्पन्न यज्ञातिशयलक्षण-दैवात्मा की स्वरूपरक्षा के लिए यावज्जीवन अनुष्ठीयमान स्वभागत्यागलक्षण–आध्यात्मिक भृग्वङ्गिरोमय प्राणकर्म्म (उपासना आदि) ही तप है, एवं यज्ञिय–ऋत्विजों को, योग्य–पूर्णाङ्ग ब्राह्मणों को सत्कारपूर्वक दक्षिणादि से सम्मानित करना ही 'दान' है। इन तीनों में यज्ञाधिकार एवं तज्जनित दैवात्म द्वारा स्वर्ग प्राप्ति, एकमात्र वेदविद्यावित् विद्वान् को ही प्राप्त है। तपस्वी भी यदि अविद्वान् है, तो न तो उसे यज्ञाधिकार ही प्राप्त है, एवं न स्वर्लोकावाप्ति का ही इसको अधिकार। इस विद्यासापेक्ष दिव्यकर्म्म से स्वार्थ-सिद्धि तो होती है, परन्तु सर्वहुत यज्ञतृप्ति के द्वारा यही दिव्यकर्म्म विश्वशान्ति का भी कारण बनता है। अतएव इसे परमार्थ कर्म्म कहा जा सकता है। यदि दिव्यकर्म्म में केवल स्वर्गासक्ति है, तो यह भी प्रत्येक दशा में निन्द्य है। क्योंकि उस दशा में वेदसिद्धयज्ञ त्रिगुणभावाक्रान्त बनता हुआ लौकिक पार्थिवकर्म्मवत् बन्धन का ही कारण बन जाता है।

इस प्रकार सूर्य्य–चन्द्र–पृथिवी के दिव्य पैत्र्य–पार्थिवकर्म्मों की भुक्ति से मानुषकर्म्म दिव्यकर्म्म, पितृकर्म्म भेद से तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं। प्रथम दिव्यकर्म्म ज्ञानशक्ति को, द्वितीय पितृकर्म्म क्रियाशक्ति को, तृतीय पार्थिवकर्म्म अर्थशक्ति को अपना मुख्य लक्ष्य बना रहा है। दिव्यकर्म्म परमपुरुषार्थ-लक्षण परमार्थकर्म्म कर्म्म है, पितृकर्म्म पुरुषार्थलक्षण परार्थकर्म्म है, एवं पार्थिवकर्म्म इन्द्रियार्थलक्षण स्वार्थकर्म्म है। जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट हो जाता है—

१—सूर्य्यः→देवलोकः—क्रियार्थगर्भितो ज्ञानमयः→दिव्यकर्म्माधिष्ठाता
२—चन्द्रमाः→पितृलोकः→अर्थज्ञानगर्भितो क्रियामयः→पितृकर्म्माधिष्ठाता
३—भूलोकः→मनुष्यलोकः ज्ञानक्रियागर्भितोऽर्थमयः→पार्थिवकर्म्माधिष्ठाता

'रोदसी—त्रैलोक्यम्'

→सूर्य्यः उत्तमाधिकारिणाम्
१—यज्ञः (स्वार्थः)
२—तपः (परार्थः)
३—दानम् (परमार्थ):
→परमार्थकर्म्माणि (देवप्राणमयानि)
→विद्यासापेक्षंकर्म्म–सौरम्→परमपुरुषार्थः (१)
→चन्द्रमाः मध्यमाधिकारिणाम्
१—इष्टम् (स्वार्थः)
२—आपूर्त्तः (परमार्थः)
३—दत्तः (परार्थः)
→परार्थकर्म्माणि (पितृप्राणमयानि)
→विद्यानिरपेक्षंकर्म्म–चान्द्रम्→पुरुषार्थः (२)
→भूपिण्डः सामान्याधिकारिणाम्
*लौकिकानि कर्माणि
(इन्द्रियार्थः)
→स्वार्थकर्म्माणि (वैश्वानरप्राणमयानि)
→अविद्यासहकृतंकर्म्म-पार्थिवम्→स्वार्थः (३)
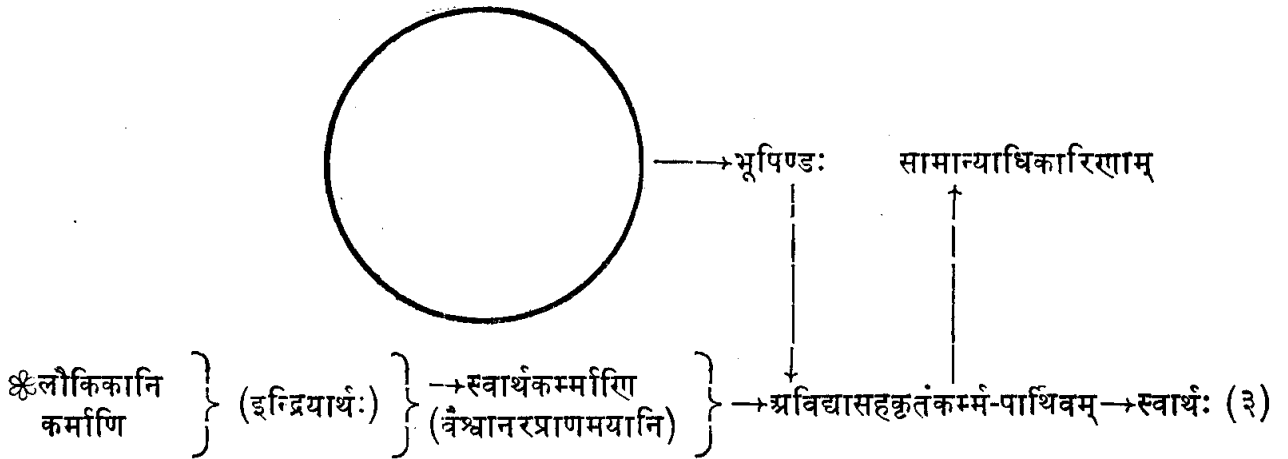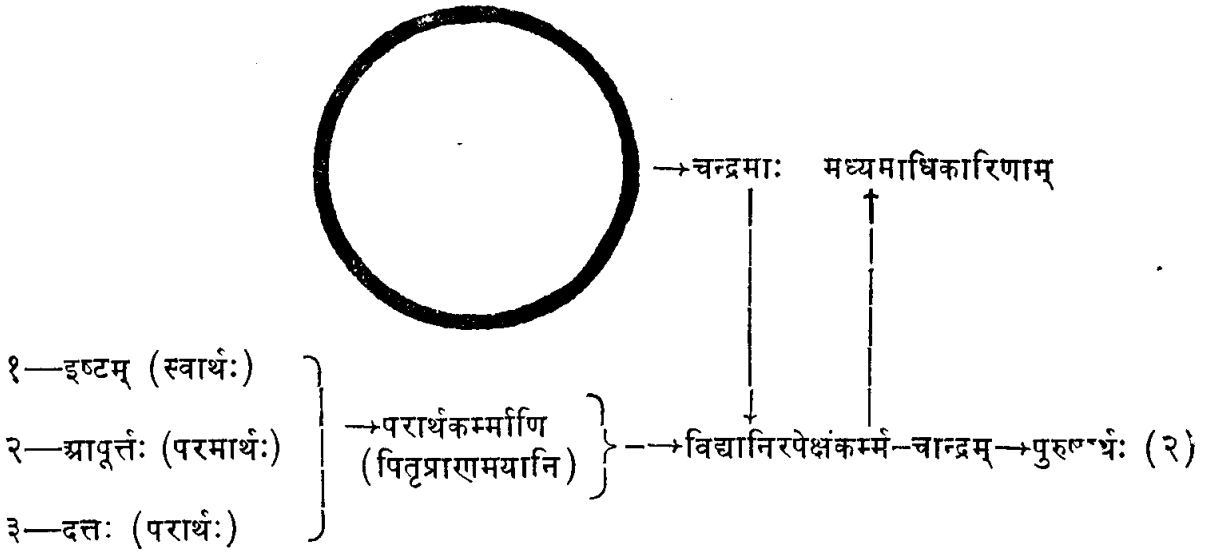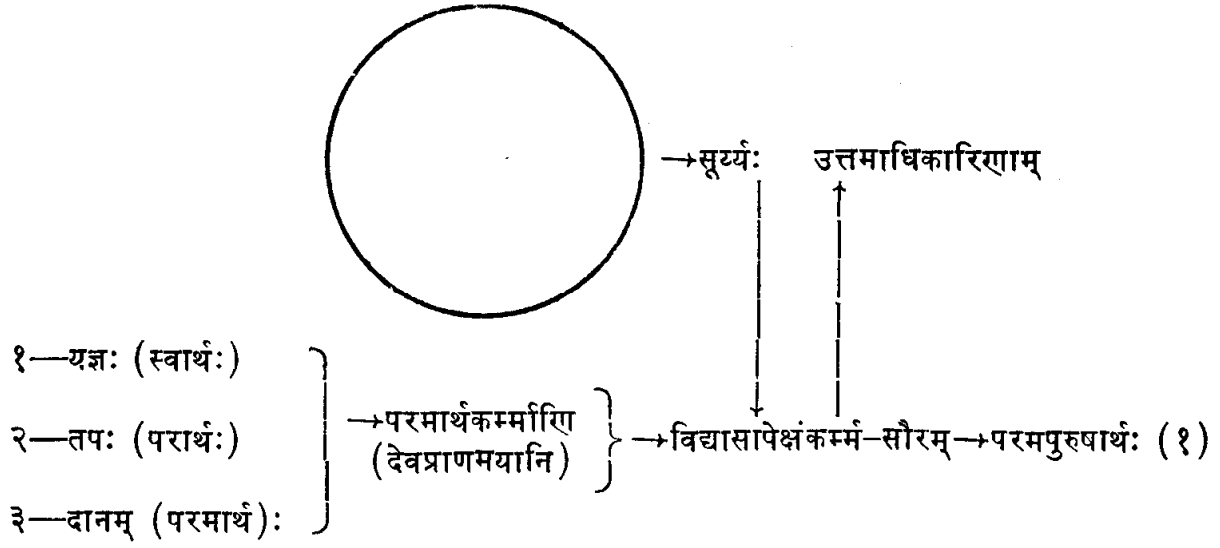
उस ओर सूर्य्य है, इस ओर भूपिण्ड है, मध्य में (सृष्टिदृष्टि की अपेक्षा से*) चन्द्रमा है। थोड़ी देर के लिए मध्यस्थ चन्द्रमा को छोड़कर अवार-पारस्थित भूपिण्ड तथा सूर्य्य की ओर ध्यान आकर्षित कीजिए। स्वम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड इन पाँच पर्वों की समष्टिरूप विश्व के केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है। सूर्य्य के उस ओर परमेष्ठी, स्वयम्भू हैं, एवं सूर्य्य के इस ओर चन्द्रमा-भूपिण्ड है। विश्व-व्यापक विश्वकर्म्मा सर्वहुतयज्ञात्मक आभूप्रजापति का स्वयम्भू-परमेष्ठीयुग्म परमधाम है, चन्द्रमा-भूपिण्ड-युग्म मध्यमधाम है, एवं मध्यस्थ सूर्य्य मध्यमधाम है। मध्यमधामात्मक सूर्य्य वास्तव में विश्व का केन्द्र बन रहा है, जैसा कि—**'बृहद्धतस्थौ भुवनेस्वन्तः'**—**'बिभ्राड्बृहत् पिबतु सौम्यम्'**—**'आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्'**—**'नैवोदेतानास्तमेता, मध्ये एकल एवस्थाता'** इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। सूर्य्य से ऊपर अमृततत्त्व का साम्राज्य है, दूसरे शब्दों में सूर्य्य से ऊपर आभूप्रजापति की ब्रह्मकला (ज्ञानकला) का प्राधान्य है। सूर्य्य से नीचे मृत्युतत्त्व का साम्राज्य है, दूसरे शब्दों में सूर्य्य से नीचे आभूप्रजापति की कर्म्मकला का प्राधान्य है। मध्यस्थ सूर्य्य में अमृत-मृत्युलक्षण ज्ञान-कर्म्म, दोनों कलाओं का समन्वय है। जैसा कि-**'तस्माद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्'**-**'निवेशयन्नमृतंमर्त्यं च'** इत्यादि मन्त्र-ब्राह्मण श्रुतियों से प्रमाणित है।

सूर्य्य का वह ऊर्ध्वभाग, जो शुद्ध चिदंश से युक्त है, अमृत नाम से प्रसिद्ध है, एवं सूर्य्य का वह अधोभाग, जो विशुद्ध कर्म्मातिशय से युक्त रहता है, मृत्यु नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि सूर्य्य के मृत्युलक्षण अधोभाग से अनुगृहित सूर्य्य से नीचे अवस्थित चन्द्रमा तथा पृथिवी, दोनों में प्रधानता मृत्युलक्षण कर्म्म की ही मानी गई है, तथापि गौणरूप से सूर्य्य के ऊर्ध्वभागस्थित अमृतलक्षण चिदंश का भी इनमें अवश्य ही भोग होता है। क्योंकि उभयात्मक सूर्य्य का ही उपग्रह भूपिण्ड है, अतएव सूर्य्यवत् भूपिण्ड का भी उभयधर्म्मावच्छिन्नत्वसिद्ध हो जाता है। उभयधर्म्मात्मक भूपिण्ड का ही उपग्रह अत्रिप्राणसहकार से उत्पन्न चन्द्रमा है, अतएव भूपिण्डवत् चन्द्रमा का भी उभयधर्म्मावच्छिन्नत्व सिद्ध हो जाता है। सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी तीनों क्रमशः वाक्प्रजापति, अन्नप्रजापति, अन्नादप्रजापति (इन्द्रप्रजापति, सोमप्रजापति, अग्निप्रजापति) हैं। तीनों चूंकि अमृतमृत्युमय हैं। अतएव प्रजापति के स्वरूप के सम्बन्ध में—**'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'** यह व्यवस्था हुई है। तीनों संस्थाओं में भुक्त चिदंशलक्षण अमृतकला तथा मृत्युलक्षण कर्म्मकला के भेद से तीनों से सम्बन्ध रखने वाले दिव्य-पितृ-पार्थिव कर्म्मों के प्रत्येक के दो-दो विभाग हो जाते हैं। अमृतलक्षण चित्कला से अनुगृहीत वही कर्म्म निवृत्तिप्रधान है, एवं मृत्युलक्षण कर्म्मकला से अनुगृहीत वही कर्म्म प्रवृत्ति प्रधान है। कर्म्म पाप्मा है, आसक्तिधर्म्मावच्छिन्न बनता हुआ संस्कार लेपबन्धन का कारण है। **'न कर्म्मणा न प्रजया धनेन०'** के अनुसार प्रवृत्तिप्रधान यज्ञादि दिव्य-कर्म्म अशाश्वत स्वर्गादि सुखों के कारण बनते हुएँ भी निवृतिप्रधान संस्कार लेपत्यागलक्षण निष्काम-यज्ञादि दिव्यकर्म्म द्वारा सिद्ध ब्रह्मनिर्माण के कारण नहीं बन सकते। यदि इन्हीं प्रवृत्ति कर्म्मों से मृत्यु-लक्षण कर्म्मकला के साथ उस अमृतलक्षणा चित्कला को आधार बनाते हुए इन्हीं कर्म्मों को निवृत्तिप्रधान बना दिया जाता है, तो ये ही दिव्यादि कर्म्म असङ्ग-अकर्म्मलक्षण चिदंशानुग्रह से अकर्म्म बनते हुए बन्धनविमोक के कारण बन जाते हैं। यही बुद्धियोगलक्षण कर्म्मयोग का मौलिक रहस्य है। विशुद्ध अकर्म्म (ज्ञान) निरर्थक, विशुद्ध कर्म्म पाप्मा का उत्पादक, दोनों का समन्वयलक्षण बुद्धियोग ही एक-मात्र उपादेय। इसी कर्म्मोपनिषत् का विश्लेषण करते हुए भगवान ने कहा है—

---

*स्थितिदृष्टि की अपेक्षा से चन्द्रमा भूपिण्ड के अन्त में माना गया है। चन्द्रपर्व पर पञ्चपर्वात्मक विश्व का अवसान है। अतएव चान्द्रमास 'निधन' नाम से व्यवहृत हुआ है।

"कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः ।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत् ।। (गीता ४।१८) ।

यही अवस्था चान्द्रपितृ कर्म्म की समझिए। सूर्य्यानुगत अर्द्ध ज्योतिर्म्मय चान्द्रपितृप्राण चित्प्रधान है, तदनुगत पितृकर्म्म निवृत्तिप्रधान बनता हुआ बन्धनविमोक का कारण है। सूर्य्यविरुद्ध दिक्स्थ अर्द्ध तमोमम चान्द्रभाग वृत्रप्रधान बनता हुआ आवरककर्म्म प्रधान है। तदनुगत वृत्रात्मक पितृकर्म्म प्रवृत्ति का कारण है। इस प्रकार चान्द्र स्थिति भेद से अमृत–मृत्युलक्षण इस अन्नप्रजापति से अनुगृहित पितृकर्म्म के भी दिव्यकर्म्मवत् दो ही विवर्त्त हो जाते हैं।

यही अवस्था पार्थिवकर्म्म की है। भूपिण्ड का आधाभाग सूर्य्य की ओर रहता है, आधा भाग विरुद्धदिक् में रहता है। सूर्य्यविदिक् में प्रतिष्ठित, अतएव तमोमय आधा भाग प्रकाशविच्छेद से **'दिति'** कहलाया है, एवं सूर्य्यदिक् में प्रतिष्ठित, अतएव ज्योतिर्म्मय आधा भाग प्रकाशाविच्छेद से **'अदिति'** कहलाया है। अदिति भाग में त्रयस्त्रिंशद्देवतात्मक दिव्य **'होता'** नामक अग्नितत्त्व प्रतिष्ठित है, दिति भाग में नवतीर्नव (६६) असुरभावात्मक आसुर **'सहरक्षा'** नामक अग्नितत्त्व प्रतिष्ठित है। होता अग्नि से युक्त पार्थिव अदिति प्राण अमृत प्रधान है, तद्रूप लौकिक कर्म्म निवृत्ति प्रधान बनता हुआ अबन्धन है, एवं सहरक्षा नामक अग्नि से युक्त पार्थिव दितिप्राण मृत्युप्राण है, तद्रूप लौकिक कर्म्म प्रवृत्तिप्रधान बनता हुआ सबन्धन है। अबन्धन पार्थिव लौकिककर्म्म भी अवश्यमेव उस दशा में ग्राह्य बन जाते हैं, जब कि इनका लोकयात्रा निर्वाहमात्र के लिए आसक्तिपूर्वक अनुगमन किया जाता है। अर्थसञ्चयानुगत पार्थिव लौकिककर्म्मों से यदि न्यायपूर्वक शरीरयात्रा का निर्वाह होता है, साथ ही ऐसे पार्थिवकर्म्म से सञ्चित अर्थ का परार्थ–परमार्थ में उपयोग होता है, तो ऐसे पार्थिव लौकिककर्म्म भी अमृतप्रधान बनते हुए बन्धन-विमोक के कारण बन जाते हैं। वे पार्थिव लौकिककर्म्म, जिनमें दित्यवच्छिन्न सहरक्षा नामक असुरप्राण का प्राधान्य है, जिनका कि पूर्व में विशुद्ध स्वार्थलिप्सा से सम्बन्ध बतलाया गया है, सर्वथा सबन्धन है। इन सबन्धन पार्थिव–दिति–कर्म्मों के दो विवर्त्त हो जाते हैं। दितिमण्डल में कुछ दूर तक सौरज्योति का अनुशय व्याप्त रहता है। तदवच्छिन्न दिति भाग छायामय बनता हुआ सामान्यरूप से तमःप्रवृत्ति का कारण बनता है। इसके समावेश से पार्थिवकर्म्म अकर्म्मरूप से परिणत हो जाते हैं। कर्म्मालक्ष्यलक्षण अकर्म्मण्यता भी अकर्म्म है, एवं जिन कर्म्मों का न तो शास्त्र में विधान ही हुआ, न निषेध ही हुआ है, वे निरर्थक कर्म्म भी अकर्म्म ही कहलाए हैं। आगे जाकर दितिमण्डल सौर प्रतिच्छाया से भी वञ्चित होता हुआ घनतमोरूप में परिणत हो जाता है। इसके समावेश में पार्थिव कर्म्म विकर्म्मरूप में परिणत हो जाते हैं। शास्त्रविरुद्ध, विशुद्धस्वार्थमूलक यच्चयावत् लौकिककर्म्म तथा ब्रह्महत्या, सुरापान, भ्रूणहत्या, अगम्यागन, अभक्ष्याभक्षण आदि महापातक लक्षण पापकर्म्म ही 'विकर्म्म' नामक दिति कर्म्म है। पहले अकर्म्मात्मक दितिकर्म्म का उदय होता है। अनन्तर यही अकर्म्म कालान्तर में विकर्म्मात्मक दितिकर्म्म प्रवृत्ति का कारण बन जाता है। इस प्रकार अदितिमूलक उपादेय पार्थिव लौकिक अबन्धनकर्म्म, अदिति प्रतिच्छायानुगत–पार्थिव लौकिक–बन्धन प्रवर्त्तक अकर्म्मात्मक दितिकर्म्म तथा विशुद्ध दितिभावात्मक–निबिडबन्धन प्रवर्त्तक विकर्म्मात्मक दितिकर्म्म भेद से पार्थिवकर्म्म के तीन विवर्त्त हो जाते हैं। तीनों में प्रथम निवृत्ति प्रधान है, २–३ प्रवृत्तिप्रधान है। इस प्रकार अमृत-मृत्यु तारतम्य से तीनों कर्म्मों में दो-दो भावों का समावेश हो रहा है, जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट है—

१
१ (१)
१- यज्ञः
२- तपः
३- दानम्
विद्यासापेक्षानि- निवृत्तकर्म्माणि- अबन्धनानि
अमृतम्
मृत्युः
सूर्य्यः
सूर्य्यः
दिव्यकर्म्माणि (१)
२ (२)
१- यज्ञः
२- तपः
३- दानम्
विद्यासापेक्षानि-प्रवृत्त कर्म्माणि -सम्बन्धनानि
२
१ (३)
१- इष्टम्
२- आपूर्तः
३- दत्तः
विद्यानिरपेक्षानि- निवृत्तसत्कर्म्माणि अबन्धनानि
अमृतम्
मृत्युः
वृत्रः
चन्द्रमाः
पितृकर्म्माणि (२)
२ (४)
१- इष्टम्
२- आपूर्तः
३- दत्तः
विद्यानिरपेक्षानि-प्रवृत्तसत्कर्म्माणि-सबन्धनानि
३
१ (५)
लौकिकानि
परमार्थसाधकानि
लौकिकानि- निवृत्तसत्कर्म्माणि-अबन्धनानि
अमृतम्
मृत्युः
दितिः
पृथिवी
पार्थिवकर्म्माणि (३)
२ (६)
लौकिकानि
निरर्थकानि
लौकिकानि
निकृष्टानि
लौकिकानि
स्वार्थसाधकानि
लौकिकानि-प्रवृत्तहीनकर्म्माणि-सबन्धनानि

भगवान विज्ञानसिद्ध उक्त षट्कर्म्म को कर्म्म, अकर्म्म, विकर्म्म भेद से तीन भागों में विभक्त किया है। विद्यासमुच्चितनिवृत्तिसत्कर्म्म, विद्यासमुच्चितप्रवृत्तिकर्म्म, विद्यानिरपेक्षनिवृत्तिकर्म्म, विद्यानिरपेक्ष-प्रवृत्तिकर्म्म, लौकिकनिवृत्तिसत्कर्म्म इन पाँच कर्म्मों की समष्टि तो सत्कर्म्मलक्षण **'कर्म्म'** है, एवं लौकिक–प्रवृति-हीन कर्म्मों से लौकिक निरर्थककर्म्म **'अकर्म्म'** हैं, तथा लौकिक शास्त्रविरुद्ध कर्म्म तथा लौकिक स्वार्थसाधक कर्म्म **'विकर्म्म'** हैं। सत्कर्म्म लक्षण कर्म्मपञ्चक **'सुकर्म्म'** है, निरर्थककर्म्मलक्षण अकर्म्म **'मन्दकर्म्म'** हैं, एवं शास्त्रविरुद्ध तथा स्वार्थलक्षण विकर्म्म **'दुष्कर्म्म'** हैं। इस प्रकार प्रधानतः तीन भागों में विभक्त यह कर्म्मतन्त्र स्वप्रतिष्ठालक्षण बलतत्त्व के आनन्त्य से आगे जाकर अनेक शाखाओं में परिणित होता हुआ अतिशयरूप से जटिल बन रहा है। इसी कर्म्मविवर्त्त का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान ने कहा है—

कर्म्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्म्मणः।
अकर्म्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्म्मणो गतिः॥ (गी० ४।१७)

१ { १. १–विद्यासमुच्चितनिवृत्तकर्म्माणि→अबन्धनसत्कर्म्माणि–अमृतानि
　　२. २–विद्यासमुच्चितप्रवृत्तानिकर्म्माणि———→सबन्धनसत्कर्माणिमर्त्यानि

२ { १. ३–विद्यानिरपेक्षनिवृत्तानिसत्कर्म्माणि→अबन्धनशुभकर्म्माणि-अमृतानि
　　२. ४–विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तानिसत्कर्म्माणि→सबन्धनशुभकर्म्माणि-मर्त्यानि

२ { १. ५–लौकिकानि निवृत्तानिसत्कर्म्माणि→अबन्धनश्रेष्ठकर्म्माणि-अमृतानि
} →कर्म्म (सुकर्म्म)

　　२. { १–लौकिकानि निरर्थककर्म्माणि→सबन्धनहीनकर्म्माणि–मर्त्यानि]→अकर्म्म (मन्दकर्म्म)
　　　　१—लौकिकानि विरुद्धकर्म्माणि→दृढबन्धननीचकर्म्माणि–मर्त्यानि
　　　　२—लौकिकानि स्वार्थकर्म्माणि→निबिड़बन्धनहेयकर्म्माणि–मर्त्यानि } →विकर्म्म (दुष्कर्म्म)

प्रवृत्ति–बुद्धि से कर्म्मजनितसंस्कारकासक्ति का उदय हो जाता है। इसी आसक्ति से प्रज्ञानमन के द्वारा प्रत्यगात्मा के प्राज्ञभाग के साथ वासनासंस्कार का ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध हो जाता है। यही प्रवृत्ति-मूलक वासनासंस्कारबन्धन* प्रत्यगात्मा की तत्तल्लोकगतियों का निमित्त बनता है। विद्यासमुच्चित प्रवृत्तिकर्म्मानुगाती का प्रत्यगात्मा यज्ञादिजनित दिव्यसंस्कारबन्धन से युक्त रहता है। इसी बन्धनसूत्र द्वारा यह स्थूलशरीर निधनानन्तर देवयानमार्ग द्वारा देवस्वर्ग का अधिकारी बनता है। यदि विद्यानिरपेक्षप्रवृत्ति-

---

*संस्कारबन्धन का कारण नहीं है, अपितु संस्कारबन्धन बन्धन का कारण है, जैसा कि गीता-भाष्य में विस्तार से प्रतिपादित है।

कर्म्म का प्राधान्य है, तो उस दशा में पितृप्राण प्रबल रहता है। इस कर्म्मजनित पितृसंस्कार बन्धन से यह आत्मा पितृयाणमार्ग द्वारा पितृस्वर्ग का अधिकारी बनता है।

निवृत्ति-बुद्धि से कर्म्मजनितसंस्कार का प्राज्ञभाग के साथ ग्रन्थिबन्धन नहीं होने पाता। फलतः विद्यासापेक्ष निवृत्तिकर्म्म से, विद्यानिरपेक्ष निवृत्तिकर्म्म से, तथा लौकिक निवृत्तिकर्म्म से, इन तीनों कर्मों से आगतसंस्कारबन्धन का निरोध हो जाता है, सञ्चितसंस्कारबन्धन उच्छिन्न हो जाता है। प्रारब्धसंस्कार-बन्धन भोगानन्तर यह विमुक्त प्रत्यगात्मा देवयान द्वारा ब्रह्मपथारूढ होकर विमुक्त हो जाता है। देवस्वर्ग–पितृस्वर्ग से पुनरावर्त्तन होता है, किन्तु ब्रह्मपथानुगता मुक्ति में पुनरावर्त्तन का अभाव है।

लौकिक निरर्थक कर्म्मों से, विरुद्ध कर्म्मों से तथा स्वार्थ कर्म्मों से प्राज्ञ पर असुर्य्यसंस्कारबन्धन का साम्राज्य हो जाता है। ऐसा आत्मा पितृयानान्तर्गत यमपथ के द्वारा नरक का अनुगामी बनता है। इस प्रकार कर्म्म तारतम्य से हमारी अध्यात्मसंस्था में ही गतिचतुष्टयी प्रवर्त्तकिका मार्ग चतुष्टयी प्रतिष्ठित है। विद्यासमुच्चितकर्म्म देवयानः पन्थाः है, विद्यानिरपेक्षकर्म्म पितृयाणः पन्थाः है। विद्या समुच्चित प्रवृत्तिकर्म्म देवयानान्तर्गत देवपथ है, विद्यासमुच्चित निवृत्तिकर्म्म देवयानान्तर्गत ब्रह्मपथ है। विद्यानिरपेक्ष निवृत्तिकर्म्म, लौकिकनिरपेक्षकर्म्म दोनों का भी विद्यासापेक्ष निवृत्तिकर्म्मवत् देवयानान्तर्गत ब्रह्मपथ में ही अन्तर्भाव है। विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्तिकर्म्म पितृयाणान्तर्गत पितृपथ है, एवं लौकिक निरर्थक–विरुद्ध–स्वार्थ-कर्म्मत्रयी पितृयाणान्तर्गत यमपथ है। लोकगति के प्रधान निमित्तभूत कर्म्मात्मक चारों आध्यात्मिक मार्गों का यही संक्षिप्त इतिवृत्त है। प्राज्ञभाग में संस्कारात्मक जो पथ पहले से (अध्यात्म में) प्रतिष्ठित हो जाता है, देहत्यागान्तर उसी आधिदैविकपथ का इसे अनुसरण करना पड़ता है, यही निष्कर्ष है। कर्म्म-निमित्त मीमांसा समाप्त हुई, अथ क्रमप्राप्त नाडी–निमित्त की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

१. विद्यासमुच्चितानि कर्म्माणि→देवयानः पन्थाः

२. विद्यानिरपेक्षानि कर्म्माणि→पितृयाणः पन्थाः

१. [१—विद्यासमुच्चितप्रवृत्तकर्म्माणि→देवयानान्तर्गतो देवपथः (देवस्वर्गसाधकः) (१)

२. [२—विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तकर्म्माणि→पितृयाणान्तर्गतः पितृपथः (पितृस्वर्गसाधकः) (२)

३. { १—विद्यासमुच्चितनिवृत्तकर्म्माणि
२—विद्यानिरपेक्षनिवृत्तकर्म्माणि
३—लौकिकनिवृत्तकर्म्माणि } →देवयानन्तर्गतो–ब्रह्मपथः (मुक्तिसाधकः) (३)

४. { १—लौकिकानिनिरर्थककर्म्माणि
२—लौकिकानिविरुद्धकर्म्माणि
३—लौकिकानि स्वार्थककर्माणि } →पितृयाणान्तर्गत–यमपथः (नरकसाधकः) (४)

—**—

(ग) नाड्य

शरीर चेतनाधातु, शारीर प्राणवायु, शारीर रस जिन नियत मार्गों से लोम–केश–नखाग्र भागों को छोड़कर सर्वाङ्गशरीर में प्रभावित रहते हैं, वे नियत मार्ग ही 'नाड़ी' नाम से प्रसिद्ध हैं। चेतनाधातु का वहन करने वाली नाड़ियाँ 'स्नायु' नाम से, प्राणवायु का वहन करने वाली नाड़ियाँ **'धमनी'** नाम से एवं शारीर रसों का वहन करने वाली नाड़ियाँ **'शिरा'** नाम से प्रसिद्ध हैं। दूसरे शब्दों में ज्ञानवाहिनी नाड़ी स्नायु है, क्रियावाहिनी नाड़ी धमनी है एवं अर्थवाहिनी नाड़ी शिरा है। इन तीनों नाड़ियों के प्रत्येक के असंख्य भेद हैं। जिस प्रकार किसी जलपूर्ण सरोवर के द्वारा नियत जलमार्गों (जल प्रणालिकाओं) से सरोवर में केन्द्रित जलप्रवाह से जाता रहता है, एवमेव ज्ञान–क्रिया–अर्थमूर्त्ति प्रत्यगात्मा की प्रतिष्ठाभूत हृदयरूप समुद्र से हृदय से बद्ध इन उक्त त्रिविध मार्गों से ज्ञान–क्रिया–अर्थरूप चेतना–प्राण–रसों का सर्वाङ्गशरीर में गमन होता है। इसी प्रणालिका भाव से हृदयमूल इन मार्गों को 'नाड़ी' (नाली) शब्द से व्यवहृत किया है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट हैं—

तस्यातिमात्रगमनाद्गतिरित्यतश्च–
नाड़ीव यद्वहति तेन मता तु नाड़ी।

तत्तत् शारीर कर्म्मकलाप भेद से इन्हीं तीन नाड़ियों के आगे जाकर दन्तनाडी, वायुवहा, मूत्रविडा-स्थिरसावाहिनी, आहारवाहिनी, कायवाहिनी, सोमवाहिनी, अग्निवाहिनी, वातनाड़ी, पित्तनाड़ी, श्लेष्मनाड़ी, इत्यादि अनेक विवर्त्त हो जाते हैं। शरीर में प्रतिष्ठित शरीरी प्रत्यगात्मा का पार्थिवस्तौम्य देवताओं से सम्बन्ध माना गया है। भूपिण्ड के आधार पर वितत महिमापृथिवी के गर्भ में त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश स्तोम भेद से पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ ये तीन लोकभुक्त हैं, एवं इन तीन पार्थिव लोकों में (९–१५–२१ स्तोमात्मक तीनों लोकों में) क्रमशः अर्थमूर्त्ति पार्थिव विराडग्नि, क्रियामूर्त्ति आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भवायु तथा ज्ञानमूर्त्ति दिव्य सर्वज्ञेन्द्र ये तीन अतिष्ठावा देवता प्रतिष्ठित हैं। इन तीनों की समष्टि ही आधि-दैविक देवसत्यात्मा है। यही साक्षीसुपर्ण है। इस साक्षीसुपर्ण के प्रवर्ग्य भूत शारीर प्रत्यगात्मा में भी वे ही तीनों तत्त्व क्रमशः वैश्वानराग्नि, तैजसवायु, प्राज्ञेन्द्र रूप से समन्वित है। इन तीनों की समष्टि ही आध्यात्मिक देवसत्या है, यही भोक्ता सुपर्ण है। इस भोक्ता सुपर्ण (प्रत्यगात्मा) वैश्वानराग्नि भाग के साथ

त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव '**अपान**' नामक प्राण का सम्बन्ध है, तैजसवायु के साथ पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न आन्तरिक्ष्य '**व्यान**' नामक प्राण का सम्बन्ध है, प्राज्ञेन्द्र के साथ एकविंशस्तोमावच्छिन्न दिव्यभावरूप 'प्राण' नामक प्राण का सम्बन्ध है। अर्थशक्तिप्रधान पार्थिव वैश्वानराग्नि से सम्बद्ध अपान अर्थप्रधान है, क्रियाशक्तिप्रधान आन्तरिक्ष्य तैजस से सम्बद्ध व्यान क्रियाप्रधान है, एवं ज्ञानशक्तिप्रधान दिव्य प्राज्ञेन्द्र से समतुलित प्राण ज्ञानप्रधान है। हृदयाकाशस्थद आकाश में प्रतिष्ठित वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञेन्द्रमूर्ति प्रत्यगात्मा के साथ युक्त अपान–व्यान–प्राण ही क्रमशः शिरा–धमनी–स्नायु नाड़ियों की मूल प्रतिष्ठा माने गए हैं। इसी आधार पर शिरा को अपान नाड़ी, धमनी को व्यान नाड़ी एवं स्नायु को प्राण नाड़ी कहा जा सकता है। चूंकि इन तीनों नाड़ियों का प्रज्ञानात्मावच्छिन्न हृदयाकाश से सम्बन्ध है, अतएव तीनों को ही हृन्मूल-नाड़ी कहा जा सकता है।

यद्यपि ज्ञानवाहिनी स्नायुनाम्नी प्राणनाड़ी भी जीवनसत्ता का आधार है, अर्थवाहिनी शिरानाम्नि अपाननाड़ी तथा क्रियावाहिनी धमनीनाम्नी व्याननाड़ी भी जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा है, तथापि तीनों में प्राधान्य मध्यस्था व्याननाड़ी (धमनी) का ही माना जायगा। कारण स्पष्ट है, जब तक व्यानवायु हृदय में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक हृदय से ऊपर प्राणोदानरूप से गमनागमन करने वाले प्राणेन्द्र की, तथा हृदय से नीचे अपान–समान रूप से गमनागमन करने वाले अपानाग्नि की स्वरूप सत्ता सुरक्षित रहती है। दूसरे शब्दों में जीवनोपयिक प्राणोदान तथा अपानसमान व्यापारों की प्रतिष्ठा मध्यस्थ व्यानवायु ही बन रहा है। दिव्य प्राण, पार्थिव अपान, दोनों मध्यस्थ–प्रादेशामित आन्तरीक्ष्य व्यान पर अवलम्बित है। प्राणावरोध से मूर्च्छा हो जाती है, परन्तु मृत्यु नहीं होती। एवमेव अपानावरोध से भी मूर्च्छा सम्भव है, मृत्यु नहीं। जब तक कि व्यान स्वस्थिति से च्युत नहीं होता, परन्तु व्यान के उत्क्रान्त हो जाने पर मृत्यु निश्चित है। अतएव इसे ही जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा मानना न्याय है। ज्ञान–क्रिया–अर्थ तीनों का समन्वय ही जीवनधारण का कारण बनता है, एवं क्रियामूर्त्ति मध्यस्थ व्यान ही उस ओर के ज्ञानमूर्त्ति प्राण का, इस ओर के अर्थमूर्त्ति अपान का सम्बन्ध कराता हुआ तीनों के समन्वय का कारण बनता है। फलतः व्यानात्मिका–धमनी–नाड़ियों का, किंवा धमनी नाड़ियों में भुक्त क्रियामूर्त्ति व्यान का ही जीवन सत्तौपयिकत्व सिद्ध होता है, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से प्रमाणित है—

"न प्राणेन, नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुभाश्रितौ॥" (श्रुतिः)

"अङ्गुष्ठस्य तु मूले या धमनी जीवसाक्षिणी।
तस्या गतिवशाद्विद्यात् सुखंदुःखञ्च देहिनाम्॥" (संग्रहः)

१—प्राज्ञः—सर्वज्ञांशः→इन्द्रः (ज्ञानम्)→चेतना—(प्राणः)→स्नायवः (ज्ञानवाहिन्यो नाड्यः)

२—तैजसः—हिरण्यगर्भांशः→वायुः (क्रियाः)→प्राणः—(व्यानः)→धमन्यः (वायुवाहिन्यो नाड्यः)

३—वैश्वानरः—विराजोंऽशः→अग्निः (अर्थः)→रसः—(अपानः)→शिराः (रसवाहिन्यो नाड्यः)

स्थूल–सूक्ष्म–सूक्ष्मतर–सूक्ष्मतम अवस्थाओं के भेद से उक्त तीन नाड़ियों के ३५०००००० (सार्द्ध-त्रिकोटिमित–साढे तीन करोड़) अवान्तर विवर्त्त हो जाते हैं। रोमकूपों से सम्बन्ध रखने वाले नाड़ीविवर्त्त सपादत्रिकोटिमित (३२५००००० तीन करोड़ पच्चीस लाख) हैं। हस्त–मुख–पाद भागों से सम्बन्ध रखने वाले नाड़ी विवर्त्त लक्षमित (एक लाख) हैं। उदर तथा पायुस्थानों में भुक्त नाड़ी विवर्त्त पञ्चलक्षमित (पाँच लाख) हैं। तीनों हृदय से आरम्भ कर सर्वाङ्ग शरीर में स्वतन्त्र धारा से भुक्त व्यानानुगत नाड़ी-विवर्त्त नवलक्षमित (नौ लाख) हैं। पार्श्व, चर्म्म, शारीर सन्धिपर्वों में भुक्त नाड़ीविवर्त्त विराल्लक्षमित (दस लाख) हैं। सम्भूयसार्द्धत्रिकोटिमित नाड़ीविवर्त्त हो जाते हैं, जिनके विशेष विश्लेषण का न तो प्रकृत आत्मगति से कोई सम्बन्ध ही है, एवं न उन सबका यथावत् विश्लेषण कर देना मादृशलौकिक स्थूल-दृष्टा के लिए सम्भव ही है।

लोमकूपेषु→सपादत्रिकोटयः→	३२५०००००	→सार्द्धत्रिकोटिमिता नाड्यः
हस्तमुखपत्सु→अग्निलक्षः→	१०००००	
पाय्वुदरयोः→पञ्चलक्षाः→	५०००००	
दादिसर्वगात्रेषु→नवलक्षाः→	९०००००	
पार्श्व-चर्म्म-सन्धिषु→विराड्लक्षाः→	१००००००	
	३५००००००	

श्रीदेव्युवाच—"सार्द्धत्रिकोटिनाड़ीनामालयञ्च कलेवरम् ।
क्रमेण श्रोतुमिच्छामि तद्वदस्वमयि प्रभो ! ।।१।।

श्रीशिवउवाच–"लोम्निकूपे सपादार्द्धकोटयश्चैव सुन्दरि !
हस्ता–स्ये च–तथापादेऽग्निलक्षनाड्यः स्थिताः ।।२।।

उदरे च तथा पायौ पञ्चलक्षाः प्रकीर्त्तिताः ।
हृदादि–सर्वगात्रेषु नवलक्षाः प्रकीर्त्तिताः ।।३।।

अथ पार्श्वे तथा चर्म्मे तथैव सन्धिषु ।
रुद्रान्न्यूनं स्थितं लक्षं शरीरे नाड्यः प्रिये ।।४।।

सार्द्धत्रिकोट्योनाड्यो हि स्थूलाः सूक्ष्माश्च देहिनाम् ।
नाभिकन्दनिबद्धास्तस्तिर्य्यगूर्ध्वमधः स्थिताः" ।।५।। (संग्रहः)

सप्तधातु समष्टि, प्रज्ञा, प्राण, इन्द्रियवर्ग, पञ्चप्राण, नाड़ीत्रयी आदि शारीरविवर्त्त भोगायतन लक्षण पाञ्चभौतिक शरीर में ही प्रतिष्ठित है। चूंकि पञ्चीकृत पञ्चभूतों से भौतिकशरीर का निर्म्माण हुआ है, अतएव शरीरभूत समष्टि 'महाभूतसमष्टि' कहलाई है। आत्मगति से सम्बन्ध रखने वाली व्यान नाड़ियों (धमनियों) के सामान्य विवर्त्त ही प्रकृत में मीमांस्य हैं। समानलक्षण ये व्यान नाड़ियाँ 'पृथिवी–जल–तेज–वायु–आकाश' इन पाँच भूतों के पार्थक्य से पाँच संस्थाओं में विभक्त हो रही हैं। पृथिवीनाड़ी, जलनाड़ी, तेजोनाड़ी, वायुनाड़ी, आकाशनाड़ी इन पाँच व्यान नाड़ियों के १४४०० (चौदह हजार चार सौ) विवर्त्त हैं, जिनका '**प्रश्नोपनिषद्विज्ञानभाष्य**' में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। हृदयाकाशस्थ दभ्राकाश में उक्थरूप से प्रतिष्ठित व्यान इन पञ्चनाड़ियों के द्वारा सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त हो रहा है। अतएव इसे '**सर्वशरीरगः**' कहा गया है। पञ्चधाविभक्त इन व्याननाड़ियों का पृथिवी–जलादि–आयतन भेद से रस भिन्न है, वर्णभिन्न है, एवं स्पर्श भिन्न है। उदाहरण के लिए पृथिवी नामक पार्थिव व्यान नाड़ी को ही लक्ष्य बनाइए। अस्थि, मांस, त्वचा, तीनों धनद्रव्य हैं एवं '**यत् कठिनं सा पृथिवी**' श्रुति से तीनों पार्थिव हैं। अस्थि सम्बन्ध से पार्थिव व्यान नाड़ियाँ ४८०० (चार हजार आठ सौ) हैं, मांस सम्बन्ध से भी एतावत्यः ही हैं एवं चर्म्म सम्बन्ध से भी एतावत्यः ही हैं। सम्भूय तीनों पार्थिव धनद्रव्यों के नाड़ी-संकलन से पार्थिव व्यान नाड़ियाँ १४४०० हो जाती है। इनका रस मधुर है, वर्ण पीत है, स्पर्श साम (न उग्र न मृदु) हैं।

शुक्र, शोणित, मज्जा तीनों तरल द्रव्य है। कफ–लार आदि का इन्हीं तीनों में अन्तर्भाव है। '**यद्द्रवं, तदापः**' श्रुति से तीनों जलीय हैं। प्रत्येक में ४८०० जलीय व्यान नाड़ियाँ भुक्त हैं। संकलन से ये भी १४४०० ही हो जाती हैं। इनका रस शिव है, वर्ण श्वेत है, स्पर्श शीत है। क्षुधा–तृषा–निद्रा तीनों तैजस (आग्नेय–रौद्र) द्रव्य हैं। क्षुब्ध शारीराग्नि अन्नाहुति से शान्त होता हुआ शिवरूप में परिणत हो जाता है। अतएव रुद्राग्नि को शिवभाव में परिणत करने वाला यह रुद्रान्न 'शान्तरुद्रिय' नाम से व्यवहृत हुआ है, जो कि परोक्ष भाषा में 'शतरुद्रिय' नाम से प्रसिद्ध है (शत० ७।१।१।१)। अन्नाभाव में शारीर-रुद्राग्नि प्रज्ज्वलित रहता है। अग्निक्षोभ ही इसका ज्वलन है, यह क्षोभलक्षण ज्वलन ही 'क्षुधा' है, यही तृषा है। इसी आधार पर क्षुधा–तृषा को तैजस धातु माना गया है। उदान नाम से प्रसिद्ध तेजो नाड़ी

द्वारा प्रज्ञान मन पर जब सौरतेज का प्रबल आक्रमण होता है, तो अमावस्या के चन्द्रमा की भाँति प्रज्ञान-मन एकान्ततः अभिभूत हो जाता है। इन्द्रिय सम्बन्ध छूट जाता है। प्रज्ञान की इस अभिभूतावस्था को ही निद्रा कहा जाता है। फलतः औदान सौरतेजः सम्बन्ध से निद्रा का भी तेजोभूतत्त्व भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। इन तीनों तैजस भूतों के प्रत्येक के साथ ४८०० तैजस व्यान नाड़ियों का सम्बन्ध है। तीनों के संकलन से इसके भी १४४०० ही विवर्त्त हो जाते हैं। इनका रस तीक्ष्ण है, वर्ण रक्त है, स्पर्श उष्ण है। धावन, चलन, भाषण तीनों वायवीय द्रव्य हैं। धातुत्रय भेद से वायवीय व्यान नाड़ियाँ भी उसी ४८०० क्रम से १४४०० हैं। इनका रस अम्ल है, वर्ण चित्र है, स्पर्श अनुष्णाशीत है। द्वेष, लज्जा, यम ये तीनों आकाशानुगत धातु हैं। द्वेष में आत्मकम्पन है, लज्जा में आत्मसंकोच है, भय में आत्मपतन हैं। कम्पन–संकोच–पतन तीनों अपकाशात्मक आकाशसापेक्ष है। नामरूप ही द्वेष–लज्जा–भय के प्रवर्त्तक हैं, एवं **'आकाशो वै नाम–रूपयोर्निर्बहिता'** श्रुति के अनुसार आकाश ही उदर सम्बन्ध प्रवृत्ति द्वारा नाम–रूपोदय का कारण बनता है। अतएव अवश्य ही इन्हें आकाश धातु कहा जा सकता है। धातुत्रय भेद से आकाशात्मिका व्यान नाड़ियाँ भी उसी ४८०० क्रम से १४४०० हैं। इस प्रकार धातुत्रयभेदेन आरम्भ में ४८०० संख्याओं में, पञ्चभूतसम्बन्धेन १४४०० संख्याओं में विभक्त इन पाँच व्यान नाड़ियों के सम्भूय ७२००० (बहत्तर हजार) विवर्त्त हो जाते हैं।

इन पाँचों व्यान नाड़ियों की पुष्टि पञ्चप्राणों से होती है। एक ही सौरप्राण **'पञ्चधात्मानं विभज्य'** इस प्रश्न श्रुति के अनुसार अपने संस्थाभेदों से शरीरसंस्था में पाँच भावों में परिणत होकर प्रतिष्ठित हो रहा है। वे ही पाँचों विवर्त्त क्रमशः प्राण, उदान, व्यान, समान, अपान इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। पूर्व में जिन प्राणोदानादि पाँच प्राणों का दिग्दर्शन कराया गया था, उनका सौम्यपार्थिव त्रिलोकी से सम्बन्ध था, एवं इन पञ्चप्राणों का सौर्य्य–रोदसी त्रैलोक्य से सम्बन्ध है। केवल नाम साम्य से तत्त्वभेद में भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। रोदसीत्रैलोक्य का प्राणपञ्चक चूंकि स्तौम्य त्रैलोक्य के प्राणपञ्चक से समतुलित है, साथ ही दोनों पञ्चकों के नाम भी समान हैं, अतएव व्यवहार में 'पञ्चप्राण' शब्द ही प्रसिद्ध हो रहा है। तत्त्वतः दोनों पञ्चक सर्वथा भिन्न हैं, जैसा कि निम्नलिखित प्रासङ्गिक वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है।

जिन अष्टविध त्रैलोक्यों का अगले अवान्तर परिच्छेदों में दिग्दर्शन कराया जाने वाला है, उनमें **रोदसीत्रैलोक्य** तथा **स्तौम्यत्रैलोक्य**, इन दो त्रैलोक्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है। जिस चित्यपिण्ड पर अस्मदादि पार्थिव प्राणी चलते–फिरते हैं, वह भूपिण्ड है, यही रोदसी त्रैलोक्य का 'भूलोक' है। भूपिण्ड से अत्यधिक दूर आकाश प्रदेश स्थित स्वज्योतिर्म्मय सूर्य्यपिण्ड रोदसी का 'स्वर्लोक' है, एवं भूपिण्ड सूर्य्यपिण्डरूप दोनों भू-स्वर्लोकों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला रौदसी विश्वात्मक विराट् शरीरावच्छिन्न अन्तरिक्ष ही इस रोदसी का 'भुवर्लोक' है। तीनों की मूलप्रतिष्ठा सूर्य्य है, अतएव इस त्रिलोकी को सूर्य्यत्रिलोकी कहा जायगा। सूर्य्य से आरम्भ कर भूपिण्डान्त एक ही सौरप्राण व्याप्त है, यही सत्यप्राण है। व्यष्टिरूप से त्रिधाविभक्त इस एक ही सूर्यप्राण के 'प्राण–व्यान–अपान' ये तीन विवर्त्त हो रहे हैं। तीनों में स्वर्लोकावच्छिन्न प्राण–प्राण तथा भूलोकावच्छिन्न अपान प्राण, दोनों अवारपारीण

सौर–भौमप्राण सूर्य्यात्मक गायत्रीमात्रिक वेद के गायत्रप्राण सम्बन्ध से 'ऐति–प्रेति', इन दो भावों से युक्त होते हुए दो-दो भावों में परिणत हो रहे हैं।

गायत्री के 'प्रेति' धर्म्म से स्वर्लोकावच्छिन्न वही प्राण सूर्य्याभिमुख बनता हुआ 'प्राण' बन रहा है, एवं गायत्री के 'एति' (गच्छति) धर्म्म से युक्त स्वर्लोकावच्छिन्न वही प्राण सूर्य्यविरुद्धदिशनुगामी बनता हुआ 'उदान' बन रहा है। साथ ही यही उदान पार्थिव प्रजा में आता हुआ प्राण बन रहा है, एवं प्राण पार्थिवप्रजा से निर्गच्छत् होकर उदान बन रहा है। सूर्य्य के प्राण–उदान पार्थिव प्रजा के उदान–प्राण बन रहे हैं, यही निष्कर्ष है। सूर्य्य के लिए जो प्रेति है, वही हमारे लिए एति है, एवं उसके लिए जो एति है वही हमारे लिए प्रेति है। सूर्य्य दृष्टया पराची तथा पार्थिव प्रजादृष्ट्या अर्वाची बनी हुई गायत्री से, सूर्य्य दृष्ट्याएतिभावात्मक उदान बने हुए एवं पार्थिव प्रजादृष्ट्या प्रेतिभावात्मक प्राण बने हुए सौरतत्त्व से पार्थिव प्रजा का पोषण होता है। एवमेव पार्थिवप्रजादृष्ट्या पराची तथा सूर्य्यदृष्ट्या अर्वाची बनी हुई गायत्री से साथ ही पार्थिव प्रजादृष्ट्या एतिभावात्मक उदान बने हुए तथा सूर्य्यदृष्ट्या प्रेतिभावात्मक प्राण बने हुए सूर्य्यतत्त्व से सूर्य्यानुगता देवप्रजा का पोषण होता है। ठीक यही व्यवस्था सौरप्राणप्रवर्ग्य-भूत भौम अपान प्राण के सम्बन्ध में घटित है प्रेतिभावापन्न (आगच्छत्) भौम अपान 'समान' है एवं एति (निर्गच्छत्) भावापन्न भौम अपान 'अपान' है। इस प्रकार गायत्री के सम्बन्ध से दोनों के दो-दो विवर्त्त हो जाते हैं। इसी गायत्री–सम्बन्ध का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

"स वा ऽ एति च, प्रेति चान्वाह। गायत्रीमेवैतदर्वाची 'च पराची' च युनक्ति। प्रेति वै प्राणः, एत्युदानः प्राणोदानो वेवैतद्दधाति। पराच्यह (गायत्री) देवेभ्यो यज्ञं वहति, अर्वाची मनुष्यानवति ॥" (शत० १।४।१।३)।
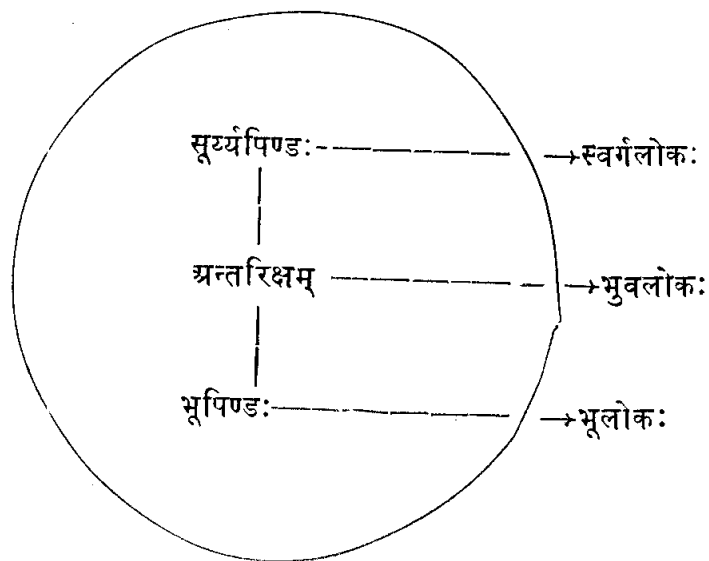
इसी त्रैलोक्य के सम्बन्ध में एक अनुप्रासङ्गिक स्पष्टीकरण और । सूर्य्य–भूपिण्डात्मक स्व-भूर्लोक को अपने गर्भ में रखने वाले जिस अन्तरिक्षात्मक भुवर्लोक का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उस अन्तरिक्ष के सायतन–निरायतन भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं । दोनों लोकों को अपने गर्भ में रखने वाला अन्तरिक्ष निरायतन अन्तरिक्ष है, इसे ही **'अर्णवसमुद्र'** कहा गया है । **'समुद्रमभितः' पिन्वमानम्'** (यजुः सं०) इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार इसी अन्तरिक्षात्मक अर्णव समुद्र से सूर्य्य तथा भूपिण्ड, दोनों समन्तात् वेष्टित हैं । इस निरायतन अर्णव समुद्रात्मक अन्तरिक्ष में **'आपः–वायुः–सोमः'** ये तीन भार्गवतत्त्व प्रतिष्ठित हैं । आप्यप्राण वरुण है, वायव्यप्राणगन्धर्व है, एवं सौम्यप्राण पितर है । आप्य वरुणप्राण ही कहीं-कहीं **'वृत्र'** नाम से भी व्यवहृत हुआ है । इन तीनों में पितृप्राणात्मक सोम ही दिक्सोम है । निरायतन अन्तरिक्ष में व्याप्त यही दिक्सोमनि रायतन सोम कहलाया है । निरायतन अन्तरिक्षावच्छिन्न वरुण (वृत्र) गन्धर्व–पितृप्राणयुक्त आपः-वायुः-सोम के प्रवर्ग्य भाग से (भूपिण्ड द्वारा) चन्द्रमा का स्वरूप निष्पन्न हुआ है । चूंकि चन्द्रमा में तीनों का समन्वय है, अतएव चन्द्रमा के सम्बन्ध में निम्नलिखित निगम वचन व्यवहृत हुए हैं–

१—**"अथैष एव वृत्रोयच्चन्द्रमाः"** (शत० १।६।४।१३) ।

२—**"अप्सु वै वरुणः"** (तै०ब्रा० १।६।५।६) ।

३—**"चन्द्रमा गन्धर्वः"** (शत० ६।४।१।६) ।

४—**"योऽयं वायुः पवते, एष सोमः"** (शत० ७।३।१।१) ।

५—**"पितृदेवत्यो वै सोमः"** (शत० २।४।२।१२) ।

अर्णवसमुद्रात्मक–निरायतन–त्रैलोक्यव्यापक अन्तरिक्ष के गर्भ में जैसे सूर्य्य–भूपिण्ड प्रतिष्ठित हैं, तथैव तत् प्रवर्ग्यभूत अब्–वायु–सोमात्मक–वृत्र–गन्धर्व–पितृमूर्त्तिचन्द्रमा भी प्रतिष्ठित है । चान्द्रकक्षावच्छिन्न, सूर्य्य–भूपिण्ड मध्य पतित अन्तरिक्ष सायतन सोमात्मक चन्द्रमा के सम्बन्ध से सायतन अन्तरिक्ष्य है । वायुदृष्टचा अन्तरिक्ष वायुमय है, चन्द्रदृष्टचा चन्द्रमय है, गन्धर्व दृष्टचा गन्धर्वमय है, अप्दृष्टचा आपोमय है । यही मध्यस्थ चान्द्रअन्तरिक्ष भुवर्लोक का स्वरूप सम्पादक है । अतः रोदसी त्रैलोक्य में निरायतन अन्तरिक्ष (अर्णव समुद्र) को अन्तरिक्ष न कह कर चान्द्रकक्षावच्छिन्न इस सायतन चान्द्रअन्तरिक्ष को ही हम भुवर्लोक कहेंगे । जिस प्रकार सौरप्राण प्राणोदानात्मक अपान है, एवमेव मध्यस्थ चन्द्रावच्छिन्न वायव्यप्राण वरुण सम्बन्ध से व्यान है । **'चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावति दिवि'** इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार निरायतनान्तरिक्ष लक्षण अर्णवसमुद्र में स्वदक्षकक्षावृत्त पर परिभ्रममाण चन्द्रमा ही भुवर्लोकाधिष्ठाता है । तदवच्छिन्न वारुणवाऽयात्मक प्राण ही मध्यस्थ व्यानप्राण है । निरायतन आन्तरिक्ष्य व्यानप्राण जहाँ सम्पूर्ण त्रैलोक्य में व्याप्त रहता हुआ 'सर्वशरीरगः' है, वहाँ यह सायतन आन्तरिक्ष्य प्राण त्रैलोक केन्द्रभूता चान्द्रसंस्था में भुक्त होता हुआ हृदयस्थ है । 'रोदसी त्रैलोक्यस्य,तदवच्छिन्न प्राणपञ्चकस्य वा प्रतिकृति' से पञ्चप्राणात्मिका इसी त्रैलोकी का स्पष्टीकरण हो रहा है ।

रोदसीत्रैलोक्यस्य, तदवच्छिन्नप्राणपञ्चकस्य वा प्रतिकृतिः—

स्वर्लोकः
सूर्यः
प्राणः
(अर्वाची गायत्री) प्राणः
उदानः (पराची गायत्री)
भुवर्लोकः
चन्द्रः
व्यानः
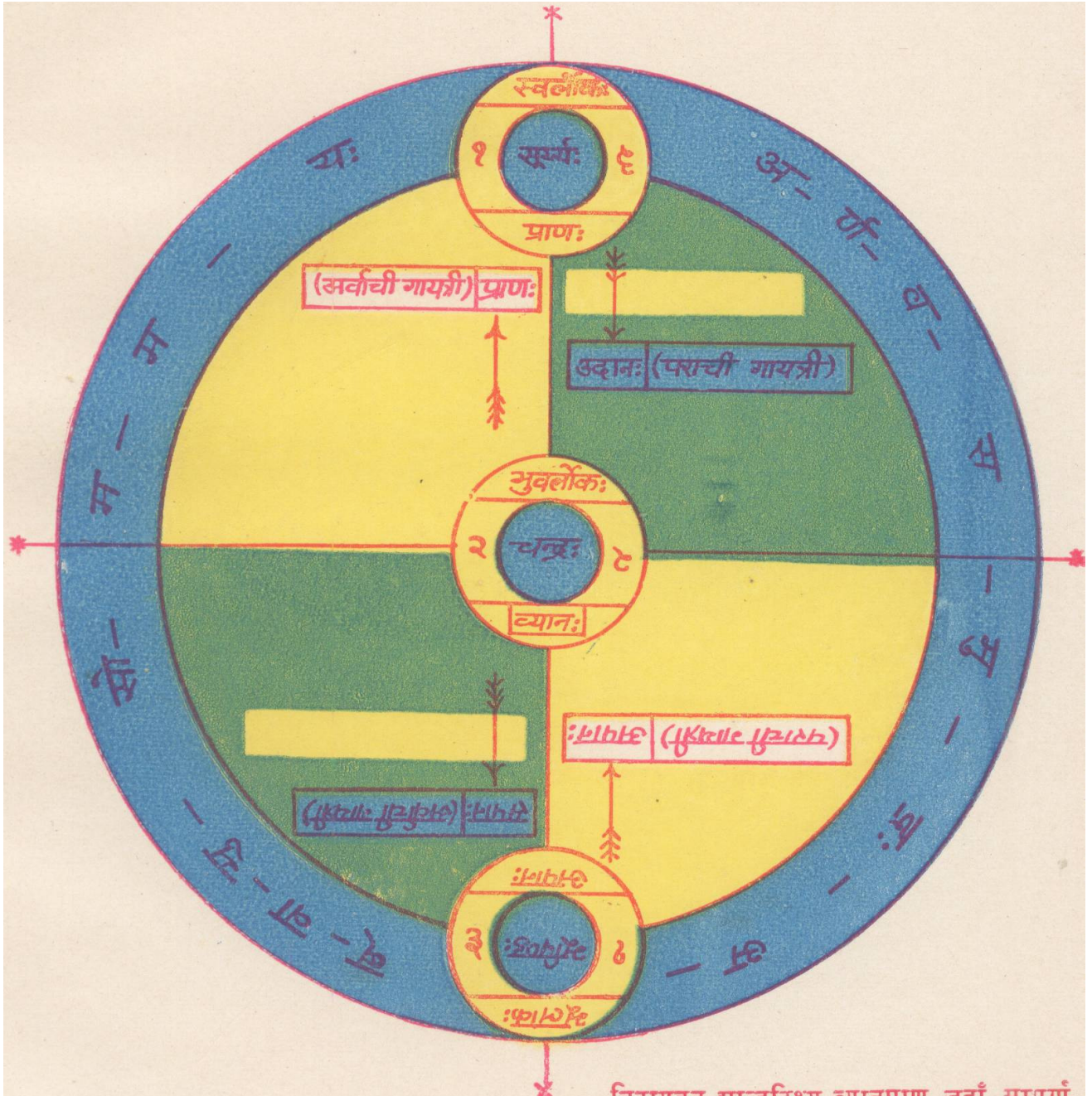
निरायतन आन्तरिक्ष्य व्यानप्राण जहाँ सम्पूर्ण त्रैलोक्य में व्याप्त रहता हुआ 'सर्वशरीरम्' है, वहाँ यह सायतन आन्तरिक्ष्य प्राण त्रैलोक्य केन्द्र भूता चान्द्र संस्था में मुक्त होता हुआ हृदयस्थ है। परिलेख से पञ्चप्राणात्मिका इसी रोदसी त्रिलोकी का स्पष्टीकरण हो रहा है।

श्रीवालचन्द्र यन्त्रालय जयपुर।

दूसरी स्तोम्यत्रिलोकी है। जिस चित्यभूपिण्ड पर अस्मदादि प्राणी प्रतिष्ठित हैं, उस चित्यभूपिण्ड के आधार पर सूर्य्यदिक् की ओर वितत चितिनिधेय पार्थिव गायत्राग्नि प्राण मण्डल ही इस त्रिलोकी की प्रधान प्रतिष्ठा है। जिस प्रकार पूर्वकथनानुसार सौरप्राणतत्त्व सौरत्रिलोकी (रोदसी) में व्याप्त होता हुआ पितृभेद से प्राणपञ्चकरूप में परिणत हो रहा है, एवमेव यह पार्थिवप्राण भी पार्थिव त्रिलोकी
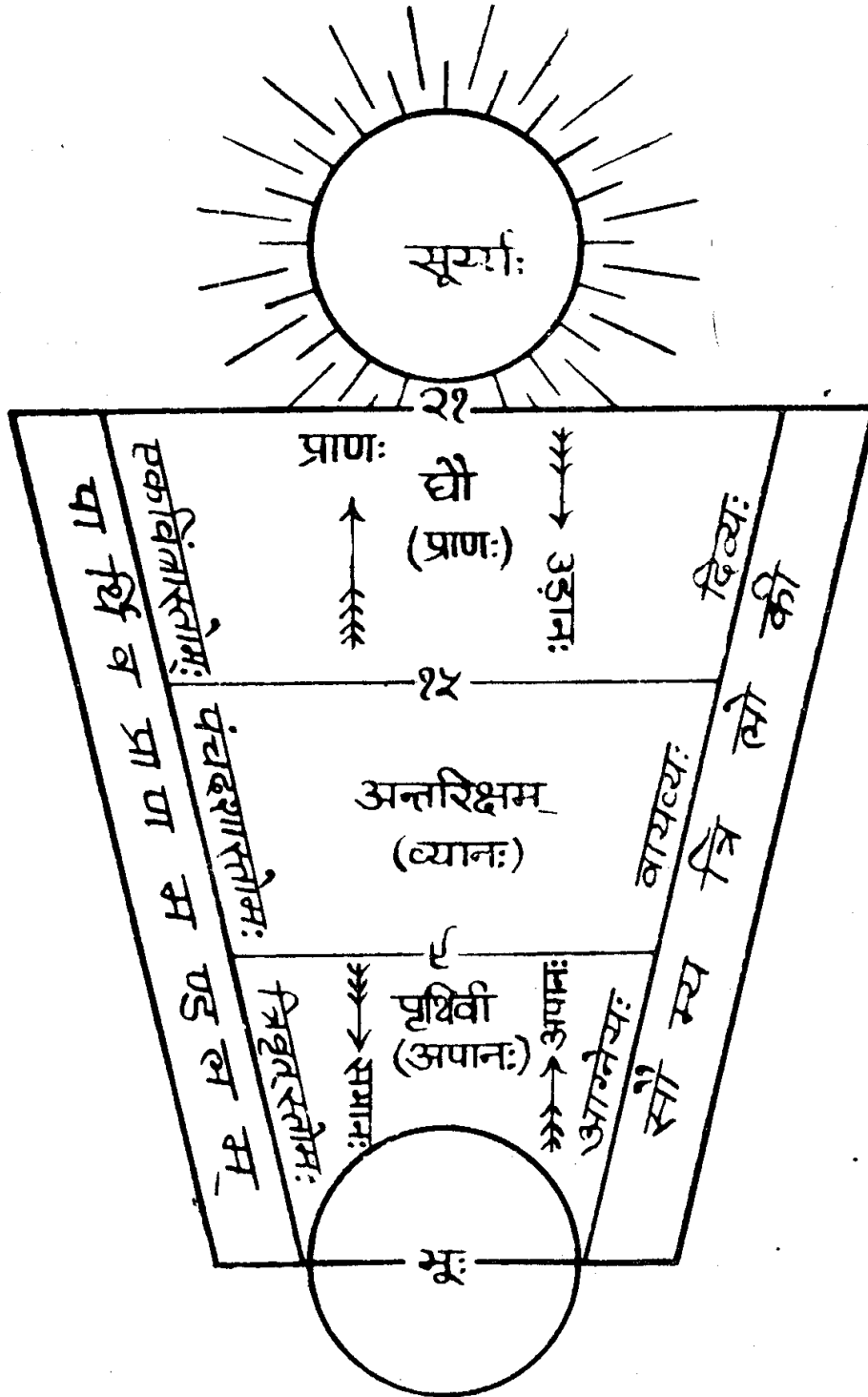
(स्तौम्या) में व्याप्त होता स्तोमभेद से प्राणपञ्चकरूप में परिणत हो रहा है। स्तौम्यत्रिलोकी का स्वरूप आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यहाँ इस सम्बन्ध में अभी यही ज्ञातव्य है कि त्रिवृत् (९)—पञ्चदश–(१५)–एकविंश(२१) पार्थिव स्तोम ही इस त्रैलोक्य के क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक हैं। इनमें प्रतिष्ठित अपान–व्यान–प्राण ही प्राणत्रयी है। इनमें अवारपारीण अपान–प्राण ही उक्त गायत्री के एति–प्रेति भावों से प्राणोदान, समान–अपान भेद से चार भावों में परिणत हो रहे हैं। जैसा कि उक्त परिलेख से स्पष्ट है—

रोदसीत्रैलोकी से जो सौरप्राणपञ्चक **'पञ्चधाऽऽत्मानं विभज्य'–'यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश'** न्याय से अध्यात्म संस्था में प्रविष्ट हुआ, उसकी स्थिति का क्रमशः हृदय, गुदा, नाभि, कण्ठ, सर्वाङ्गशरीर इन पाँच पर्वों से सम्बन्ध है। **'हृदिह्ययमात्मा'** इत्यादि श्रुति के अनुसार यह प्राण नामक सौर प्राण **'स वा एष विज्ञानात्मा विज्ञानात्मना सम्परिष्वक्तः'** के अनुसार हृदयावच्छिन्न सायतन अन्तरिक्षरूप चान्द्रमन में (तदुपलक्षित हृदयस्थान में) आत्मरूप से प्रतिष्ठित हैं। उदान कण्ठदेशस्था तेजोनाड़ी में प्रतिष्ठित है। समान 'नाभि' केन्द्र में प्रतिष्ठित है, एवं अपान मूलग्रन्थि का आधार बना हुआ है। इस दृष्टि से पाँचों सौर सत्यप्राण अध्यात्म में प्रतिष्ठित हो रहे हैं।

स्व-स्व स्थान में प्रतिष्ठित इन पाँचों सौर–सत्यप्राणों के दो-दो कर्म्म हैं, पञ्चभूत नाड़ियों को पुष्ट रखना, दूसरे शब्दों में तत्तद्भूतरसोपजनिता तत्तद्भूतमयी–तत्तन्नाडियों की तत्तद्भूतमात्राओं को स्वस्वरूप से सुरक्षित रखना प्रथम कर्म्म है। हृत्प्रदेशावच्छिन्न प्राण पार्थिवनाडियों की, मूलद्वारावच्छिन्न अपान जलीय नाडियों की, कण्ठदेशावच्छिन्न उदान तेजोनाडियों की, नाभिप्रदेशावच्छिन्न समान वायवीयनाडियों की, तथा सर्वशरीरग व्यान व्योमनाडियों की स्वरूप रक्षा कर रहा है। अध्यात्म संस्था में **'चक्षु, घ्राण, श्रोत्र, रसना, त्वक्'** ये पाँच ज्ञानेद्रियाँ हैं, एवं **'वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ'** ये पाँच कर्म्मेन्द्रियाँ हैं। इन दसों इन्द्रियों के प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण स्थान भी (शरीरवत्) पाँचभूत ही हैं। पञ्चभूतात्मक इस दशेन्द्रियवर्ग की रक्षा भी इसी प्राणपञ्चक से हो रही है, एवं यही इसका दूसरा कर्म्म है।

सौरप्राणात्मकविवर्त्त परिलेखः—

(१) हृदि—प्राणात्मकः 'प्राणः'→प्रतिष्ठितः→पार्थिवनाड्यनुगतस्तत् स्वरूपरक्षकश्च।

(२) कण्ठे—उदानात्मकः 'प्राणः'→प्रतिष्ठितः→तेजोनाड्यनुगतस्तत् स्वरूपरक्षकश्च।

(३) शरीरे—व्यानात्मकः 'प्राणः'→प्रतिष्ठितः→व्योमनाड्यनुगतस्तत् स्वरूपरक्षकश्च।

(४) नाभौ—समानात्मकः 'प्राणः'→प्रतिष्ठितः→वायव्यनाड्यनुगतस्तत् स्वरूपरक्षकश्च।

(५) गुदि—अपानात्मकः 'प्राणः'→प्रतिष्ठितः→जलीयनाड्यनुगतस्तत् स्वरूपरक्षकश्च।

१	१—नासा (१)→ज्ञानेन्द्रिय (१)→पार्थिवेन्द्रिय	→पृथिवी (प्राणमण्डलम्)
२	१—जिह्वा (२)→ज्ञानेन्द्रिय (२)→जलीयेन्द्रिय २—शिश्न (३)→कर्म्मेन्द्रिय (५)→जलीयेन्द्रिय	→जलम् (अपानमण्डलम्)
३	१—पाणि (४)→कर्म्मेन्द्रिय (४)→वायव्येन्द्रिय २—नाभि (५)→कर्म्मेन्द्रिय (३)→वायव्येन्द्रिय ३—त्वक् (६)→ज्ञानेन्द्रिय (३)→वायव्येन्द्रिय	→वायुः (समानमण्डलम्)
४	१—श्रोत्र (७)→ज्ञानेन्द्रिय (४)→व्योमेन्द्रिय २—वाक् (८)→कर्म्मेन्द्रिय (२)→व्योमेन्द्रिय	→आकाशः (व्यानमण्डलम्)
५	१—चक्षु (९)→ज्ञानेन्द्रिय (५)→तैजसेन्द्रिय २—पाद (१०)→कर्म्मेन्द्रिय (१)→तैजसेन्द्रिय	→तेजः (उदानमण्डलम्)

अब क्रमप्राप्त पार्थिव प्राणपञ्चक की ओर दृष्टि डालिए। पार्थिव प्राण–व्यान–अपान तीनों स्तौम्यप्राण क्रमशः स्नायु, शिरा, धमनी, नाडियों में प्रतिष्ठित हैं। स्नायुनाडियों में प्रतिष्ठित चेतना धातु प्राण की, शिरानाडियों में प्रतिष्ठित रस धातु अपान की, एवं धमनी नाडियों में प्रतिष्ठित प्राणधातु व्यान की प्रतिष्ठा है। हृदय से नीचे-नीचे अपान का, ऊपर-ऊपर प्राण का, मध्य में व्यान का साम्राज्य है। श्वासरूप से शरीर में आता हुआ चेतनाधातु से युक्त होता हुआ प्राण प्राण है, निकलता हुआ वही प्राण उदान है। इस प्रकार श्वास–निश्वासरूप से यही प्राणोदानरूप में परिणित हो रहा है। प्रतिष्ठारूप से शरीर में आता हुआ रसानुग्रहक वही अपान समान है, एवं मूलद्वार से बहिर्विनिःसृत् वही अपान समान है। इन दोनों का नियामक मध्यस्थ प्राण ही व्यान है। सौरप्राणपञ्चक भी सत्य है, पार्थिवप्राणपञ्चक भी सत्य है। दोनों में अन्तर केवल यही है कि, सौरसत्य प्राण जहाँ स्थिरधर्म्मा हैं, वहाँ पार्थिव सत्यप्राण पञ्चक (व्यान को छोड़कर) गतिधर्म्मा है। गतिधर्म्मावच्छिन्न यही प्राणपञ्चक नाड़ी भेद से सार्द्धत्रिकोटि संख्यामित बन रहा है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। प्रासङ्गिकवक्तव्यानन्तर पुनः उस धमन्यनुगत व्यान प्राण की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है। कहा गया है कि, पृथिव्यादि-पञ्चभूतों के सम्बन्ध से १४४०० संख्यानुसार पाँचों भूतों की पञ्चधाविभक्त व्यान नाड़ियाँ ७२००० (बहत्तर हजार) हो जाती हैं। शेष प्राण–उदान–अपान नाडियाँ भी इन्हीं पञ्चधाविभक्त पाँच भूतों के सम्बन्ध से प्रत्येक द्वासप्ततिसहस्रसंख्यामित बन जाती हैं। यदि इन पाँचों का संकलन किया जाता है, तो केवल

पार्थिव प्राणपञ्चक से सम्बन्ध रखने वाली नाड़ियाँ ३६०००००(छत्तीस लाख) हो जाती हैं इनमें से प्रकृत आत्मगति प्रकरण में जीवनसत्तौपयिका धमन्यनुगता द्वासप्ततिसहस्रसंख्यामिता व्याननाड़ियाँ ही प्रधान लक्ष्यभूमि है ।

पृथिव्यादिपञ्चभूतानुगत पञ्चधाविभक्त इन व्यान नाड़ियों में ४ सन्धियाँ हैं । उक्त कथनानुसार पञ्चधाविभक्त व्यान सत्य प्राण है, एवं इन ४ सन्धियों में प्रतिष्ठित ऋतवाटवात्मक चतुर्विध–आगन्तुक–प्राण ऋतुप्राण है । चार ऋतप्राण व्यष्टयात्मक हैं, एक ऋतप्राण चारों का आधार बनता हुआ सर्वाधार लक्षण समष्टि प्राण है । इस प्रकार सत्यव्यान प्राणवत् यह आगन्तुक, किन्तु सत्यप्राणपञ्चक प्रतिष्ठारूप ऋतप्राण भी पञ्चसंख्यामित ही बन जाता है । मूलद्वार से नाभिपर्य्यन्त एक प्रदेश है । इस अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित आगन्तुक ऋतवायव्य प्राण **'कूर्म्म'** नाम से प्रसिद्ध है । सुप्रसिद्ध तान्त्रिक 'कूर्म्मचन्द्र' का इसी से सम्बन्ध है । नाभि से हृदय पर्य्यन्त एक प्रादेश है । इस अन्तरिक्ष में व्याप्त ऋतप्राण **'नाग'** नाम से प्रसिद्ध है । हृदय से कण्ठपर्य्यन्त एक प्रादेश है । इस आन्तरिक्ष में व्याप्त ऋतप्राण **'कृकल'** नाम से प्रसिद्ध है । कण्ठ से ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त एक प्रादेश है । इस आन्तरिक्ष में व्याप्त ऋतप्राण **'देवदत्त'** नाम से प्रसिद्ध है । ये चारों ऋतप्राण सत्यप्राणपञ्चक से वेष्टित हैं । उपक्रम में नान्दनस्थानीय प्राण नामक सत्य प्राण है, उपसंहार में मूलद्वार स्थानीय अपान नामक सत्यप्राण है, मध्य में उक्त चारों ऋतप्राण प्रतिष्ठित हैं । इन चारों ऋतप्राणों को उपक्रमोपसंहार भाव से अपने गर्भ में रखने वाला ऋतप्राणपञ्चक यद्यपि **'ऋतं सत्येऽधायि'** को चरितार्थ कर रहा है, तथापि इन पांचों साक्ष्यप्राणों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले अवारपारीण पांचवें **'धनञ्जय'** नामक समष्टिलक्षण ऋतप्राण ने **'सत्यं ऋतेऽधायि'** इस सिद्धान्तपक्ष को ही सुरक्षित कर रक्खा है । **'ऋते भूमिरियं श्रिता' 'ऋतं नान्येति किञ्चन'** ही सिद्धान्त पक्ष है । पञ्चप्राण से शरीर प्रतिष्ठित है, अतएवं यह अध्यात्म सम्पत्ति (धन) है । परन्तु इन धनात्मक पांचों सत्यप्राणों पर, तथा तद्गर्भित ऋतात्मक अतएव ऋणात्मक इस समष्टयात्मक ऋतप्राण का प्रभुत्व है, अताएव इसे धनञ्जय कहना अन्वर्थ बनता है ।

ऋतात्मक नागप्राण उद्गारकर्म्म की प्रतिष्ठा है, नेत्रनिमेषोन्मेषव्यापार ऋतात्मक कूर्म्म पर प्रतिष्ठित है, क्षुत्–पिपासा का आश्रय कृकल है, जृम्भा (जंभाई) की प्रवृत्ति देवदत्त से होती है, एवं शोथ प्रवृत्ति धनञ्जय से होती है । इन पाँच ऋतप्राणों के अतिरिक्त—इडा–पिङ्गलादि १० नाड़ियाँ और हैं । किन्हीं के मतानुसार ये अवान्तर नाड़ी विवर्त्त १४ संख्याओं में विभक्त हैं । इन अवान्तर चतुर्दश नाड़ियों का द्विसप्ततिसहस्र व्याननाड़ियों में अन्तर्भाव है । निम्नलिखित परिलेखों से उक्त व्यान नाड़ी विवर्त्तों का, इतर नाड़ी विवर्त्तों का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

गतिधर्म्माणः पञ्च पार्थिवप्राणाः—(सत्याः)—गृह्याः

१ { १—प्राणः→नान्दनमारभ्य हृदयपर्य्यन्तंव्याप्तः (प्रेतिभावापन्नः)
१—उदानः→हृदयमारभ्यनान्दनपर्य्यन्तंव्याप्तः (एतिभावापन्नः) } →स्नायुनाड़ीषुव्याप्तः 'प्राणः'

२ [३—व्यानः—हृदये प्रतिष्ठितः——————→सन्धाता]→धमनी नाड़ीषुव्याप्तो व्यानः

३ { ४—समानः→मूलद्वारमारभ्य हृदयपर्य्यन्तंव्याप्तः (एतिभावापन्नः)
५—अपानः→हृदयमारभ्य मूलद्वारपर्य्यन्तंव्याप्तः (प्रेतिभावापन्नः) } →शिरा नाड़ीषुव्याप्तोऽपानः

गतिधर्म्माणः—पञ्चवायव्यप्राणाःऋताः—आगन्तुकाः—

(१) नागः—हृदयान्नाभ्यन्ते वितस्तिमात्रावकाशे व्याप्तः

(२) कूर्म्मः—नाभेर्मूलान्तेजलगृहमात्रावकाशे व्याप्तः

(३) कृकलः—हृदयात्कण्ठान्ते तेजोगृहमात्रावकाशे व्याप्तः

(४) देवदत्तः—नाभेः पार्श्वेवाममात्रावकाशे व्याप्तः

(५) धनञ्जयः—नाभेः पाश्वे दक्षिणमात्रावकाशे व्याप्तः

गतिधर्म्माणः—पञ्च पार्थिवप्राणाः—सत्याः—गृह्याः (प्रकारान्तरेण)

१ { प्राणः→नान्दनात्—सूर्य्यकेन्द्रान्तमभिव्याप्तः
उदान→हृदयात्—नान्दनान्तमभिव्याप्तः } देवप्राणगमननिर्गमन प्रवर्त्तकः प्राणः

१ [व्यान→नान्दनात्—गुदान्तमभिव्याप्तः]→सन्धान्ता—उभयोः—व्यानः

३ { समानः→गुदस्थानात्-ह्दयान्तमभिव्याप्तः
अपानः→गुदस्थानात्—भूकेन्द्रान्तमभिव्याप्तः } →भूतागमननिर्गमन प्रवर्त्तकोऽपानः

सत्यम् (१)
सूर्यं प्रवेशयति विष्णुः
नान्दनद्वाः [प्राणः] ७२०००
→सत्यम् १ "प्राणः
ऋतम् १
अन्तरिक्षम् [देवदत्तः]——→ऋतम् (१) ❀
सत्यम् (२)
सूर्यं निर्गमयति इन्द्रः
कण्ठः [उदानः] ७२०००
←सत्यम् २ "उदानः'
→ प्राणः १ द्यौः (२१)
ऋतम् २
अन्तरिक्षम् [कृकलः]——→ऋतम् (२) ❀
सत्यम् (३)
देहे रसान् संनिवेशयति
हृदयं [व्यानः] ७२०००
→सत्यम् ३ व्यानः
→ व्यानः २ अन्तरिक्षम् (१)
ऋतम् ३
अन्तरिक्षम् [नागः]——→ऋतम् (३) ❀
सत्यम् (४)
पृथिवीं प्रवेशयति विष्णुः
नाभिः [समानः] ७२०००
→सत्यन् ४ समानः
ऋतम् ४
अन्तरिक्षभ् कूर्म्मः]——→ऋतम् (४) ❀
सत्यम् (५)
पृथिवीं निर्गमयति इन्द्रः
मूलद्वारम् [अपानः] ७२०००
→सत्यम् ५ अपानः
→ अपानः १ पृथिवी (९)
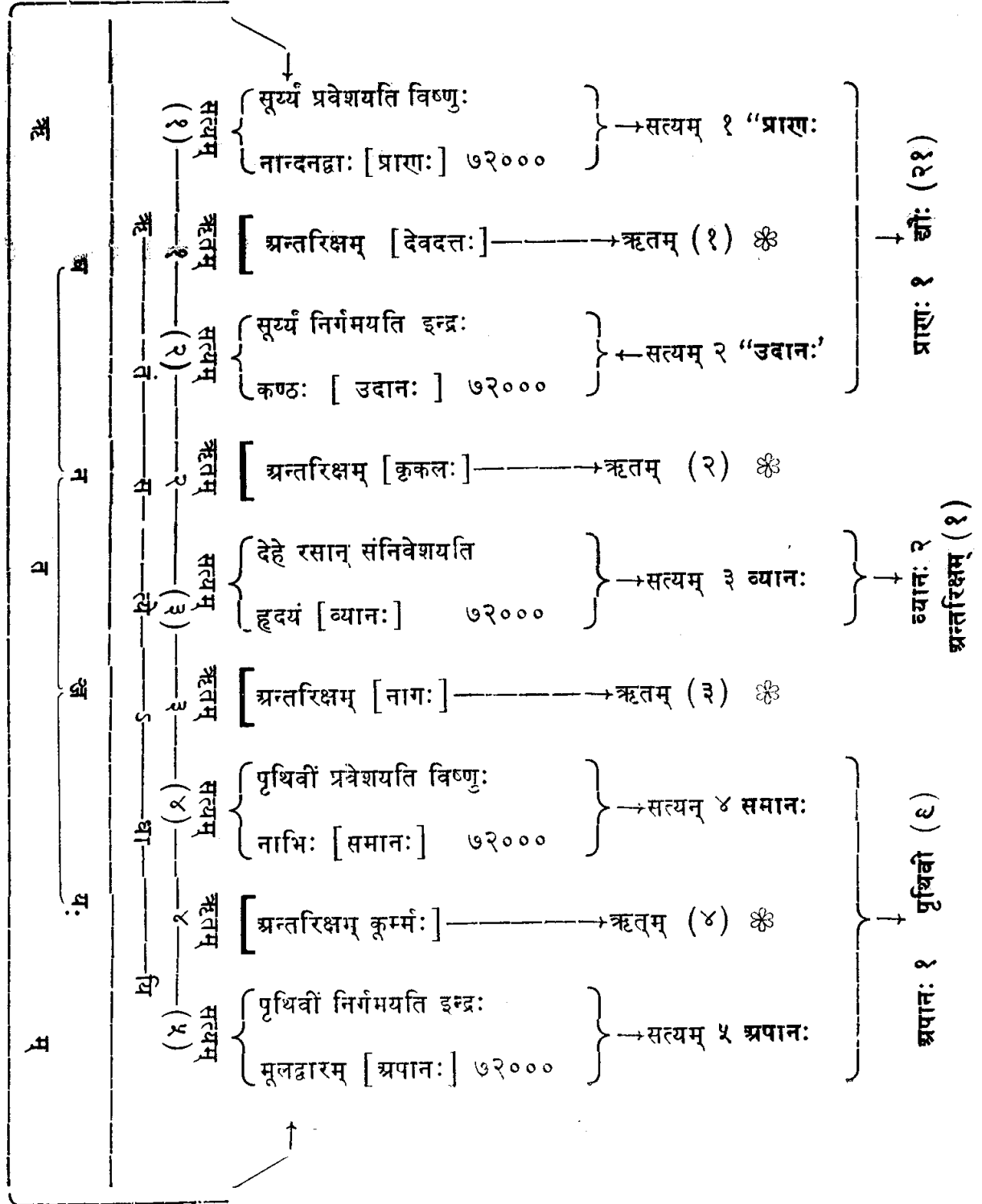
पञ्चभूतानुगत व्यानानाड़ी–विवर्त्त परिलेखः—

१—अस्थनि→४८०० मधुरो रसः २—मांसे——→४८०० पीतो वर्णः ३—त्वचायां→४८०० साम स्पर्शः पृथिव्यनुगताः सौरप्राणभुक्ता व्याननाड्य १४४००	प्राणे हृदये पृथिवीगृहे वसन् पृथिवी नाड़ीः पुष्णाति पृथिवीन्द्रिये नासामूले पृथिवीतन्मात्रं गन्धंप्रवेशयति, निर्गमयति च **१–पृथिवी** १४४००
१—शुक्रे——→४८०० शिवो रसः २—शोणिते→४८०० श्वेतोवर्णः ३—मज्जायां→४८०० शीतः स्पर्शः जलानुगताः सौरअपानभुक्ता व्याननाड्यः १४४००	अपाने गुदस्थाने जलगृहे वसन् जलनाड़ीः पुष्णाति जलेन्द्रिये जिह्वाशिष्णे जलतन्मात्रं रसंप्रवेशयति, निर्गमयति च **२–जलम्** १४४००
१—क्षुधायां→४८०० तीक्ष्णो रसः २—पिपासायां→४८०० रक्तो वर्णः ३—निद्रायां→४८००—उष्णः स्पर्शः तेजोऽनुगताः सौरउदानभुक्ता व्याननाड्यः १४४००	उदाने कण्ठस्थाने तेजोगृहे वसन् तेजोनाड़ीः पुष्णाति तेजेन्द्रियं नेत्र-पादंच तेजस्तन्मात्रं रूपं प्रवेशयति, निर्गमयति च **३–तेजः** १४४००
१—धावने→४८००—अम्लो रसः २—चलने→४८००—चित्रो वर्णः ३—भाषणे→४८००—समः स्पर्शः वाय्वनुगताः सौरसमानभुक्ता व्याननाड्यः १४४००	समाने नाभौ वायुगृहे वसन् वायुनाड़ीः पुष्णाति, वय्विन्द्रिये पाणिनाभिरिन्द्रिये-वायुतन्मात्रं स्पर्शं प्रवेशयति, निर्गमयति च **४–वायुः** १४४००
१—द्वेषे——→४८००—कटु रसः २—लज्जायां→४८००—श्यामो वर्णः ३—भये——→४८००—कटु स्पर्शः आकाशानुगताः सौरव्यानानुगता व्यानाड्यः १४४००	व्याने सर्वशरीरे व्योमगृहे वसन् व्योमनाड़ीः पुष्णाति, व्योमेन्द्रिये वाक्–श्रोत्रेन्द्रिये–व्योमतन्मात्रं शब्दं प्रवेशशयति, निर्गगमयति च **५–आकाशः** १४४००

तदित्यं पञ्चभूतानुगताः सौरप्राणपानोदान समानभुक्ताः—व्याननाड्यः ————→७२००० द्वासप्ततिसहस्रसंख्यामिताः

पञ्चप्राणानुगत–नाडीचक्र परिलेखः—

पृथिवी १४४००	अप् १४४००	तेजो १४४००	वायु १४४००	आकाशानुगताः— १४४०० ——→	"प्राणनाड्यः" ७२०००
पृथिवी १४४००	अप् १४४००	तेजो १४४००	वायु १४४००	आकाशानुगताः— १४४०० ——→	"उदाननाड्यः" ७२०००
पृथिवी १४४००	अप् १४४००	तेजो १४४००	वायु १४४००	आकाशानुगताः— १४४०० ——→	"व्याननाड्यः" ७२०००
पृथिवी १४४००	अप् १४४००	तेजो १४४००	वायु १४४००	आकाशानुगताः— १४४०० ——→	"समाननाड्यः" ७२०००
पृथिवी १४४००	अप् १४४००	तेजो १४४००	वायु १४४००	आकाशानुगताः— १४४०० ——→	"अपाननाड्यः" ७२०००
पृ० नाड्यः ७२०००	अ० नाड्यः ७२०००	ते० नाड्यः ७२०००	वा० नाड्यः ७२०००	आकाशनाड्यः ७२००० ——→	"पञ्चप्राणनाड्यः" ३६००००

पञ्चभूतनाड्यः—३६०००० तीन लाख साठ हजार——————

यह तो हुई इन पञ्चप्राण नाड़ियों की संख्या के सम्बन्ध में सूक्ष्म व्यवस्था। अब उस सुसूक्ष्म मीमांसा का भी समन्वय कर लीजिए, जिससे केवल इन पञ्चप्राण नाड़ियों की ही संख्या करोडों पर, किंवा अर्बादि संख्याओं पर विश्राम करती हुई—**"सार्द्धत्रिकोट्यनाड्योहि स्थूलाः सूक्ष्माश्च देहिनाम्"** इस पौराणिक सूक्ति का भी अतिक्रमण कर रही है। तत्वानाभिज्ञ यथाजात मनुष्य कहा करते हैं, पुराण का तत्ववाद अतिरञ्जित है, अतएव अविश्वसनीय है। इन कल्पित वेदश्रद्धालुओं को यह विदित नहीं है कि, स्वयं वेदशास्त्र के तत्त्वों का आनन्त्य पुराणानुगत तत्त्वानन्त्य का भी अतिक्रमण कर रहा है। उदाहरण यही नाड़ी संख्या है। पुराण समस्त आध्यात्मिक नाड़ियों के केवल स्थूल-सूक्ष्मभेदों का विश्लेषण करता हुआ जहाँ ३५०००००० संख्याओं पर विश्राम कर लेता है, वहाँ वेदशास्त्र के ये संख्या विवर्त अर्बादिसंख्या पर्य्यन्त अनुधावन कर रहे हैं।

केवल व्यान नाड़ी की संख्याओं का विश्लेषण करते हुए महर्षि पिप्पलाद ने कहा है कि, हृतस्थान में प्रतिष्ठित सौरत्रिलोकी के आन्तरिक्ष्य 'व्यान' प्राण के आधार पर हृदय से एकशत (१०१) नाड़ियाँ इतस्ततः वितत होती हैं। इन १०१ व्यान नाड़ियों में से प्रत्येक में से शत-शत (सौ-सौ) शाखाएँ निकलती हैं। इन शाखाओं का यदि संकलन किया जाता है तो १०१ मूलशाखा नाड़ियों के १०१०० विवर्त्त हो जाते हैं। आगे जाकर शाखारूप १०१०० इन व्यान नाड़ियों में प्रत्येक में से द्वासप्ततिसहस्र, (७२०००) प्रशाखा-नाड़ियाँ निकलती हैं। दस हजार सौ संख्याओं में विभक्त इन शाखानाड़ियों में से प्रत्येक में मुक्त ७२-७२ हजार प्रतिशाखा नाड़ियों का यदि संकलन किया जाता है, तब इन व्यान नाड़ियों की प्रतिशाखाओं की संख्या द्वासप्ततिकोटि, द्वासप्ततिलक्ष, दशसहस्र, द्विशत (बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दस हजार दो सौ) ७२७२१०२०० संख्या पर ठहरती है। इनमें द्वासप्ततिसहस्र (७२०००) प्रशाखा नाड़ियों का, शतोत्तर-दशसहस्र (१०१००) शाखानाड़ियों का, तथा १०१ मूलनाड़ियों का समन्वय और कीजिए। केवल व्यान नाड़ी संख्या निम्नलिखित विवर्त्तरूप से हमारे सम्मुख उपस्थित होती है—

"हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैकशतं (१०१) नाड़ीनां, तासां शतं शतमेकैकस्यां (१०१००), द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः (७२०००) प्रतिशाखानाड़ीसहस्राणि (७२७२१०२००) भवन्ति। आसु व्यानश्चरति" (पिप्पलादोपनिषत् ३।६)।

प्राणनाड्यः→७२७२६२४०१
उदाननाड्यः→७२७२६२४०१
व्याननाड्यः→७२७२६२४०१ } →पञ्चप्राणनाड्यः
समाननाड्यः→७२७२६२४०१
अपाननाड्यः→७२७२६२४०१

३६३६४६२००५

"तीन अर्बुद (अर्ब) त्रेसठ करोड़ चौसठ लाख बासठ हज़ार पाँच"

"आविर्भूतप्रकाशानामनभिप्लुतचेतसाम्
अतीतानागतज्ञानंप्रत्यक्षान्नविशिष्यते ।"

दूसरी दृष्टि से धमन्यनुगत व्याननाड़ियों का समन्वय कीजिए। सर्वशरीरग, पञ्चेन्द्रियगुणावह इन धमन्यनुगत व्याननाड़ियों के प्रशाखा भेद से द्वासप्ततिसहस्र (७२०००) विवर्त्त हैं, यह स्पष्ट किया जा चुका है। प्रतिशाखात्मिका व्याननाड़ियों की अपेक्षा इन्हें स्थूलनाड़ी ही कहा जायगा। व्याननाड़ी के इन्हीं स्थूल विवर्त्तों को लक्ष्य में रख कर आचार्यों ने कहा है—

※द्विसप्ततिसहस्त्रन्तु तासां स्थूलाः प्रकीर्त्तिताः ।
देहे धमन्यो धन्यास्ताः पञ्चेन्द्रियगुणावहाः ।।

इन व्याननाड़ियों की मूलप्रतिष्ठा हृदयस्थान है। हृदयस्थान से ही यह ऊर्ध्वः—अधः—तिर्य्यक्रूपेण सर्वशरीर में व्याप्त हैं। हृदय से ऊपर की ओर ब्रह्मरन्ध्रपर्य्यन्त व्याप्त व्याननाड़ियों का उत्तमाङ्ग से सम्बन्ध है, एवं हृदय से नीचे की ओर मूलरन्ध्रपर्य्यन्त व्याप्त व्याननाड़ियों का अधमाङ्ग से सम्बन्ध है। मूलनाड़ी विवर्त्त कुल १०१ हैं। इनमें एक नाड़ी तो ब्रह्मरन्ध्र से मूलद्वार पर्य्यन्त वितत है, शेष १००

※"हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते। ताभिः—प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते। स यथा कुमारो वा, महाराजो वा, महाब्राह्मणो वा ऽतिघ्नीमानन्दस्य गत्वाशयीते, एवमेवैषएतच्छेते।" (बृ०आ०उ० २।१।१६)।

"ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नः, तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा।" (बृ०आ०उ० ४।३।२०)।

नाड़ियों में से ५० दक्षिणपार्श्व में, तथा ५० वामपार्श्व में सन्तानित हैं। १–५०–५० तीन विवर्त्तों के हृदयमूलानुगत उत्तमाङ्ग–अधमाङ्ग भेद से दो-दो विवर्त्त हो जाते हैं। हृदय से ऊपर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा सूर्य्य-केन्द्र से स्पर्श करने वाली नाड़ी ऊर्ध्वनाड़ी है, हृदय से ऊपर के वामाङ्ग में ५०, दक्षिणाङ्ग में ५० नाड़ियाँ प्रतिष्ठित हैं। एवमेव हृदय से नीचे मूलद्वार द्वारा भूकेन्द्र से स्पर्श करने वाली नाड़ी अधोनाड़ी है, हृदय से नीचे के वामाङ्ग में ५०, दक्षिणाङ्ग में ५० नाड़ियाँ वितत हैं। इसी मूलनाड़ीवितान को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति कहती है—

१—शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृततत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ।।
(छां०उ० ८।६।६)।

२—ततः कण्ठान्तरे योगी समूहं नाड़िसञ्चयम् ।
एकोत्तरं नाड़िशतं तासां मध्ये वरा स्मृता ।।१।।

इडा रक्षतु वामेन पिङ्गला दक्षिणेन तु ।
तयोर्म्मध्ये वरं स्थानं यस्तंवेद स वेदवित् (त्रयीघनसूर्य्यसम्बन्धात्)।२।

हृदय से सर्वथा ऋजुभाव द्वारा शिरःकपाल द्वयमध्यगता ज्योतिर्मयी नाड़ी ही 'सुषुम्णा' कहलाई है। इस नाड़ी का सूर्य्यकेन्द्र के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहता है। सूर्य्यकेन्द्र से आरम्भ कर अध्यात्मसंस्था के हृदयावच्छिन्न प्रज्ञानकेन्द्र पर प्रतिबिम्बित आध्यात्मिक विज्ञान सूर्य्यकेन्द्रपर्य्यन्त जो एक सुषुम्णा–नाड़ीलक्षण मार्ग वितत है, वही 'महापथ' कहलाया है। जिस प्रकार दो ग्रामों को मिलाने वाला राजपथ एक व्यक्ति के गमनागमन का साधक बनता हुआ उभयग्राम प्राप्ति का कारण बनता है, एवमेव सूर्य्यग्राम तथा शरीरग्राम दोनों को मिलाने वाला नाड़ीरूप महापथ विज्ञानप्राण के गमनागमन का साधक बनता हुआ उभयलोक सम्बन्ध का कारण बन रहा है। जीवितदशा में निरन्तर इसी मार्ग द्वारा विज्ञानात्मा सूर्य्यकेन्द्रस्थ हिरण्यमय पुरुष से सम्बन्ध होता रहता है। यही इसका अहरहः स्वर्गगमन है। यही अहरहर्यज्ञ आयुःस्वरूपरक्षक है। वर्णरूपाधिष्ठाता इन्द्र के सम्बन्ध से वह सूर्य्यपथ (रश्मिपथ) शुक्लादिवर्णों से युक्त माना गया है। स्व-स्व–स्वस्वास्तिक के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का यह अणुपन्थाः स्वतन्त्र है, स्व-स्व केन्द्रों से बद्ध है। विदेहपुरुषों (विमुक्तात्माओं) का इसी मार्ग से (निधनान्तर) क्षणमात्र में आदित्यलोक में गमन हो जाता है। जो विषयासक्त अविद्वान् लौकिक पुरुष हैं, उनके लिए यह मार्ग अवरुद्ध है। सुषुम्णानुगत इसी महापथ का निम्नलिखित वचनों से स्पष्टीकरण हुआ है—

१—"अणुः पन्था विततः पुराणो माँ स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव ।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ।।१।।

तस्मिञ्छुक्लनीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च ।
एष पन्था ब्रह्मणा ह्यानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्-पुण्यकृत्-तैजसश्च ।।२।।
(बृ०आ०उ० ४।४।८-९)

२—"अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य, नीलस्य, पीतस्य, लोहितस्य–इति । असौवा आदित्यः पिङ्गलः, एष शुक्लः, एष नीलः, एष पीतः, एष लोहितः ।।१।।

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छति–इमं च, अमुञ्च ।
एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्ति–इमं च
अमुञ्च अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते । ता आसु नाडीषु सृप्ता ।
आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते । तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ।।२।।

३—"अथ यत्रैदबलिमानं नीतो भवति, तमभित आसीना आहुः-जानासि मां, जानासि मामिति । यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति, तावज्जानाति" ।।१।।

अथ यत्रैतेदस्माच्छरीरादुत्क्रामति, अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते । सो ओमिति वा, होद्वा मीयते । स यावत् क्षिप्येन्मनसस्तावदादित्यं गच्छति । एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम्" ।।२।।
(छां०उ० ८।६।१–से पर्य्यन्त) ।

४—अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद् यः स्थितो हृदि ।
सितासिताः कद्रुनीलाः कपिलाः मृदुलोहिताः ।।१।।

नाड़ीनिमित्त परिलेखः
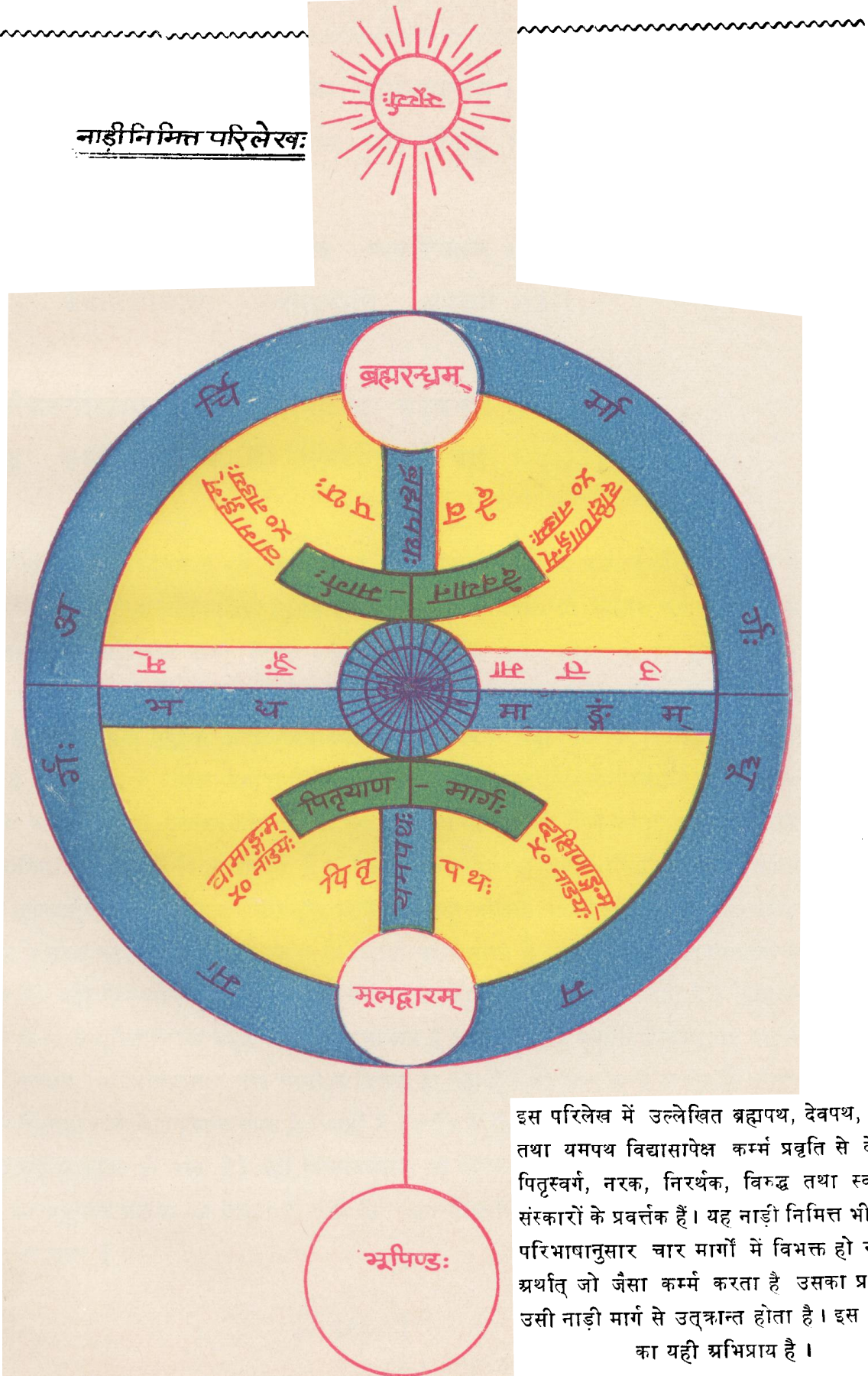
इस परिलेख में उल्लेखित ब्रह्मपथ, देवपथ, पितृपथ तथा यमपथ विद्यासापेक्ष कर्म्म प्रवृति से देवस्वर्ग, पितृस्वर्ग, नरक, निरर्थक, विरुद्ध तथा स्वार्थरूपी संस्कारों के प्रवर्त्तक हैं। यह नाड़ी निमित्त भी पन्थान परिभाषानुसार चार मार्गों में विभक्त हो रहा है। अर्थात् जो जैसा कर्म्म करता है उसका प्राणात्मा उसी नाड़ी मार्ग से उत्क्रान्त होता है। इस परिलेख का यही अभिप्राय है।

ऊर्ध्वमेकस्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्य्यमण्डलम् ।।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम् ।।२।।

यदस्यान्यद् रश्मिशतमूर्ध्वमेव व्यवस्थितम् ।।
तेन देवनिकायानां स्वधामानि प्रपद्यते ।।३।।

येनैकरूपाश्चाधस्ताद् रश्मयोऽस्य मृदुप्रभाः ।।
इह कर्म्मोपभोगाय तैः संसरति सोऽवशः ।।४।। (मै०उ० ६।३०)।

उक्त व्याननाड़ी विवेचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, धमन्यनुगता–हृदयबिन्दु से ऊर्ध्व–अधः–वितत १०१ व्याननाड़ियाँ ही (कर्म्मनिमित्तानुसार) आत्मगति की निमित्त बनती हैं। हृदय से ऊपर उत्तमाङ्ग में प्रतिष्ठित नाड़ी विवर्त्त उक्त परिभाषानुसार 'देवयानमार्ग' है, एवं हृदय से नीचे अधमाङ्ग में प्रतिष्ठित नाड़ी विवर्त्त 'पितृयाणमार्ग' है। देवयानमार्गात्मिका १०१ नाड़ियों में ऋजुभावेन ऊर्ध्वविवता सूर्य्यकेन्द्रानुगता सुषुम्णा नाड़ी देवयानमार्गभुक्त ब्रह्मपथ है, यही विद्यासापेक्ष निवृत्ति से मुक्ति का प्रवर्त्तक है। उत्तमाङ्ग के दक्षिण वामपार्श्वों में वितत नाड़ीशत देवयानमार्गभुक्त देवपथ है, यही विद्यासापेक्ष प्रवृत्ति कर्म्मसंस्कार से देवस्वर्गगति का प्रवर्त्तक है। एवमेव हृदय से नीचे अधमाङ्ग में प्रतिष्ठित वही एक शतमित नाड़ीविवर्त्त पितृयाणमार्ग' है। पितृयाणमार्गात्मिका १०१ नाड़ियों में से ऋतुभावेन अधोवितता भूकेन्द्रानुगता नाड़ी पितृयाणमार्गभुक्त यमपथ है, यही लौकिक निरर्थक–विरुद्ध–स्वार्थ–कर्म्मत्रयी संस्कार से नरक का प्रवर्त्तक है। अधमाङ्ग के दक्षिण–वाम भागों में वितत नाड़ीशत पितृयाणमार्गभुक्त पितृपथ है, यही विद्यासापेक्षप्रवृत्ति सत्कर्म्म संस्कार से पितृस्वर्ग का प्रवर्त्तक बनता है। निवृत्तलौकिककर्म्म से प्राप्त मुक्तिगति का ब्रह्मपथ में ही अन्तर्भाव है। इस प्रकार कर्म्मनिमित्तवत् यह नाड़ीनिमित्त भी 'पन्थानः' परिभाषानुसार चार मार्गों में विभक्त हो रहा है। जो जैसा कर्म्म करता है, उसका प्राणात्मा उसी नाड़ी मार्ग से उत्क्रान्त होता है। जहाँ से (शरीर के जिस प्रदेश से प्राणात्मा निकलता है, वह अतिशय रूप से कठिन हो जाता है) यही निर्गमनस्थान का परिचायक है। इसी के द्वारा शुभा-शुभ लोकगतियों का अनुमान लगाया जा सकता है, जैसा कि **'आत्मोत्क्रान्तिनिमित्तानि'** परिच्छेद में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

(१) विद्यासमुच्चितकर्म्मानुगताः—हृदयादूर्ध्वभागे–उत्तमाङ्गे वितताः—एकोत्तरशतमिताः—उर्ध्वनाड्यः→**देवयानः पन्थाः**
(२) विद्यानिरपेक्षकर्म्मानुगताः—हृदयादधोभागे–अधमाङ्गे वितताः—एकोत्तरशतमिताः—अधोनाड्यः→**पितृयाणः पन्थाः**
१
[१ विद्यासमुच्चितप्रवृत्तकर्म्मानुगताः–हृदयादूर्ध्वभागे (दक्षिणवामपार्श्वयोः) वितताः–शतमिताः–ऊर्ध्वनाड्यः→देवयानान्तर्गतो–**'देवपथः'** (देवस्वर्गसाधकः) (१)
२
[१ विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तकर्म्मानुगताः–हृदयादधोभागे (दक्षिणवामपार्श्वयोः) वितताः–शतमिताः–अधोनाड्य→पितृयाणान्तर्गतः **'पितृपथः'** (पितृस्वर्गसाधकः) (२)
३
१ विद्यासमुच्चितनिवृत्तकर्म्मानुगता
२ विद्यानिरपेक्षनिवृत्तकर्म्मानुगता
३ लौकिकनिवृत्तकर्म्मानुगता
→हृदयाद्–सूर्य्यकेन्द्रान्तं यावत्-वितता एका–ऊर्ध्वनाड़ी→देवयानन्तर्गतो– **'ब्रह्मपथः"**- (मुक्तिसाधकः) (३)
४
१ लौकिकनिर्थककर्म्मानुगता
२ लौकिकविरुद्धकर्म्मानुगता
३ लौकिकस्वार्थकर्म्मानुगता
→हृदयात्–भूकेन्द्रान्तं यावद्वितता–एका–अधोनाड़ीः–पितृयाणान्तर्गतो–**"यमपथः"** (नरकसाधकः) (४)

(घ) छन्दांसि

"सर्वमिदं वयुनम्" इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार समष्टयात्मक यह सम्पूर्ण विश्व भी 'वयुन' है, एवं विश्वगर्भ में भुक्त जड़–चेतन (निरिन्द्रिय–सेन्द्रिय) यच्चयावत् पदार्थ (प्राणी) भी वयुन हैं। वय, वयोनाध, इन दो तत्त्वों की समष्टि ही 'वयुन' है। भातिसत्तासिद्ध तत्त्व वय है, भातिसिद्धतत्त्व वयोनाध है, अस्ति–भाति समष्टिलक्षण वय–वयोनाध ही 'इदं' स्वरूप के परिचायक हैं। मनःप्राणवाङ्मय तत्त्व ही अस्ति है, नामस्वरूपकर्म्म की समष्टि ही भाति है। अस्ति आत्मा है, भाति इस आत्मा का शरीर है। प्रत्येक पदार्थ में अस्तीत्यात्मक आत्मालक्षण वय तथा भातीत्यात्मक शरीरलक्षण वयोनाध, दोनों का समन्वय हो रहा है। इसी समन्वितरूप का नाम आत्मन्वी है, यही आत्मन्वी 'वयुन' है, और इस दृष्टि से अवश्य ही सबको वयुन कहा जा सकता है।

सहज भाषा में इस उभयात्मक वयुन का यों भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है कि प्रत्येक पदार्थ में पदार्थ, पदार्थ का बाह्याकार, भेद से दो विवर्त्त हैं, जिस वस्तुतत्त्व का बाह्याकार है, वह वस्तुतत्त्व तो वय है, एवं जिस बाह्याकार से वह वस्तुतत्त्व चारों ओर से सीमित है, वह बाह्याकारलक्षण सीमाभाव ही वयोनाध है। जिस प्रकार उदर सीमा में अन्न भुक्त है, तथैव बाह्याकार की सीमा में वस्तुतत्त्व भुक्त (गर्भित) है, इसी अन्नभुक्ति समतुलन से इस वस्तुतत्त्व को 'वय' कहा जा सकता है। इसी आधार पर वय को अन्न कहा गया है। वय अन्न का पर्य्याय नहीं है, अपितु गर्भीभावमात्र की अपेक्षा से वय को अन्न कह दिया जाता है। अपिच जिस प्रकार अन्तरिक्षोदर में अन्नवत् प्रतिष्ठित पक्षी जैसे 'वय' कहलाया है, एवमेव तत् समतुलित यह वस्तुतत्त्व शरीराकारोदर में चूंकि भुक्त है, इस पक्षी-सादृश्य से भी वस्तुतत्त्व को वय कहा जा सकता है। एवं इसी आधार पर शरीरावच्छिन्न वस्तुतत्त्व वय को (जीवात्मा को) सुपर्ण (गरुड पक्षी) कहना अन्वर्थ बनता है। यह वय चूंकि उस बाह्याकर लक्षण शरीर से चारों ओर से सीमित रहता है, बद्ध रहता है, अतएव इस बाह्याकारलक्षण सीमाभाव को अवश्य ही वय–बद्धता से वयोनाध कहा जा सकता। यही वयोनाधतत्त्व यज्ञ परिभाषा में 'छन्दः' नाम से व्यवहृत हुआ है—**"छन्दांसि वै देवा वयोनाधाः छन्दोभिर्हीदंसर्वं वयुनं नद्धम्'** (शत० ८।२।२।८)।

जलतत्त्व स्वस्वरूप से समान है, एकरस है। परन्तु वापी, कूप, तड़ाग, जलयन्त्र (टोंटी), घट आदि वयोनाध (बाह्याकार) लक्षण छन्दों के भेद से भिन्न-भिन्न आकारों में परिणत हो रहा है। सुवर्णतत्त्व स्वस्वरूप से एक है, परन्तु कटक–कुण्डल–नूपर–काञ्ची आदि छन्दों के भेद से वही नाना नाम-रूप–कर्म्मभावों में परिणत हो रहा है। ज्योति स्वस्वरूप से एक है, परन्तु सूर्य्य–चन्द्रमा–अग्नि–विद्युत–नक्षत्र–दीप आदि आकार भेद से उसी के अनेक विवर्त्त हो रहे हैं। आत्मतत्त्व स्वस्वरूप से अखण्ड है, परन्तु पञ्चभूतानुगत–गुणत्रयानुगत–प्रकृतिभाव वैविध्य से इस एक ही के नाना रूप हो रहे हैं। एक को अनेक रूप देने वाला यही वयोनाध तत्त्व छन्दः पदार्थ है। छन्दोभेद ही वस्तुतत्त्वलक्षण वयोभेद का एकमात्र मुख्य कारण है। यदि इन पुरोऽवस्थित–भेदक बाह्याकारलक्षण छन्दों को हटा दिया जाता है, तो सर्वच्छन्दोऽतिगवद् विशुद्धतत्त्व स्वस्वरूप से अच्छन्दस्क बनता हुआ अखण्ड है, एकरस है। एकमात्र छन्दोभेद

(आकारभेद) ही पदार्थ भेद प्रतीति का कारण है। इसी छन्दोभेद से वह एक नाना रूप में परिणत हो रहा है। इसी छन्दोऽनुगता भातिभेद ने तदवच्छिन्न अस्तितत्त्व के भेद को सुरक्षित रख रक्खा है। जिस क्षण छन्दोरूप यह समस्त भातिभेद उच्छिन्न हो जाता है, विशुद्ध-अखण्ड सत्तातत्त्व रह जाता है, जो कि नाम-रूप-कर्म्मात्मक वयोनाध से अतिक्रान्त होता हुआ वाङ्मनसपथातीत बन जाता है, अगोचर बन जाता है। अच्छन्दस्क-भातिभेदविरहित इसी सत्तासामान्य का नाम 'ब्रह्म' है, जैसा कि, निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

"प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्॥"

एक ही सत्तालक्षण ब्रह्म अनेक क्यों बन गया? एक ही वय अनेक वय रूप में परिणत क्यों हो गया? इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर यही वयोनाधलक्षण छन्दःपदार्थ है, जिसके वैज्ञानिकों ने मा, प्रमा, प्रतिमा, अस्त्रिवि, गायत्री, त्रिष्टुप्, जगति, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, उष्णिक आदि सहस्रों भेद माने हैं। लोकभाषा में जिसे 'ढंग' कहा जाता है, वही छन्दःपदार्थ है। यह ढंग स्वाभाविक, आगन्तुक भेद से दो भागों में विभक्त है। जन्म से मृत्युकाल पर्य्यन्त नियतरूप से प्रवाहित रहने वाला ढंग स्वाभाविक है, एवं क्षण-क्षण बदलने वाला ढंग आगन्तुक है। स्थूल शरीर प्रत्यगात्मा में स्वाभाविक ढंग (छन्द) है, एवं अवस्थापरिवर्त्तनलक्षण ढंग आगन्तुक है। प्रत्येक पदार्थ धारावाहिक बलानुगत स्वाभाविक बाह्याकार लक्षण स्वाभाविक छन्द से आमरणान्त युक्त रहता हुआ परिस्थितिवश आगन्तुक आकार लक्षण कृत्रिम छन्दों का ग्रहण-परित्याग करता रहता है। शरीरापेक्षया व्यक्ति स्वाभाविक छन्दोऽनुवर्त्ती है, परन्तु कभी इसका बाह्याकार विकसित रहता है, कभी मुकुलित, कभी स्वस्थ, कभी रोगाक्रान्त। इन बाह्य परिस्थितियों के सम्बन्ध से इसका यह आगन्तुक छन्द बदलता रहता है। आगन्तुक छन्द परछन्द है, स्वाभाविक छन्द 'स्व-छन्द' है। स्वच्छन्द इस वयलक्षण आत्मा का स्वधर्म्म है। परच्छन्द आत्मा का परधर्म्म। परधर्म्म लक्षण परछन्द जब तक आत्मा के स्वधर्म्मलक्षण स्वच्छन्द पर कोई आक्रमण नहीं करता, तब तक तो वह आगन्तुक परच्छन्द आगन्तुक धर्म्म है, एवं वही आगन्तुक धर्म्म (परधर्म्म) आत्मच्छन्द का नाशक बनता हुआ अधर्म्म बन जाता है। इस प्रकार परिस्थितिवश यह परछन्द धर्म्म-अधर्म्म भावों का प्रवर्त्तक बनता हुआ भयप्रवृत्तक बन रहा है—**'परधर्म्मो भयावहः'**।

वय-वयोनाध के समन्वितरूप लक्षण वयुन की मर्य्यादा से वह उत्क्रान्त प्रत्यगात्मा भी युक्त है। अवश्य ही पदार्थधर्म्म सामान्यलक्षण वयुन मर्य्यादा से भी वह भी नित्य आक्रान्त है। अवश्य ही उसमें भी वयोलक्षण आत्मा तथा वयोनाधलक्षण शरीर (छन्द) दोनों का समन्वय है। बाह्याकारलक्षण शरीररूप इस छन्द के बिना इसकी स्थिति असम्भव है। मानना पड़ेगा कि, लोकान्तर जाने वाला यह प्रेतात्मा भी अपने स्थूलशरीररूप पूर्व छन्द का परित्याग कर अवश्य ही किसी अन्य छन्द से युक्त रहता है। कर्म्म-नाड़ी-वत् छन्द भी अवश्य ही प्रेतात्मा की परलोकगति (आत्मगति) का निमित्त बन रहा है। प्रश्न

स्वाभाविक है कि, उत्क्रान्त उस प्रेतात्मा का, जो कर्म्मानुगता शारीरनाड़ियों से उत्क्रान्त होकर परलोकगमन के लिए सन्नद्ध है, उसके इस निमित्तभूत छन्द का क्या स्वरूप है ? सामान्यतः इस प्रश्न का उत्तर 'सूक्ष्मशरीर' से दिया जाता है। जीवितदशानुगता गति का निमित्त भूतछन्द जैसे स्थूलशरीर है, वैसे मृत्युदशानुगता गति का निमित्त भूतछन्द सूक्ष्मशरीर है। सूक्ष्मशरीरात्मक इस छन्द के कर्म्मानुसार दो विवर्त्त हो जाते हैं, एवं उन दोनों विवर्त्तों का स्पष्टीकरण ही प्रकृत परिच्छेद का निरूपणीय विषय है। आध्यात्मिकसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले इस छन्द पदार्थ को **अकामछन्द, कामछन्द** भेद से दो भागों में विभक्त माना जा सकता है। जो पुरुषपुङ्गव यावज्जीवन निष्कामकर्म्मलक्षण 'बुद्धियोग' का अनुष्ठान करते हैं, उनका प्रत्यगात्मा अनासक्ति के प्रभाव से कर्म्मजनितसंस्कारलेपबन्धन से विमुक्त रहता हुआ शरीर में रहता हुआ भी शरीरबन्धन से विमुक्त रहता है। अकाममयमान ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषधौरेय ही 'निष्कामकर्म्मयोगी' कहलाए हैं। स्थूल–सूक्ष्म–कारण तीनों में से कोई सा भी छन्द इनके आत्मा को परतन्त्र नहीं बना सकता। अतएव ये 'विदेह' कहलाए हैं। इन विदेह आत्माओं का छन्द व्यापक आकाश है। यह आकाशच्छन्द ही इनका अकामछन्द है, जो परलोकगति से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है। जिस प्रकार समुद्र ही समुद्र का अपना छन्द है, अतएव समुद्रछन्द नाममात्र के लिए छन्द रहता हुआ भी अच्छन्द है, एवमेव इन अकाममयमान पुरुषों का अपना छन्द (आकाश) असीम है, सत्यसंकल्प–भालक्षण–आकाशात्मा ही इनका अपना छन्द है, अतएव यह अकामलक्षण आकाशछन्द नाममात्र के लिए छन्द कहलाता हुआ भी वस्तुगत्या अच्छन्द है। यही अच्छन्दलक्षण आकाशच्छन्द (समुद्रछन्द) इस मुक्तात्मा की सद्योलक्षणा स्थानान्तरगमनलक्षणा–अत्रैवसमवलयरूपा मुक्तिगति का निमित्त बनता है। यही अकाममयमान आत्मानुगत पहले अकामच्छन्द का संक्षिप्त स्वरूप परिचय है।

दूसरा कामच्छन्द है। उत्थाप्याकांक्षासहकृत कर्म्मों से उत्पन्न संस्कारलेप अवश्य ही हृद्ग्रन्थि का प्रवर्त्तक बनता हुआ शरीरबन्धन का कारण बनता है। अवश्य ही ऐसे कामकामी पुरुषों का कामासक्त (विषयासक्त) प्रत्यगात्मा किसी न किसी शरीरछन्दोबन्धन से युक्त होकर ही लोकान्तरगमन करता है। इन काममयमान संसारी पुरुषों की कामना से सम्बद्ध आत्मगतिनिमित्तकछन्द ही दूसरा कामच्छन्द है। कर्म्मानुसार इस कामच्छन्द के प्रधानतः दो विवर्त्त माने गए हैं। यदि कामात्मा के प्राज्ञभाव में विद्यासमुच्चितप्रवृत्तिकर्म्म (यज्ञ–तप–दान) संस्कार का प्राधान्य है, तो इसका प्राणभाग प्रबल रहता हैं। इस प्राणप्राधान्य से आत्मगतिनिमित्तक स्थूलशरीररूप छन्द भी प्राणात्मक (प्राणात्मक–भूगर्भितप्राणरूप) ही होता है। यही प्राणच्छन्द (प्राणप्रधान सूक्ष्मशरीर) इसका **'देवच्छन्द'** है। यही देवच्छन्द छन्दोलक्षण 'देवयानः पन्थाः' है। इस देवयानः पन्था लक्षण देवच्छन्द से छन्दित कामात्मा देवयान मार्ग को ही अपना लक्ष्य बनाता है। यदि प्राज्ञभाग में विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्म (इष्ट–आपूर्त्त–दत्त) संस्कार का प्राधान्य है, तो इस प्राज्ञ का वाग्भाग (भूतभाग) प्रबल रहता है। इस वाक्–प्राधान्य से आत्मगतिनिमित्तक सूक्ष्मशरीररूप छन्द भी वागात्मक (भूतात्मक–प्राणगर्भित वाग्रूप) ही होता है। यही वाक्छन्द (भूतप्रधानसूक्ष्मशरीर) इसका **'पितृच्छन्द'** है। यही पितृच्छन्द छन्दोलक्षण 'पितृयाणः पन्थाः' है। इस पितृयाण पन्थालक्षण पितृच्छन्द से छन्दित कामात्मा आधिदैविक पितृयाणमार्ग को ही अपना लक्ष्य बनाता है। इस प्रकार कर्म्मभेद से प्रबल बने हुए आत्मगत प्राण–वाक् भागों की प्रधानता–अप्रधानता से आत्मगति-

निमित्तक कामच्छन्द देवच्छन्द, पितृच्छन्द भेद से दो भागों में विभक्त हो जाते हैं। देवच्छन्द देवयानः पन्थाः है, पितृच्छन्द पितृयाण पन्थाः है।

सौरदिव्यप्राण ही प्राण है, एवं पार्थिव भूतभाग ही वाक् है यह सौरप्राण तथा पार्थिवीवाक् दोनों दो-दो भागों में विभक्त हैं। सूर्य्योर्ध्वप्राण अमृतप्राण है, यही आत्मप्राण है, एवं आत्यन्तिकरूप से असङ्ग है। पृथिव्यनुगत सूर्य्याधः प्राण मर्त्यप्राण है, यही देवप्राण है, पृथिव्यनुगति से अनुशयरूप से इसमें भूतानुशय का सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार ऊर्ध्व–अधः भेद से देवप्राणलक्षण सौरप्राण के अमृतप्रधान आत्मप्राण, मृत्युप्रधान देवप्राण, ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। विद्यासमुच्चितनिवृत्तिकर्म्म, विद्यानिरपेक्ष-निवृत्तिकर्म्म, लौकिकनिवृत्तिकर्म्म, इन त्रिविध निवृत्तकर्म्मों के अनुगामी प्राज्ञ आत्मा में (प्रवर्ग्यरूप से आगत–सौर) आत्मप्राण का ही प्राधान्य रहता है। फलतः इनका आत्मगतिनिमित्तक छन्द (सूक्ष्मशरीर) भी आत्मप्राणरूप (देवप्राण–भूतगर्भित आत्मप्राणरूप) ही रहता है। यही आत्मप्राणलक्षण देवच्छन्द इन निवृत्तिकर्म्मानुगत प्रेतात्माओं का देवप्राणच्छन्दोलक्षण देवयानमार्गभुक्त छन्दोलक्षण '**ब्रह्मपथ**' है। ब्रह्मपथात्मक यही आत्मप्राणलक्षण देवच्छन्द इन निवृत्तकर्म्मियों की क्रममुक्तिगतिलक्षण मुक्ति का निमित्त बनता है। सूर्य्याधोलक्षण देवप्राण पृथिव्यनुगति से भूतानुगत है। विद्यासमुच्चितप्रवृत्तिकर्म्म से (प्रवर्ग्यरूप से अध्यात्म में भुक्त सौर) देवप्राण का ही प्राधान्य रहता है। फलतः इसका आत्मगतिनिमित्तकछन्द (सूक्ष्मशरीर) भी देवप्राणरूप (आत्मप्राण तथा भूतगर्भित देवप्राणरूप) ही रहता है। यही देवप्राणलक्षण देवच्छन्द इन प्रवृत्तिकर्म्मानुगत प्रेतात्माओं का देवप्राण छन्दोलक्षण देवयानमार्गभुक्त छन्दोलक्षण 'देवपथ' है। देवपथात्मक यही देवप्राणलक्षण वि० सा० प्रवृत्तिकर्म्मियों की देवसर्गगति का निमित्त बनता है। आत्मप्राणलक्षण देवच्छन्दोनिमित्तभूता क्रममुक्ति में अपुनरावर्त्तन है, एवं देवप्राणलक्षण देवच्छन्दो निमित्तभूता देवस्वर्गगति में—'**क्षीणेपुण्येमर्त्यलोके वसन्ति**' के अनुसार पुनरावर्त्तन है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि देवच्छन्दोलक्षण देवयानःपन्था में ही आत्मप्राण, देवप्राण भेद से ब्रह्मपथ, देवपथ, नामक दो छन्द प्रतिष्ठित हैं।

अब पार्थिव वाग्भाग को लक्ष्य बनाइए। पृथिवी के अदिति, दिति भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। जो भू-भाग सूर्य्य की ओर रहता है, वह सौरज्योति से युक्त रहता हुआ अदिति नाम से प्रसिद्ध है, एवं सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत तमःप्रधान भू-भाग दिति है। विद्यानिरपेक्ष इष्टापूर्त्तादिलक्षण प्रवृत्तिकर्म्म का अदिति से सम्बन्ध है, अतएव इन्हें '**अदितिकर्म्म**' कहा गया है, एवं निरर्थक-विरुद्ध-स्वार्थ इन तीन लौकिकप्रवृत्तिकर्म्मों का दितिभाग से सम्बन्ध है, अतएव इन्हें '**दितिकर्म्म**' कहा गया है, जैसा कि गीताभूमिकान्तर्गत '**कर्म्मयोग-परीक्षा**' में विस्तार से प्रतिपादित है। अदितिकर्म्म भी वाङ्मय हैं, दितिकर्म्म भी वाङ्मय हैं। '**पितरो वाक्यमिच्छन्ति**'–'**मर्त्याः पितरः**' इत्यादि के अनुसार पितृतत्त्व मर्त्यवाक् प्रधान है। अतएव इन उभय-विधकर्म्मों को 'पितृयाणः पन्थाः' कहा जा सकता है। अदितिपृथिवी से सम्बद्ध विद्यानिरपेक्ष अदितिलक्षण वाङ्मयकर्म्मसंस्कार से अध्यात्म में अदिति प्राणात्मक ज्योतिर्लक्षण वाक्भाग की प्रधानता रहती है। इसकी प्रधानता से प्रेतात्मा के वाङ्मय–पितृयाणः पन्थात्मक सूक्ष्मशरीर में ज्योतिर्लक्षणवाक् भाग (तमोलक्षण वाग्गर्भित ज्योतिर्म्मयीवाक्) की प्रधानता रहती है। यही छन्दोलक्षण '**पितृपथ**' है, यही आधिदैविक पितृपथ द्वारा पितृस्वर्गगति का निमित्त बनता है। एवमेव यदि अध्यात्म में दितिपृथिवी से सम्बद्ध दिति-

प्राणात्मक तमोलक्षण निरर्थक–विरुद्ध–स्वार्थकर्म्मों का संस्कार प्रतिष्ठित रहता है, तो आध्यात्मिक तमोमय वाग्भाग विकसित हो जाता है। इससे प्रेतात्मा के सूक्ष्मशरीर का भी तमोमय वाग्भाग (ज्योतिर्म्मय वाग्गर्भित वाग्भाग) प्रधान बन जाता है। यही छन्दोलक्षण 'यमपथ' है, यही आधिदैविक यमपथ द्वारा नरकगति का निमित्त बनता है। इस प्रकार अदिति–दिति भेद से पार्थिव वाक्भागरूप पितृयाणः पन्था में पितृपथ–यमपथ भेद से दो छन्दोविवर्त्त हो जाते हैं।

इस प्रकार गतिनिमित्तक वयोनाधलक्षण–कामच्छन्दोरूप सूक्ष्मशरीर के आरम्भ में दो विवर्त्त हो जाते हैं। आगे जाकर प्राणद्वयी, वाग्द्वयी से प्रत्येक के दो-दो विवर्त्त हो जाते हैं, जिनकी मूलप्रतिष्ठा एकमात्र कर्म्म तारतम्य ही माना गया है। देवप्राणात्मक देवछन्द (देवप्राणात्मकसूक्ष्मशरीर) के स्तोमभेद से अवान्तर तीन छन्द हो जाते हैं। पार्थिव कक्षा में व्याप्त देवप्राण में अग्निप्राणानुगत गायत्रीछन्द की, आन्तरिक्ष्य कक्षा में व्याप्त देवप्राण में मरुत्वानिन्द्रानुगत, किंवा वाय्वनुगत त्रिष्टुप्छन्द की, एवं दिव्यकक्षा में व्याप्त देवप्राण में मघवेन्द्रानुगत, किंवा आदित्यानुगत जगतीछन्द की प्रधानता रहती है। इस छन्दोभेद से देवप्राणात्मक देवपथात्मक स्वर्गगतिनिमित्तक देवच्छन्द (देवप्राणात्मक सूक्ष्मशरीर) की भी तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। जबतक जीवात्मा उत्क्रान्त होकर पार्थिव कक्षा में रहता है, तब तक इसका देवच्छन्द (सूक्ष्मशरीर) आधिदैविकवस्वनुगत गायत्रीछन्द से युक्त रहता है। आन्तरिक्ष्यकक्षा में जाकर त्रिष्टुप्च्छन्द से अनुगृहीत हो जाता है, एवं दिव्यकक्षा में पहुँच कर जगतीछन्द से युक्त हो जाता है। इस प्रकार स्वर्गगतिनिमित्तभूत देवच्छन्द (सूक्ष्मशरीर) के अवान्तर तीन विवर्त्त हो जाते हैं, जैसा कि निम्नलिखित ब्राह्मण श्रुति से प्रमाणित है—

१—"छन्दांसि वै देवयानः पन्थाः–गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती।
ज्योतिर्वै गायत्री, गौस्त्रिष्टुप्, आयुर्जगती।
यदेते स्तोमा भवन्ति, देवयानेनैव तत् पथायन्ति।"
(तै०सं० ७।५।१)।

२—**"त्रयो वै देवयाना पन्थानः"** (गो०ब्रा०उ० १।१)।

(ङ) देवताः

'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्य एताभ्य एव देवताभ्यः' इस निगम वचन के अनुसार उत्पन्न होने वाले यच्चयावत् पदार्थ सम्पूर्ण देवताओं के प्रवर्ग्यभाग को लेकर ही उत्पन्न होते हैं। यद्यपि विज्ञान-परिभाषा की विलुप्ति से आज **'देवता, देव'** शब्दों को परस्पर पर्य्यायवाची शब्द माना जा रहा है, तथापि विज्ञानदृष्ट्या दोनों शब्द सर्वथा पृथग्भावों से सम्बन्ध रखते हैं। देवता शब्द व्यापकार्थ का सूचक है, देव

शब्द व्याप्य अर्थ का सूचक है। देव को देवता अवश्य कहा जा सकता है, परन्तु देवता को देव नहीं कहा जा सकता, जैसा कि शतपथब्राह्मणविज्ञानभाष्यान्तर्गत—**अष्टविधदेवताविज्ञान**' नामक प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है। (देखिए शत०वि० भाष्य १) स्वायम्भुव ऋषिप्राण, पारमेष्ठय पितरप्राण, सौर देवप्राण, चान्द्रगन्धर्वप्राण, पार्थिव वैश्वानरप्राण, भौम असुरप्राण आदि भेद से प्राण की अनेक जातियाँ हैं। इन सब प्राणसामान्यों के लिए 'देवता' शब्द नियत है। चूंकि देवता शब्द ऋषि, पितर, गन्धर्वादिप्राणसामान्य का वाचक है, इसी आधार पर ऋषिदैवत्य, पितृदैवत्य, देवदैवत्य, गन्धर्वदैवत्य, असुरदैवत्य इत्यादि देवता–व्यवहार प्रतिष्ठित है। अपनी-अपनी भूतसंस्था का अध्यक्ष (विधर्त्ता) विधर्त्तप्राण अपनी-अपनी भूतसंस्था की अपेक्षा देवता है। जिस प्रकार स्थूलशरीर में यच्चयावत् भूतमात्रों का समन्वय है, एवमेव भूतप्रतिष्ठारूप उन सब ऋष्यादिप्राणों का भी स्थूलशरीर में भोग रहा है। किसके शरीर में कौनसी भूतमात्रा का प्राधान्य है, एवं कौनसा प्राणदेवता प्रधान है ? इस प्रश्न का नियामक जन्मान्तरीय संस्कार है।

उत्क्रान्त आत्मा को छन्दोलक्षण सूक्ष्मशरीर धारण करना पड़ता है, यह पूर्व परिच्छेद में स्पष्ट किया जा चुका है। स्थूलशरीरानुगतभूतों की उत्क्रान्ति के अनन्तर **'भस्मान्तंशरीरम्'** इस औपनिषद् सिद्धान्त के अनुसार पञ्चत्वगत हो जाती है। शरीरभूत स्व-स्वप्रभव पृथिव्यादि महाभूतों में विलीन हो हो जाते हैं। इनके साथ ही आगन्तुक प्राणदेवता भी तत्तत्प्रभवप्राणों में विलीन हो जाते हैं। हाँ, जिन भूतमात्राओं, तथा प्राण मात्राओं (देवताओं) का प्रत्यगात्मा के साथ अन्तर्य्यामात्मक स्वाभाविक सम्बन्ध रहता है, वे भूत–प्राण अवश्य ही कारणग्रन्थि विमोक लक्षणमुक्ति पर्य्यन्त सुरक्षित रहते हैं। **'अन्यन्नवतरं कल्याणतररूपं कुरुते'** इस बृहदारण्यक सिद्धान्त के अनुसार उत्क्रान्त आत्मा भूतसूक्ष्मों (सूक्ष्मभूतमात्राओं) से नवीन सूक्ष्मशरीर का कर्म्मानुसार निर्म्माण करता है। अथवा यों कह लीजिए कि, कर्म्मानुसार पारलौकिक शुभाशुभ कर्म्मभोग के लिए इसे नवीन शरीर मिल जाता है, जो कि आत्मगति (परलोकगति) निमित्तक छन्दोलक्षण सूक्ष्मशरीर परिमाणतः अङ्गुष्ठमात्र बनता हुआ 'आतिवाहिकशरीर' नाम से प्रसिद्ध है। स्थूलशरीर जहाँ पुरुषार्थसाधन का निमित्त बनता हुआ 'कर्म्मशरीर' कहलाया है, साथ ही सांसारिक भोगसाधन बनता हुआ भोगशरीर भी कहलाया है, वहाँ उत्क्रान्त्यनन्तर प्राप्त होने वाला अङ्गुष्ठमात्र यह सूक्ष्मशरीर स्वतन्त्रपुरुषार्थ से एकान्ततः वञ्चित रहता हुआ केवल भोगशरीर ही कहलाया है। भोगशरीर में प्रतिष्ठित प्रेतात्मा कोई ऐसा स्वतन्त्र कर्म्म नहीं कर सकता, जिससे इसके परलोकभोग में किसी भी प्रकार की ह्रास-वृद्धि हो जाय। स्थूलशरीरावस्था ही एक ऐसी अवस्था है, जिसमें प्रतिष्ठित कर्म्मात्मा कर्म्मभोग के साथ-साथ स्वतन्त्ररूप से ऐसे कर्म्म कर सकता है, जिनके अतिशय तारतम्य से यह अपने परलोकगत्यनुगत फलभोगों में बलाबल का आधान कर सकता है। इसी आधार पर–**'इह चेदवेदीत्–अथसत्यमस्ति, इह चेन्नावेदीत्–महतीविनष्टिः'**—**"भूतेषु भूतेषु निचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति"** इत्यादि सिद्धान्त प्रतिष्ठित है।

अस्तु कहना यही है कि, स्थूलशरीर निधनान्तर इसे आत्मगतिनिमित्तक कर्म्मानुसार छन्दोलक्षण सूक्ष्मशरीर प्राप्त होता है। भूतमात्रा से सर्वथा अविनाकृता है। अवश्यमेव भूतमात्रा के साथ प्राणमात्रा

का भी इस आतिवाहिक सूक्ष्मशरीर में समावेश हो जाता है। सूक्ष्मशरीररूप छन्द ही इस प्राणतत्व का बाह्य आलम्बन बनता है। अतएव छन्द को देवता का (भूत को प्राण का) वाहन कहा जा सकता है। छन्दोरूप भूतभाग पर आरूढ यह देवतालक्षण प्राण ही भूतभाग की स्वरूपरक्षा का अन्यतम कारण है। **'यावदनुभूतेषुप्राणस्तावदनु भूतरक्षा'** ही मुख्य सिद्धान्त है। विधर्त्ता प्राणदेवता ही क्षरभूतकूट को अपने अच्छिन्नसूत्र में बद्ध कर उसे स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित रखता है। जिन अकामयमान पुरुषों का मुक्तात्मा शरीरबन्धन से विमुक्त होता हुआ सद्योमुक्त है, उनके सम्बन्ध में हमें कुछ भी विचार नहीं करना। विचार करना है कामयमान–कामासक्त उन कर्म्मात्माओं का, जिन्हें स्थूलशरीर परित्यागान्तर सूक्ष्मशरीर धारण कर देवयानादि मार्गों के द्वारा परलोकगति का अनुगमन करना पड़ता है।

ऋषिप्राण ज्ञानप्रधान है, इसका आकाशभूत से सम्बन्ध है। अतएव तत्प्राणयुक्त अकामयमान मुक्तात्माओं का शरीर भी आकाशात्मक बन जाता है। यही इनकी सद्योमुक्ति है। ऋषिप्राण के अनन्तर पारमेष्ठ्य पितरप्राण है, तदनन्तर सौर देवप्राण, अनन्तर चान्द्रगन्धर्वप्राण, अनन्तर पार्थिव वैश्वानरप्राण, सर्वान्त में भौम आसुरप्राण है। इनमें चान्द्रगन्धर्वप्राण का तो पारमेष्ठ्य पितरप्राण में ही अन्तर्भाव हो जाता है। शेष चार प्राण बच जाते हैं। इन चारों में पारमेष्ठ्य पितरप्राण तथा भौम आसुरप्राण दोनों का एक युग्म है, एवं सौर देवप्राण तथा पार्थिव आग्नेयप्राण (वैश्वानरप्राण) दोनों का एक युग्म है। विद्यासापेक्ष सौरपार्थिवप्राणयुग्म देवतालक्षण देवयानः पन्था है एवं पारमेष्ठ्य-भौमप्राणयुग्म देवतालक्षण पितृयाणः पन्था है। देवयानः पन्थात्मक देवताप्राण अग्नि, वायु, आदित्य भेद से तीन भागों में विभक्त हैं, पितृयाणः पन्थात्मक देवताप्राण आपः–वायुः–सोम भेद से तीन भागों में विभक्त है। कर्म्मानुसार प्राप्त सूक्ष्मशरीर में जिस भूत का विकास रहता है, तद्भूतावच्छिन्न तत्प्राणदेवता ही उस सूक्ष्मशरीर में प्रधानरूप में विकसित रहता है।

विद्यासमुच्चित निवृत्तिकर्म्म, विद्यानिरपेक्षनिवृत्ति सत्कर्म्म, लौकिकनिवृत्ति सत्कर्म्म, इन तीन कर्म्मों से सौर–असङ्ग–अग्नि–वायु–आदित्यात्मक देवताप्राण का देवच्छन्दोलक्षण सूक्ष्मशरीर में प्राधान्य रहता है। यही देवयानमार्गान्तर्गत देवताप्राण लक्षण **'ब्रह्मपथ'** है, यही क्रममुक्ति का निमित्त बनता है। विद्यासमुच्चित प्रवृत्ति कर्म्मसंस्कार से कर्म्मात्मा का पार्थिव ससङ्गासङ्ग अग्नि–वायु–आदित्यात्मक (स्तौम्य) देवताप्राण विकसित रहता है। तदनुकर्म्मात्मा के देवच्छन्दोलक्षण सूक्ष्मशरीर में इसी देवताप्राण का प्राधान्य रहता है। यही देवयानमार्गान्तर्गत देवताप्राण लक्षण **'देवपथ'** है, यही देवस्वर्गगति का निमित्त बनता है। सौर प्राणाग्नित्रयी अग्नि है, पार्थिवप्राणाग्नित्रयी भी अग्नि है। सौरप्रवर्ग्याग्नि ही पार्थिवप्राणाग्नि है। अतएव इन दोनों का समानयुग्म मान लिया गया है। यही उभयविध आग्नेयप्राण देवता सूर्य्यप्राणापेक्षया ब्रह्मपथ, पार्थिवप्राणापेक्षया देवपथ बनता हुआ उभयपथात्मक 'देवयानः पन्थाः बन रहा है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर मन्त्रश्रुति ने कहा है—

"त्वं तन्तुरुत सेतुरग्ने ! त्वं पन्था भवसि देवयानः।
त्वयाग्ने पृष्ठं वयमारुहेम यत्र देवैः सद्यमादंमदेम ॥"
(मैं०सं० २।१३।२२)।

विद्यानिरपेक्ष प्रवृत्ति सत्कर्म्म संस्कार से कर्म्मात्मा का सोमात्मक पितृप्राणदेवता विकसित रहता है, तदनुप्राप्त सूक्ष्मशरीर में भी सोमात्मक पितृप्राण देवता का ही प्राधान्य रहता है। यही सौम्य पितृ-देवता पितृयाणः पन्थान्तर्गत देवता लक्षण **'पितृपथ'** है, यही पितृस्वर्गगति का निमित्त बनता है। सोमवीध्र है, आग्नेय ज्योति का ग्राहक है। अतएव आंशिकरूप से यह पितृप्राण अग्निवत् ज्योतिर्म्मय रहता है। इसका यह ज्योतिष्ट्व ही पितृस्वर्ग प्राप्ति का निमित्त बनता है। लौकिक निरर्थक कर्म्म, विरुद्धकर्म्म, तथा स्वार्थकर्म्म इन तीनों कर्म्मों से कर्म्मात्मा का भौम आसुरप्राण प्रवृत्त रहता है। परमेष्ठी में आपः—वायुः—सोमात्मक तीन मनोताओं का समन्वय है। इनमें आपः असुरप्राण की तथा सोम पितृप्राण की प्रतिष्ठा बनता है। आप्यप्राण असुर है, वायव्यप्राणगन्धर्व है, सौम्यप्राण पितर है। इन तीनों पारमेष्ठ्य प्राणों में आप्यप्राण तो **'अद्भ्यः पृथिवी'** सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड में भुक्त है। वायव्य (गन्धर्व) प्राण तथा सौम्य (पितर) प्राण दोनों **'चन्द्रमा वै गन्धर्वः, विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति'** के अनुसार चन्द्रमा में भुक्त हैं। तीनों प्राणों का प्रभव स्थान चूंकि समान (परमेष्ठी) है, अतएव पारमेष्ठ्य (चान्द्र) पितृप्राण तथा भौम आसुरप्राण, दोनों का हमने एक युग्म मान लिया है। जिस प्रकार विद्यानिरपेक्षप्रवृत्ति सत्कर्म्म से आध्यात्मिक सौम्य पितृप्राण विकसित रहता है, एवमेव उक्त असत्कर्म्मत्रयी से आध्यात्मिक आप्य आसुर प्राण विकसित रहता है। तदनुकर्म्मात्मा के पितृच्छन्दलक्षण सूक्ष्मशरीर में इसी आसुर प्राण का प्राधान्य रहता है। यही पितृयाणमार्गान्तर्गत **'यमपथ'** है, यही नरकगति का निमित्त बन रहा है। इस प्रकार छन्दोवत् कर्म्मतारतम्य से सूक्ष्मशरीरानुगत प्राणदेवताओं के भी चार विवर्त्त हो जाते हैं, जिन्हें उपक्रम-परिभाषानुसार ब्रह्मपथादि नामों से व्यवहृत किया जा सकता है।

१—ऋषिप्राणः→स्वायम्भुवः (सत्यः)——————→ऋषिदेवता
२—पितरप्राणः→पारमेष्ठ्यः (सौम्यः सोमः)——————→पितृदेवता
३—देवप्राणः→सौरः (आग्नेयः अग्निवाय्वादित्याः)——————→देव देवता
४—गन्धर्वप्राणः→चान्द्रः (वायव्यः वायुः)——————→गन्धर्व देवता
५—वैश्वानरप्राणः→पार्थिवः सौम्य (आग्नेयः—अग्निवाय्वादित्याः)→अग्नि देवता
६—असुरप्राणः→भौमः (आप्यः—आपः)——————→असुर देवता

१—ऋषिप्राणः—ज्ञानघनः—आकाशात्मा—सद्योमुक्तेरधिष्ठाता

१	१—देवप्राणः→सौराग्नित्रयी—लक्षणः—तेजोमयः—असङ्गः—क्रममुक्तेराधिष्ठाता २—वैश्वानरप्राणः→पार्थिवाग्नित्रयी—लक्षणः—तेजोमयः—ससङ्गासङ्गः—देवस्वर्गगतेरधिष्ठाता
२	१—सौम्यप्राणः→चान्द्रसोमलक्षणः—आपोमयः, वायुमयः, ससङ्ग—पितृस्वर्गगतेरधिष्ठाता (चान्द्रगन्धर्वप्राणस्यात्रैवान्तर्भावः) २—आप्यप्राणः→पार्थिवभूतलक्षणः—भूतमयः—निषिद्धससङ्गः—नरकगतेरधिष्ठाता

१—विद्यासमुच्चितकर्म्मानुगताः—अग्निवाय्वादित्यात्मकाः—देवदेवतालक्षणाः—देवताः→देवयानः पन्थाः ।

२—विद्यानिरपेक्षकर्म्मानुगताः—अब्—वायु—सोमात्मिकाः—असुर—गन्धर्व—पितृदेवतालक्षणाः—देवताः→पितृयाणः पन्थाः ।

१ | १ विद्यासमुच्चितप्रवृत्तिकर्म्मानुगताः—पार्थिव—अग्निवाय्वादित्यात्मिकाः—ससङ्गासङ्गाः—देवदेवताः→देवयानान्तर्गतो 'देवपथः'[1] (देवस्वर्गगतिनिमित्तभूतः)

२ | १ विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्मानुगताः—चान्द्र—वायु—सोमात्मिकाः—ससङ्गाः—पितृदेवताः→पितृयाणान्तर्गतः—'पितृपथः'[2]— (पितृस्वर्गगतिनिमित्तभूतः) ।

३ | १—विद्यासापेक्षनिवृत्तिसत्कर्म्मानुगताः
२—विद्यानिरपेक्षनिवृत्तिसत्कर्म्मानुगताः
३—लौकिकनिवृत्तिसत्कर्म्मानुगताः } →सौर—अग्निवाय्यादित्यात्मिकाः—असङ्गाः—देवदेवताः→देवयानान्तर्गतो—'ब्रह्मपथः'[3] (क्रममुक्तिगतिनिमित्तभूतः)

४ | १—लौकिकनिरर्थककर्म्मानुगताः
२—लौकिकविरुद्धकर्म्मानुगताः
३—लौकिकस्वार्थकर्म्मानुगताः } →भौम—अब्—भूतात्मिकाः—निबिडससंङ्गाः—पितृदेवताः→पितृयाणान्तर्गतोः—'यमपथः'[4] (नरकगतिनिमित्तभूतः) ।

(च) आतिवाहिकाः

'पन्थानः, कर्म्माणि, नाड्यः, छन्दांसि, देवताः' जिन पाँच गतिनिमित्तों का अब तक क्रमिक निरूपण हुआ है, एवं 'आतिवाहिक, आकाश, लोक', जिन तीन गतिनिमित्तों का यहाँ से क्रमिक निरूपण प्रक्रान्त है, उन आठों गतिनिमित्तों के सम्बन्ध में अवस्थाभेद सहकृत कुछ एक विशेषताओं का स्पष्टीकरण कर लेना आवश्यक होगा। निरूपित तथा निरूपणीय इस निमित्तगायत्री (८ निमित्त) में से 'कर्म्माणि: नाड्यः' इन दो निमित्तों का स्थूलशरीरदशा से सम्बन्ध है, कारण स्पष्ट है। जन्मान्तरीय कर्म्म संस्कार तथा आयुर्भोगपर्य्यन्तकृत कर्म्मसंस्कार ही गति के मुख्य निमित्त माने गए हैं। जीवितदशा में कर्म्मात्मा जैसे भी कर्म्मसंस्कारों से युक्त रहता है, उसे तदनुगत नाड़ी विशेष से ही उत्क्रान्त होना पड़ता है। सूक्ष्मशरीरानुगता भावी–गति का प्रधान निमित्त परम्परया यह कर्म्मसंस्कार ही बनता है, इसीलिए तो इसे गतिनिमित्त मान लिया गया है। साथ ही चूंकि इसका विस्तार–सञ्चय जन्मान्तरीयसंस्कारानुगत–ऐहिकजीवन में ही होता है, इस दृष्टि से इसे स्थूलशरीरानुगत मान लिया जाता है। यही स्थिति 'नाड्यः' निमित्त की है। जिन सुषुम्णादि व्याननाड़ियों का नाड़ी–परिच्छेद में विश्लेषण हुआ है, उन सब नाड़ी विवर्त्तों का भी ऐहिकजीवनानुगत स्थूलशरीर से ही सम्बन्ध है। इस प्रकार कर्म्म तथा नाड़ी, इन दो निमित्तों का स्थूलशरीरानुगता जीवनदशा से ही सम्बन्ध सिद्ध हो रहा है।

छन्दांसि वह सूक्ष्मशरीर है, जिसे भोगायतन बना कर उत्क्रान्त कर्म्मात्मा लोकविशेषों में कर्म्मानुसार शुभाशुभ भोग भोगने के लिए गमन करता है। देवता, वह प्राणतत्त्व है, जो कर्म्मतारतम्य से सूक्ष्मभूतात्मक सूक्ष्मशरीर की प्रतिष्ठा बनता है। इन दोनों निमित्तों का उत्क्रान्त–लोकगति के लिए सन्नद्ध कर्म्मात्मा से सम्बन्ध है। पन्थानः वे नियतमार्ग हैं, जिनसे इसे जाना है। आतिवाहिक वे तत्त्व हैं, जिन पर वाहनवत् आरूढ होकर यह गमन करता है, आकाश वह गतित्रैलोक्य है, जो समष्ट्यात्मक गन्तव्य स्थान है एवं लोक वह गतिनिमित्त है, जो व्यष्ट्यात्मक गन्तव्य स्थान है। आतिवाहिक, आकाश, लोक, इन तीनों निमित्तों का, व चौथे उस 'पन्थानः' निमित्त का, जिसका शेष ७ निमित्तों से देवयान–पितृयाण सम्बन्ध बतलाने के उद्देश्य से सर्वप्रथम स्पष्टीकरण हुआ है, इन चार निमित्तों का आधिदैविक (प्राकृतिक) संस्था से सम्बन्ध है। इसी स्थिति का यों भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है कि, स्थूलशरीरानुगत कर्म्म-नाडी इन दो निमित्तों का, सूक्ष्मशरीरानुगत छन्द, देवता इन दो निमित्तों का, इस प्रकार इन चार निमित्तों का तो अध्यात्मसंस्था से (पूर्वयुग्म का स्थूल शरीर युक्त अध्यात्म संस्था से एवं उत्तरयुग्म का सूक्ष्मशरीरानुगत अध्यात्म संस्था से) प्रधान सम्बन्ध है एवं शेष पन्थानः आदि चारों निमित्तों का अधिदैवत संस्था से सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध प्रदर्शन से प्रकृत में कहना यही है कि, 'कर्म्म–नाड़ी–छन्द–देवता' इन चारों आध्यात्मिक निमित्तों की मूल प्रतिष्ठा जीवकर्म्म है। जीवकर्म्म अस्त-व्यस्त है, अतएव तत्सम्बद्धा यह निमित्तचतुष्टयी अनियतभावाक्रान्त है। पन्थानः, आतिवाहिकाः, आकाशः, लोकः इन चार आधिदैविक निमित्तों की मूलप्रतिष्ठा ईश्वरकर्म्म है। सत्यसंकल्प ईश्वर का कर्म्म सर्वथा सुव्यवस्थित है। अतएव तत्सम्बद्धा, किंवा तद्रूपा यह निमित्तचतुष्टयी नियत भावाक्रान्त है। जीवानुगता निमित्तचतुष्टयी

परिवर्त्तनशीला है, ईश्वरानुगता निमित्तचतुष्टयी—**याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः'** इस ईश्वरोपनिषत् (ईशोपनिषत्) के अनुसार आकल्पान्त यथापूर्वस्वरूप से सुव्यवस्थित है।

इसी सम्बन्ध में एक विशेषता और। पन्थानः, आतिवाहिकाः इन दो आधिदैविक ईश्वरीय निमित्तों का उपक्रम पृथिवी स्थान है। अतएव इन्हें पार्थिव निमित्त कहा जायगा। आकाशः, लोकाः इन दो निमित्तों की प्रतिष्ठा सम्वत्सरचक्र है। अतएव इन्हें सांम्वत्सरिक निमित्त कहा जायगा। पार्थिव आधिदैविक निमित्त-युग्म से स्थूलशरीरानुगत आध्यात्मिक निमित्तयुग्म अनुगृहीत है एवं साम्वत्सरिक आधिदैविक निमित्तयुग्म से सूक्ष्मशरीरानुगत आध्यात्मिक निमित्तयुग्म अनुगृहीत है। इस प्रासङ्गिक निमित्त वैशिष्ट्य को उपरत करते हुए क्रमप्राप्त आतिवाहिक निमित्त की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

"सोमसंज्ञोऽयंभूतात्माग्निसंज्ञोप्यव्यक्तमुखा इति" (मैत्रायण्युपनिषत् ६ प्र० १०) इस औपनिषद वचन के अनुसार प्रत्यगात्मा भी अग्नीषोमात्मक है एवं **'अग्नीषोमात्मकं जगत्'** (जाबालोपनिषत् २।१) के अनुसार क्षणिक परिवर्त्तन की अपेक्षा 'जगत्' नाम से व्यवहृत इस कर्म्मात्मा का विश्वरूप स्थूलशरीर भी अग्नीषोमात्मक है। वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ की समष्टि ही कर्म्मात्मा है। वैश्वानर आग्नेयप्राण है, तैजस

वायव्यप्राण है, प्राज्ञगत प्रज्ञात्मक प्राण ऐन्द्रप्राण है। तीनों एक ही अग्नितत्त्व के अवस्थाभेद निबन्धन तीन विवर्त्त हैं। प्रज्ञाप्राणात्मक इन्द्र की प्रतिष्ठारूप प्रज्ञाभाग में सोम, चिदंश, ये दो तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। वीध्र-सोम में प्रतिबिम्बित चिदंश के सम्बन्ध से ही यह चिद्विशिष्ट सोमभाग 'प्रज्ञा कहलाया है। इस प्रकार कर्म्मात्मा में सोम का भी भोग हो रहा है। प्रज्ञात्मकप्राण प्रज्ञा से अविनाभूत है, अतएव प्रज्ञा (चिद्-विशिष्टसोम) और प्राण (इन्द्र) दोनों को अभिन्न मान लिया जाता है, जैसा कि—**"या वै प्रज्ञा—स प्राणः, यो वै प्राणः—सा प्रज्ञा। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्तिष्ठतः"** (कौ० उ० ३।३) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। इस प्रकार कर्म्मात्मा का अग्नीषोममयत्व भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। अतएव इसे (भूतात्मा नामक कर्म्मात्मा को) सोमसंज्ञक भी कहा जा सकता है, अग्निसंज्ञक भी माना जा सकता है। भौतिक शरीर का अग्निषोममयत्व तो स्पष्ट ही है। दोनों की अग्निषोमता में अन्तर केवल यही है कि कर्म्मात्मा भूताग्निसोमगर्भित प्राणाग्निसोमप्रधान है, प्राणतत्त्व अव्यक्त है, अमूर्त्त है, अतएव इसे **'अव्यक्त-मुखा'** कहना अन्वर्थ बनता है एवं शरीर प्राणाग्निसोमगर्भित भूताग्निसोमप्रधान है। **'सहह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः'** के अनुसार यह भी सिद्ध हो जाता है कि, उत्क्रान्त कर्म्मात्मा भी अग्निषोम-मय है, एवं इस उत्क्रान्त आत्मा का स्थूलशरीर भी अग्निषोमात्मक ही है। इस प्रकार अनुत्क्रान्ति, उत्-क्रान्ति दोनों अवस्थाओं में आत्मन्वी (शरीरविशिष्टात्मा) का अग्निसोममयत्व सिद्ध हो जाता है। अग्नितत्व ज्योति है, सोमतत्व तम है। ज्योतिर्लक्षण अग्नितत्व की मूलप्रतिष्ठा सूर्य्य है, तमोलक्षण सोम-तत्व की प्रतिष्ठा चन्द्रमा है। इस प्रतिष्ठा दृष्टि से आध्यात्मिक अग्निज्योति का सूर्य्यसंस्था से सम्बन्ध है, आध्यात्मिक सोमतम का चन्द्रसंस्था से सम्बन्ध है। अध्यात्म केन्द्र से बद्ध ज्यौतिर्म्मय सौरमण्डल देवयानः पन्थाः है, एवं अध्यात्म केन्द्र से बद्ध तमोमय चन्द्रमण्डल पितृयाणः पन्थाः है। स्थूलशरीर से उत्क्रान्त ज्योति-स्तमोमय प्रेतात्मा ज्योतिस्तम के तारतम्य से इन्हीं दोनों में से किसी एक मार्ग का अनुगमन करता है। यदि इसका आध्यात्मिक ज्योतिर्भाग विकसित है, तब तो यह सौरज्योतिर्म्मय देवयानः पन्था का अनुगामी बनता है, यहाँ इसका आध्यात्मिक तमोभाग विकसित है, तो यह चान्द्रतमोमय पितृयाणः पन्था का अनुगामी बनता है। इन दोनों मार्गों में अध्यात्म केन्द्र से सूर्य्य—चन्द्र केन्द्र पर्य्यन्त वितत् ज्योति—स्तमोमण्डल ही उत्क्रान्त आत्मा का वहन करते हैं। अतएव इन ज्योतिस्तमः पर्वों को अवश्यमेव **'आतिवाहिक'** कहा जा सकता है। यद्यपि छन्दांसि, देवताः, इन दो निमित्तों की समष्टिरूप सूक्ष्मशरीर भी आत्मा का वहन करता है, अतएव इसे आतिवाहिकशरीर भी कहा जाता है तथापि इस शरीरलक्षण आतिवाहिक का 'आत्मन्वी' मर्य्यादा से चूंकि अध्यात्म संस्था में ही अन्तर्भाव है, अतएव इसका आत्मस्वरूप में ही अन्तर्भाव मानना उचित होता है। अश्व इसलिए आत्मन्वी का आतिवाहिक माना जाता है कि इस पर सशरीरी आत्मन्वी प्रतिष्ठित होकर गमन करता है। ठीक यही परिस्थिति यहाँ है। सशरीरी उत्क्रान्त आत्मा इन ज्योतिस्तमः पर्वों पर आरूढ होकर ही देवयान—पितृयाणलक्षण ज्योति—स्तमोमय सूर्य्य—चन्द्र मण्डलों में गमन करता है। ज्योतिर्म्मय आतिवाहिक कौन-कौन हैं ? एवं तमोमय आतिवाहिकों का क्या स्वरूप है ? इन प्रश्नों के विवेचन से पहले ज्योतिर्पर्व समष्टिलक्षण देवयानः पन्थाः का, तथा तमःपर्वसमष्टिलक्षण पितृयाणः पन्थाः का स्वरूप विश्लेषण आवश्यक होगा। इनमें से पहले देवयानः पन्था का ही संक्षिप्त स्वरूप सन्मार्गियों के सम्मुख उपस्थित हो रहा है—

'देवयानः पन्थाः' शब्द का सामान्य अर्थ है—'**देवताओं के आने जाने का मार्ग**।' फलतः इस शब्द के आधार पर ही **देवता**, उनकी **गति**, गतिप्रतिष्ठालक्षण **मार्ग**, ये तीन पर्व हमारे लक्ष्य में आ जाते हैं। देवता शब्द से सौरप्राणलक्षण देवदेवता गृहीत हैं, जैसा कि परिच्छेदारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है। इसीलिए तो यह पन्था देवतायानः पन्थाः कहला कर देवयानः पन्थाः कहलाया है। देवता शब्द से ऋषि–पितर–देव–गन्धर्वादि यच्चयावत् प्राण गृहीत हैं। देव शब्द केवल सौर देवतत्त्व का ही संग्राहक है, जिसका सौर–पार्थिव सम्वत्सर चक्रों में भोग हो रहा है। ऐसी स्थिति में उक्त शब्द का 'देवताओं के आने जाने का मार्ग' अर्थ न कर 'देवों के', अथवा 'देवदेवताओं के आने जाने का मार्ग' यही अर्थ किया जायगा।॥ सौरतत्त्व '**इन्द्र**' नाम से प्रसिद्ध है। इस सौरप्राणतत्त्व (इन्द्र) के साथ सौर सावित्राग्नि का घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। इन्द्राग्नि–लक्षण यही सौरप्राण पारमेष्ठ्यसोमाहुति सम्बन्ध बनता हुआ रश्मिरूप से सम्पूर्ण रोदसी त्रैलोक्य में व्याप्त हो रहा है। रोदसीत्रैलोक्यावच्छिन्न यही सौरप्राणलक्षण प्राकृतिक देवयानमण्डल है। यही मण्डल (जिसे सावित्राग्नि सम्बन्ध से हिरण्मयमण्डल भी कहा जाता है) सौरसम्वत्सर नाम से प्रसिद्ध है। इस सौरसम्वत्सर चक्र के गर्भ में समाहित पार्थिव विवर्त्त भुक्त है। पार्थिवप्राणतत्त्व इन्द्र है, पार्थिव अग्नितत्त्व वैश्वानर है। सौर इन्द्र जहाँ '**मघवा**' कहलाया है, वहाँ पार्थिव इन्द्रप्राण पार्थिववस्वाग्नि के सम्बन्ध से '**वासव**' कहलाया है। एवमेव सौर अग्नितत्त्व जहाँ '**सावित्र**' कहलाया है, वहाँ पार्थिव अग्नितत्त्व '**अङ्गिरा**' नाम से व्यवहृत हुआ है। सौर सावित्राग्नि के भी अवस्थाभेदनिबन्धन अग्नि–वायु–आदित्य ये तीन विवर्त्त हैं, एवं पार्थिव आङ्गिरस अग्नि के भी अवस्थाभेदनिबन्धन अग्नि, वायु, आदित्य ये तीन ही विवर्त्त हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, यद्यपि सौर-पार्थिव दोनों ही संस्थाओं में इन्द्र–अग्नि दोनों का समन्वय है, तथापि सौरमण्डल में इन्द्र का प्राधान्य है एवं पार्थिवमण्डल में अग्नि का प्राधान्य है। पृथिवी पृथिवी है, इसमें अग्नि का प्राधान्य है, सूर्य्य द्युलोक है, इसमें इन्द्र का प्राधान्य है। इसी आधार पर—"**यथाग्निगर्भा पृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेणगर्भिणी**" यह निगम प्रतिष्ठित है।

जहाँ तक सौरमण्डल की व्याप्ति है, वहाँ तक सौर इन्द्रप्रधान ज्योतिर्म्मयतत्त्व व्याप्त है। मण्डलावच्छिन्न यही प्राणसीमा 'बृहत्साम' नाम से प्रसिद्ध है। इस बृहत्साममण्डल गर्भ में सावित्राग्नि सम्बन्ध से अग्नि–वायु–आदित्य ये तीन सौरविवर्त्त भुक्त है। इन तीन अवसान भूमियों के सम्बन्ध से यह बृहत्साम भी त्रिपर्वा हो जाता है। जहाँ तक सौर सावित्राग्नि व्याप्त है, उस सावित्राग्निमण्डल की अन्तिम सीमा **बृहत्साम** है, सावित्राग्निवायु (रुद्रवायु) सीमा '**वैराजसाम**' है एवं सावित्रादित्य की सीमा '**रैवतसाम**' है। तीनों की समष्टि सौरसम्वत्सरसाम है, जिसे बृहत्साम कहा जाता है। इस सम्वत्सरसामात्मक बृहत्साम के केन्द्र में सूर्य्यपिण्ड प्रतिष्ठित है। यही स्थिति पार्थिव रथन्तरसाम की समझिए। जहाँ तक पार्थिवमण्डल की व्याप्ति है, वहाँ तक पार्थिव अग्निप्रधान ज्योतिर्म्मय तत्त्व व्याप्त है। मण्डलावच्छिन्ना यही

॥इसी श्रौत 'देवता'–'देवदेवता' व्यवहार के आधार पर लोक व्यवहार में (प्रान्तीय भाषा में) '**देईदेवता**' शब्द प्रचलित है, जिसका एकमात्र तात्पर्य्य 'देवदेवता' ही है। व्यवहार बतला रहा है कि, भारतीय सामान्य प्रजा में भी विज्ञानसिद्ध आर्षसिद्धान्त ज्यों के त्यों प्रतिष्ठित हैं।

प्राणसीमा रसतमात्मक बनता हुआ रथन्तरसाम नाम से प्रसिद्ध है। यह पार्थिवसाम रथात्मक सूर्य्यपिण्ड से भी अतिक्रमण कर जाता है, इसलिए भी 'रथं–सूर्य्यं–तरति' निर्वचन से रथन्तर कहलाया है। इस प्रकार रसाग्नि सम्बन्ध से तथा रथात्मक सूर्य्यसन्तरण से उभयथा इसका रथन्तरन्तत्त्व सिद्ध हो रहा है, जैसा कि निम्नलिखित श्रुतियों से प्रमाणित है—

१—"रसतमं ह वै तद्रथन्तरमित्याचक्षते परोक्षम्।" (शत० ९।१।२।३६)।

२—"असौ वा ऽ आदित्य एष रथः।" (शत० ९।४।१।१५)।

तं तरति, इति रथन्तरम्।

इस पार्थिव रथन्तरसाम मण्डल के गर्भ में आङ्गिरसाग्नि के सम्बन्ध से अग्नि–वायु–आदित्य ये तीन पार्थिव विवर्त्त भुक्त हैं। इन तीन अवसान भूमियों के सम्बन्ध से यह रथन्तर साम भी त्रिपर्वा बन जाता है। जहाँ तक पार्थिव आङ्गिरस अग्नि व्याप्त है, उस आङ्गिरस अग्निमण्डल की सीमा '**रथन्तर साम**' है, आङ्गिरसवायु (यमवायु) की सीमा '**वैरूपसाम**' है एवं आङ्गिरस आदित्य की सीमा '**शाक्वरसाम**' है। तीनों की समष्टि पार्थिव सम्वत्सरसाम कहा जाता है। इस सम्वत्सरसामात्मक रथन्तरसाम का उस सौर सम्वत्सरसाम के साथ अतिमान सम्बन्ध हो रहा है। इस पार्थिव सम्वत्सर के सम्बन्ध में यह विशेषता है कि जिस प्रकार सौरसम्वत्सर के मध्य में सूर्य्य प्रतिष्ठित है, वैसे ही पार्थिव सम्वत्सर के मध्य में भूपिण्ड प्रतिष्ठित नहीं है। कारण यही है कि, सूर्य्य जहाँ स्वज्योतिर्म्मय पिण्ड है, वहाँ अर्द्धपार्थिव विवर्त्त तो सूर्य्य सम्बन्ध से परज्योतिर्म्मय है एवं अर्द्धपार्थिव विवर्त्त सूर्य्यज्योतिर्विच्छेद से अज्योतिर्म्मय अर्द्धपार्थिव भाग ही अदिति पृथिवी है, जिसका पार्थिव सम्वत्सर से सम्बन्ध है एवं तमोमय अर्द्धपार्थिव भाग ही दिति पृथिवी है, जो सम्वत्सरमण्डल से वञ्चित है। क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न सौरसम्वत्सर ही पार्थिव सम्वत्सर की प्रतिष्ठा है। क्रान्तिवृत्त पर परिभ्रममाण भूपिण्ड का सूर्य्यविदिक्स्थ छायामय दितिभाग वास्तव में इस दृष्टि से भी सम्वत्सरमण्डल से बहिर्भूत है। सौरसम्वत्सरमण्डल 'आतपपथ' है, पार्थिव वह सम्वत्सर (पार्थिव अर्द्धभाग) तो आतपपथ है, जिसका सौरसम्वत्सरमण्डल में भोग हो रहा है, एवं वह पार्थिव दित्यात्मक अर्द्धभाग छायापथ है, जो सूर्य्यज्योति से वञ्चित है। इस प्रकार सौरसम्वत्सरमण्डल का केवल आतपपथत्व सिद्ध हो जाता है एवं अदिति–दिति भेद से पृथिवी में आतप–छाया दोनों पथों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इसी पार्थिव छाया–आतप भावों का पञ्चचितिक पार्थिव अग्नि सम्बन्ध से विश्लेषण करते हुए श्रुति ने कहा है—

"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्यलोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥

(कठोपनिषत् १।३।१)

सूर्य्य, पृथिवी दोनों के गर्भ में उडुपति चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। सौरज्योति के सम्बन्ध से ज्योतिर्म्मय बने हुए इस चान्द्रमण्डल में भी पृथिवीवत् साम का उपभोग हो रहा है। चूंकि यहाँ अग्नि का अभाव है, अतएव इस चान्द्रसाम के तीन पर्व नहीं होते। यही चान्द्रसाम **'राजनसाम'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसके अतिमान से श्रद्धा–रेत–यशों भावों की प्राप्ति हुआ करती है। सौरज्योतिर्म्मय अर्द्धचन्द्र आतपपथ है, इसकी सौरसम्वत्सर में भुक्ति है एवं सौरज्योतिर्वञ्चित अर्द्धचन्द्र छायापथ है, इसका पार्थिव दितिभाग से सम्बन्ध है। इस प्रकार सूर्य्य चन्द्रमा के सम्बन्ध से दो तो आतपपथ हो जाते हैं एवं दो ही छायापथ हो जाते हैं। दोनों के आतपपथ सौरसम्वत्सरमण्डल में भुक्त हैं, दोनों के छायापथ सम्वत्सरसीमा से बहिर्भूत हैं।

चान्द्रराजनसाम, सौरबृहत्साम, पार्थिवरथन्तरसाम इन तीनों में चान्द्रसाम सोमात्मक बनता हुआ अन्न है, इतर दोनों साम अग्न्यात्मक बनते हुए अन्नाद हैं। इन दोनों अन्नादसामों के (सौर-पार्थिवसामों के) गर्भ (उदर) में भुक्त चान्द्रराजनसाम (अन्नसाम) स्वतन्त्ररूप से व्यवहार में नहीं आता, जैसा कि — **'यदा उभौ समागच्छतः, अतैवाख्यायते, नाद्यः'** (शत० ब्रा०) श्रुति से प्रमाणित है। पार्थिवान्नादसामत्रयी तथा सौरान्नादसामत्रयी दोनों का परस्पर अतिमान सम्बन्ध होता है। पार्थिव आग्नेयरथन्तर का सौर आग्नेय बृहत् के साथ, पार्थिववायव्य वैरूप का सौर वायव्य वैराज के साथ तथा पार्थिव आदित्य शाक्वर का सौर आदित्य रैवतसाम के साथ अतिमानसम्बन्ध हो रहा है। सामपर्वों की अन्तरान्तरीभाव से होने वाली पारस्परिक भुक्ति ही सामातिमान है। इसी सामभुक्ति से पार्थिव-सौर रसों का एक दूसरे में आदान-प्रदान हुआ करता है, जो कि पार्थिव–सौर रस विज्ञान भाषा में **'श्येत–नौधस'** नाम से प्रसिद्ध हैं। यही सौर–पार्थिव प्राणदेवताओं का परस्पर आदान–प्रदानात्मक यज्ञसम्बन्ध है, जो कि द्यावापृथिव्य सम्वत्सर-यज्ञ भौमप्रजा की प्रतिष्ठा बन रहा है। जिन आतिवाहिकों का स्वरूप आगे बतलाया जाने वाला है, उनका देवयान-पितृयाण मार्गों से सम्बन्ध है, इन मार्गों का सौर-पार्थिवसामों से सम्बन्ध है, अतएव प्रसङ्गतः इन सामस्वरूपों का दिग्दर्शन करना आवश्यक समझा गया है।

सौरसंस्था विवर्त्तम्	*–सावित्राग्निगर्भितः–मघवेन्द्रप्राणप्रधानः–सूर्य्यपिण्डः (भूमिः)		
	१–सावित्राग्निः→बृहत्साम (ज्योतिर्म्मयम्)→पृथिवी (९)	बृहत्सामात्मिका स्तोम्यत्रिलोकी	–सौरसम्वत्सरः
	२–सावित्रवायुः→वैराजंसाम (गौर्म्मयम्)→अन्तरिक्षम् (१५)		
	३–सावित्रादित्यः→रैवतसाम (आयुर्म्मयम्)→द्यौः (२१)		
पार्थिवसंस्था विवर्त्तं	*–वासवेन्द्रगर्भितः→आङ्गिरसाग्निप्रधानः–भूपिण्डः (भूमिः)		
	१–आङ्गिरसाग्निः→रथन्तरंसाम (वाङ्मयम्)→पृथिवी (९)	रथन्तरसामात्मिका स्तोम्यत्रिलोकी	पार्थिवसम्वत्सरः
	२–आङ्गिरसवायुः→वैरूपंसाम (गौर्म्मयमयम्)→अन्तरिक्षम् (१५)		
	३–आङ्गिरसादित्यः→शाक्वरंसाम (द्यौर्म्मयम्)→द्यौः (२१)		

पार्थिवसामप्रतिकृतिः — रथन्तरसाममण्डलम्

द्यौः
२१

अन्तरिक्षम्
१५

पृथिवी
९

शाक्वरं साम | वैरूपं साम | रथन्तरं साम

भूपिण्डः
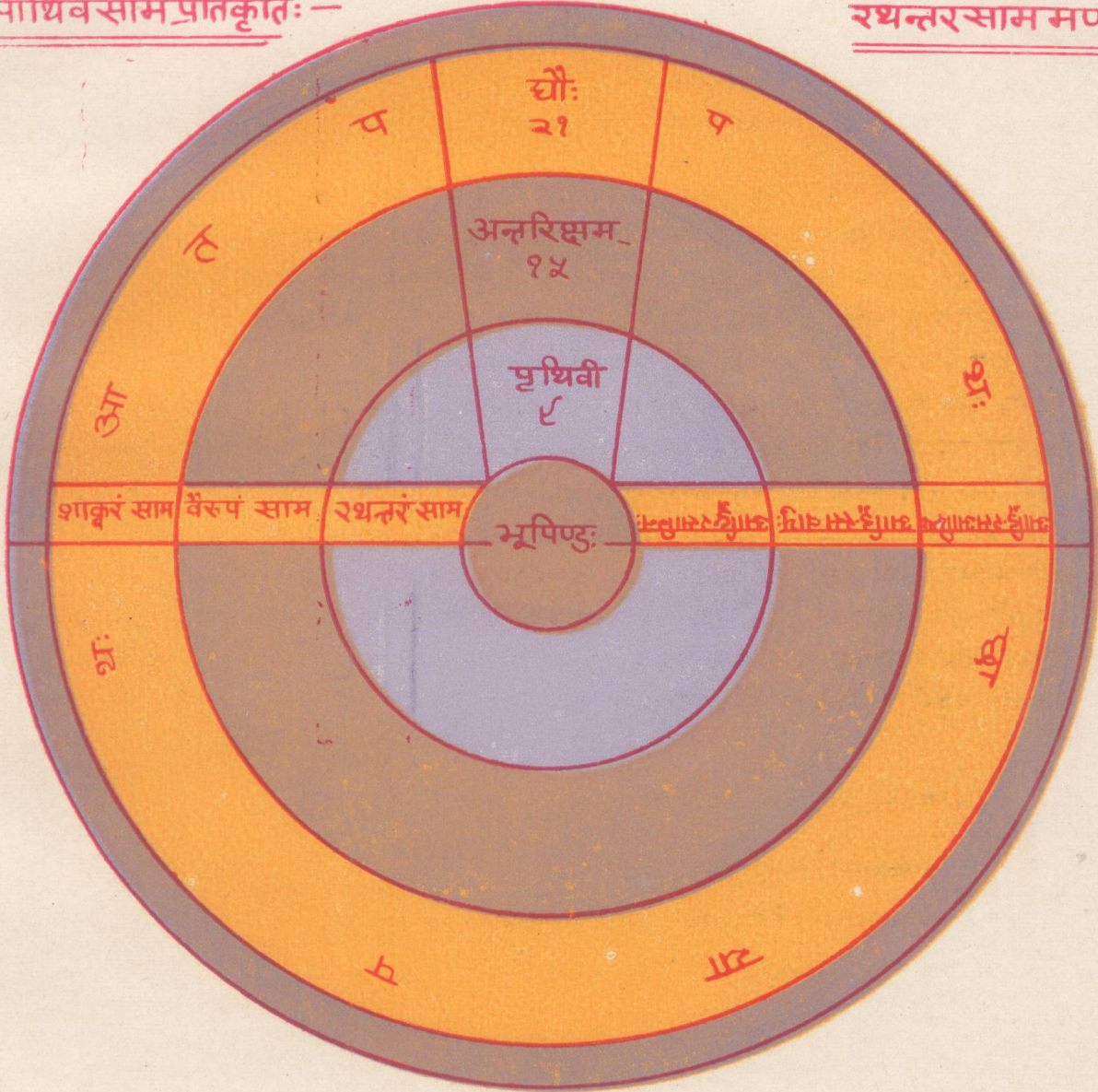
प्राणसोम को रथन्तरसाम कहा जाता है। इस पार्थिवसोम को "रथं—सूर्य्यं—तरति" निर्वचन के कारण ही रथन्तर कहा जाता है। उक्त परिलेख में आङ्गिरस अग्नि के सम्बन्ध से अग्नि—वायु—आदित्य ये तीन पार्थिव विवर्त्त बतलाये गये हैं। इनमें आङ्गिरस अग्निमण्डल की सीमा रथन्तरसाम है। आङ्गिरस वायु (यमवायु) की सीमा वैरूपं साम है। आङ्गिरस आदित्य की सीमा शाक्वरं साम है। इन तीनों की समष्टि को ही पार्थिव सम्वत्सर साम या रथन्तर साम भी कहा जाता है।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय जयपुर।

सौरसामप्रतिकृतिः – बृहत्साम मण्डलम्

रैवतं साम वैराजं साम बृहत् साम सूर्य्यः
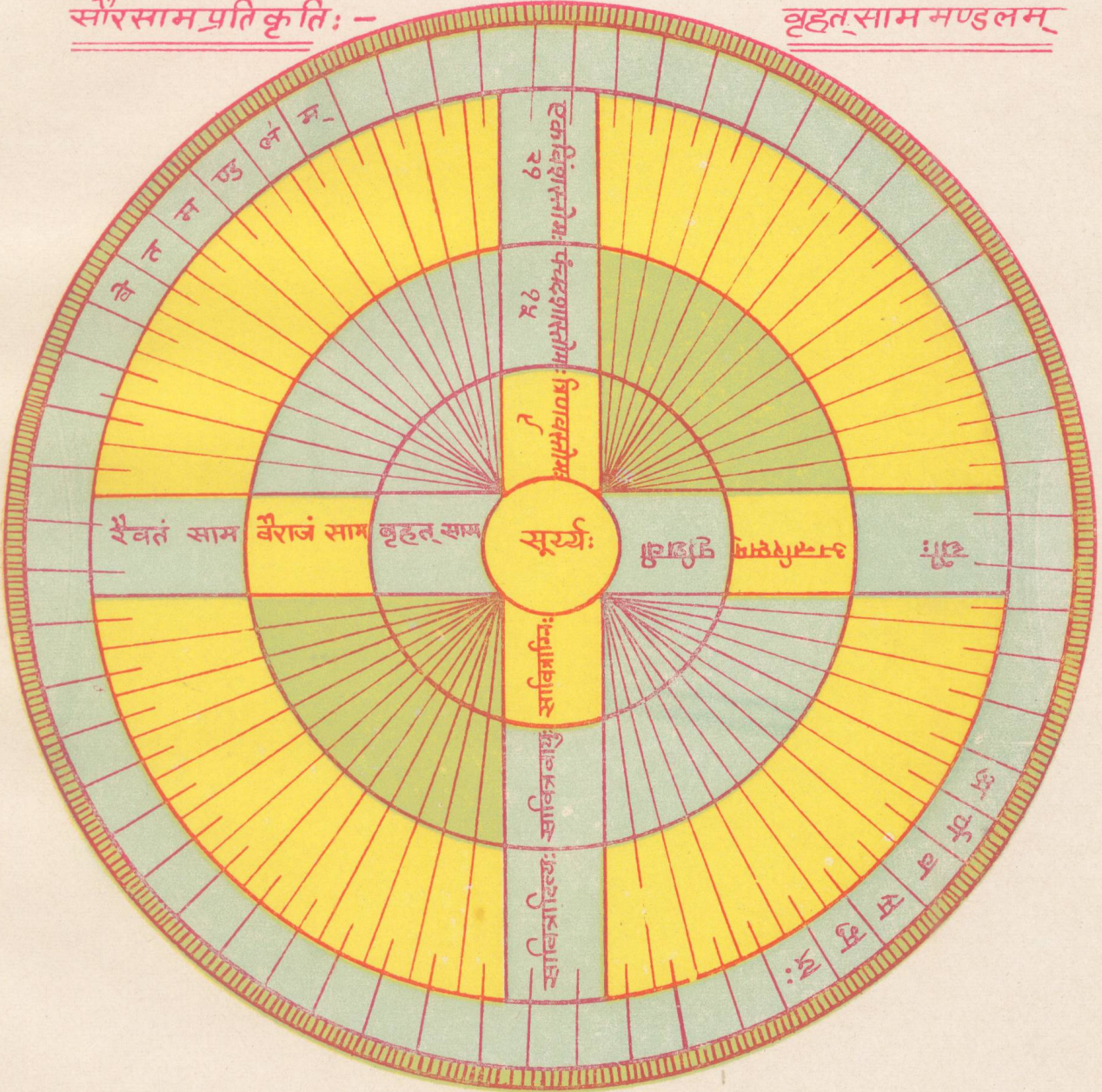
जहाँ तक सौरमण्डल की व्याप्ति है, वहाँ तक सौर इन्द्रप्रधान ज्योतिर्म्मयतत्त्व व्याप्त है। यही व्याप्ति प्राण "बृहत्साम" नाम से प्रसिद्ध है। इसके मण्डल के गर्भ में सावित्राग्नि सम्बन्ध से अग्नि-वायु-आदित्य ये तीन सौरविवर्त्त मुक्त हैं। जहाँ तक सावित्राग्नि व्याप्त है उस मण्डल की अन्तिम सीमा "बृहत्साम" है, सावित्रवायु की सीमा 'वैराजंसाम' है तथा सावित्रादित्य की सीमा 'रैवतंसाम' है। इन तीनों की समिष्टि ही सौरसाम या बृहत्साम मण्डल कहलाता है। उक्त प्रतिकृति में यही स्पष्ट किया गया है।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय जयपुर।

सामपर्वों की अन्तरान्तरी भाव से होने वाली पारस्परिक भुक्ति ही सामतिमान है। इसी साम भुक्ति से पार्थिव–सौर रसों का एक-दूसरे में आदान-प्रदान हुआ करता है, जो कि पार्थिव–सौर रस विज्ञान भाषा में **'श्वैत–नौधस'** नाम से प्रसिद्ध है। उक्त परिलेख से पार्थिवान्नाद सामत्रयी एवं सौरान्नाद सामत्रयी का परस्पर अतिमान सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है।
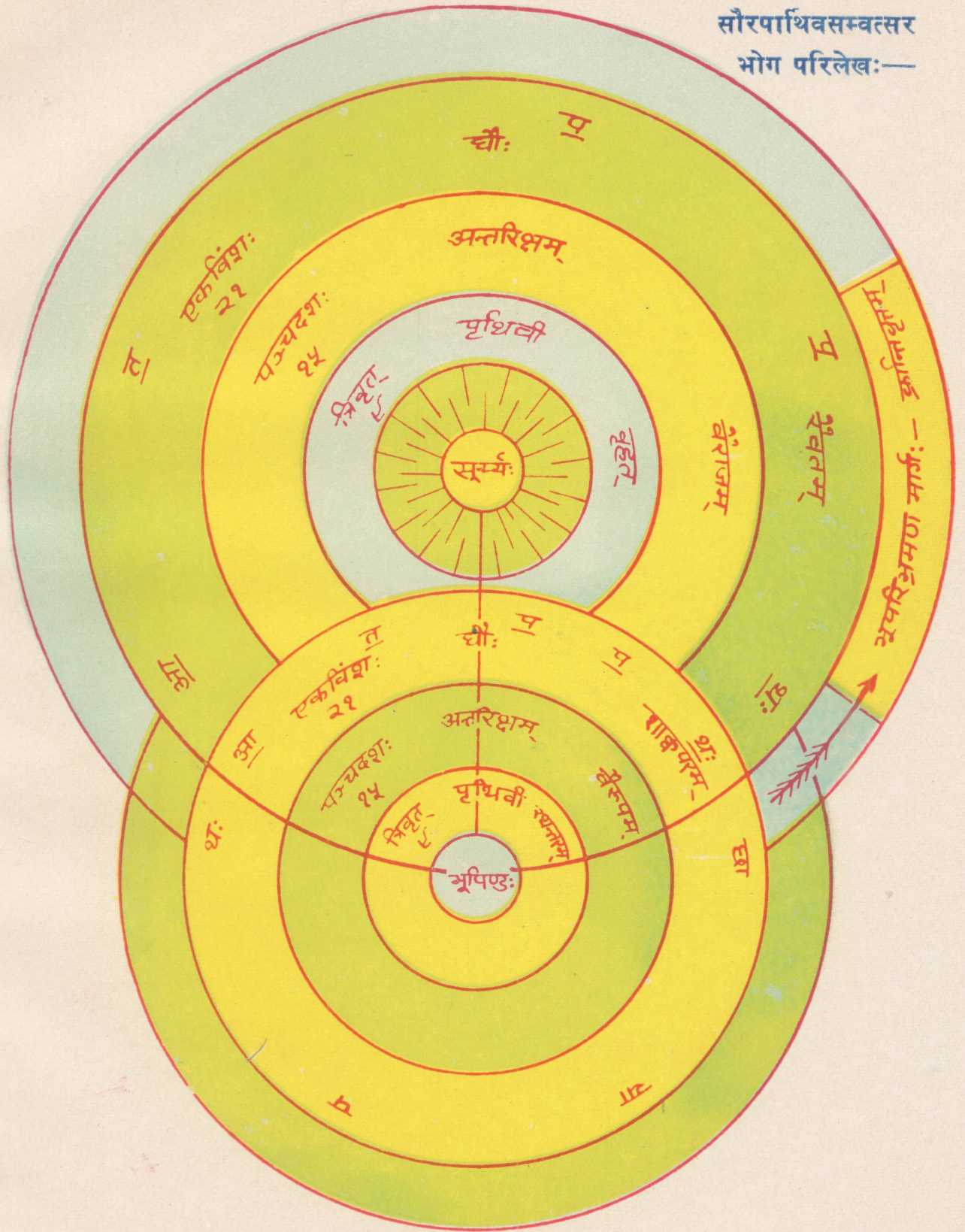
श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय जयपुर।

सौरपार्थिवसम्वत्सर भोग परिलेखः—

पार्थिव आग्नेय रथन्तर का सौर आग्नेय बृहत् के साथ, पार्थिव वायव्य वैरूप का सौर वायव्य वैराज के साथ तथा पार्थिव आदित्य शाक्वर का सौर आदित्य रैवत साम के साथ अतिमान सम्बन्ध हो रहा है। इसी सामातिमान के कारण ही पार्थिव-सौर रसों का एक-दूसरे में आदान–प्रदान होता है।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय, 'मानवाश्रम', जयपुर।

सपरिलेख उक्त विवेचन से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि, आध्यात्मिक संस्था में भुक्त अग्नि-सोम तत्त्व आधिदैविकसंस्था में भुक्त अग्नि–सोम के युग्मभेद से दो-दो अवस्थाओं में परिणत हो जाते हैं। सौरज्योतिर्लक्षण अग्नितत्त्व है, पार्थिव ज्योति परज्योतिर्लक्षण अग्नितत्त्व है। सूर्य्यदिगनुगत चान्द्रसोम ज्योतिर्लक्षणसोम है एवं सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत चान्द्रसोम तमोलक्षण सोम है। ज्योतिर्लक्षणसोम, ज्योतिर्लक्षणसौर तथा पार्थिव अग्नितत्त्व में भुक्त है एवं तमोलक्षणसोम तमोलक्षण सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत पार्थिव छायापथ में भुक्त है। इस विवेचन से यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि, जो ज्योतिर्म्मयसोम सौर–पार्थिव ज्योतिर्लक्षण अग्नितत्त्व में भुक्त है, वह तो आतपपथ (देवयानमार्ग) में ही अन्तर्भूत है, एवं जो तमोमय-सोम तमोलक्षण पार्थिव अग्नितत्त्व में भुक्त है, वह छायापथ (पितृयाणमार्ग) में अन्तर्भूत है। सौरआतपपथ, पार्थिव आतपपथ दोनों की समष्टि (जिनके गर्भ में ज्योतिर्म्मयसोम भुक्त है), देवयानमार्ग है। पार्थिव छायापथ, चान्द्रछायापथ दोनों की समष्टि पितृप्राणमार्ग है। यह स्मरण रखने की बात है कि, सूर्य्य का उत्तर से सम्बन्ध है एवं पृथिवी का दक्षिण से सम्बन्ध है। अदिति–दिति भेद से पृथिवी की दो अवस्था हो जाती हैं। स्तोमत्रयात्मिका ज्योतिर्लक्षण सूर्य्यदिगनुगता पृथिवी अदिति पृथिवी है। चूंकि इस पार्थिव संस्था में उत्तरात्मक सौरज्योति का प्राधान्य है, अतएव इसका भी सूर्य्यवत् उत्तरदिक् में ही अन्तर्भाव हो जाता है। स्तोमत्रयवञ्चिता–तमोलक्षणा–सूर्य्यविरुद्धदिगनुगता पृथिवी दितिपृथिवी है। चूंकि

यह पार्थिवसंस्था भूपिण्डानुगत दक्षिणभाव से युक्त है, अतएव तदनुगतादिक् दक्षिणदिक् ही मानी गई है। इन दोनों पार्थिवसंस्थाओं के मध्य में दोनों का विभाजक वह चित्य भूपिण्ड है, जो क्रान्तिवृत्त पर परिक्रमा लगाता हुआ देवासुर संग्राम का प्रवर्त्तक बन रहा है। अदिति पृथिवी में ज्योतिर्म्मयप्राण देवदेवताओं का साम्राज्य है, दिति पृथिवी में तमोमय प्राणासुर देवताओं का साम्राज्य है। यदि भूपिण्ड अपने क्रान्तिवृत्त पर चन्द्रमा की भाँति स्वाक्षपरिभ्रमण से वञ्चित रहता हुआ साम्वत्सरिकगतिभाव प्रवर्त्तक केवल क्रान्ति-गति का ही अनुगामी होता, तब तो देवासुर प्रतिस्पर्द्धा को अवसर न मिलता। क्योंकि उस दशा में अदिति–दिति संस्थाएँ सर्वथा नियत रहतीं, परन्तु देखते हैं, क्रान्तिगति के साथ-साथ **'यद्भूमिव्यवर्त्तयत्'** सिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड अपनी अक्षगति का भी अनुगामी बना रहता है। इसी स्वाक्षपरिभ्रमण से दैनंदिनगति का स्वरूप निष्पन्न होता है, इसी गति से मानुष अहोरात्र की उत्पत्ति होती है। कभी देव-स्थान (अदिति) को असुर घेर लेते हैं, कभी असुरस्थान पर देवता आक्रमण कर लेते हैं, और इस प्रकार भूपिण्डाधारेण व्यवस्थित आदित्य–दैत्यों में (देवासुरों में) भूपिण्ड के स्वाक्षपरिभ्रमण से प्रतिस्पर्द्धा चलती रहती है। भूपिण्डावच्छेदेन अदिति–दिति भाव परिवर्त्तनशील हैं, यही तात्पर्य्य है। स्वाक्षपरिभ्रम-णावच्छिन्ना भूपिण्डानुगता इसी अस्थिर–विचाली अदिति–दिति के सम्बन्ध से उत्तर–दक्षिणमार्ग भी कुटिलभावात्मक बने रहते हैं, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

श्रुति कहती है कि, स्वाक्षपरिभ्रमण के आधार पर इस प्रकार देवता और असुरों में परस्पर स्पर्द्धा होने लगी। दोनों में अन्ततोगत्वा देवताओं की विजय हुई, असुरों का पराजय हुई। देवताओं की इस विजय का श्रेय मिला एकमात्र अग्नि के दैत्यकर्म्म को। झगड़ा केवल भूपिण्ड के लिए था। असुर चाहते थे, इसका हमारी ओर आगमन हो जाय, देवता कहते थे, इस पर हमारा स्वत्त्वाधिकार हो जाय। दोनों ने अग्नि, सहरक्षा नाम के अपने-अपने दूत भेजे और यह सन्धा (शर्त) की कि, जिसके दूत के साथ भूपिण्ड सौर आवेगा, वह विजेता समझा जायगा, अन्य विजित माना जायगा। परिणाम यह हुआ कि, देवदूत अग्नि की ओर भूपिण्ड लौट आया, देवदेवता विजेता बन गए, असुर देवता पराभूत हो गए। स्वाक्षपरिभ्रमणानुगता दैनंदिनगति के साथ-साथ क्रान्तिपरिभ्रमणानुगता सम्वत्सरगति का कथानकरूप से रहस्योद्घाटन करती हुई श्रुति कहती है—

१—"देवाश्च ह वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। तान्स्पर्द्धमानान् गायत्री अन्तरा तस्थौ। या वै सा गायत्री–आसीत्, इयं वै सा पृथिवी इयं दैवतदन्तरा तस्थौ" (दैनंदिनगतिः)।

२—"त ऽ उभय ऽ एव विदाञ्चक्रुः—यतरान्वै न इयमुपावर्त्स्यति ते भविष्यन्ति, परे तरे भविष्यन्ति (इतरे पराभविष्यन्ति) इति। तामुभयऽएवोपमन्त्रयाञ्चक्रिरे। अग्निरेव देवानां दूत आस, सहरक्षा-

इत्युसुरक्षसमसुराणाम् । सा–अग्निमेवानुप्रेयाय । तस्मादाह–'अग्निं दूतं वृणीमहे' इति । स हि देवानां दूत आसीत्"(सम्वत्सरगतिः*)।

पृथिवी के स्वाक्षपरिभ्रमण से (जो कि भूपिण्ड की अपनी प्रातिस्विकगति है) अहोरात्र का जन्म होता है । पृथिवी की चन्द्रानुगता गति से (जो कि चन्द्रमा की अपनी प्रातिस्विकगति है) शुक्ल-कृष्णपक्ष का जन्म होता है । पृथिवी की सूर्य्यानुगतागति से (जो कि सौर सप्ताहोरात्ररूप सप्तछन्दोऽनुगत क्रान्ति-वृत्त से सम्बद्ध है) उत्तरायण दक्षिणायन का जन्म होता है । अहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायण ये तीन भाव अदितिमूलक हैं । रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन ये तीन भाव दितिमूलक हैं । अहर्मूला अदिति भूपिण्डा-नुगता है, शुक्लपक्षमूला अदिति चन्द्रमानुगता है, उत्तरायणमूला अदिति सूर्य्यानुगता है । रात्रिमूला दिति भूपिण्डानुगता है, कृष्णपक्षमूला दिति चन्द्रमानुगता है, दक्षिणायनमूला अदिति पृथिव्यनुगता है । जिस प्रकार भूपिण्ड, चन्द्रपिण्ड में अदिति–दिति दोनों भावों का भोग है, वैसे सूर्य्यसंस्था में दोनों का भोग न होकर (स्वज्योतिर्भाव से) केवल अदिति का ही भोग है, और यही सूर्य्यमूला स्थिर अदिति मानी गई है। इस स्थिर अदिति का सौर सम्वत्सर में भोग हो रहा है । सम्वत्सरगतिलक्षण क्रान्तिगति के अनुग्रह से ही भूपिण्ड इस सौर स्थिर अदिति से युक्त होता है । सौर अदिति से युक्त हो जाना ही पार्थिव अदिति-गर्भित देवदेवताओं की विजय तथा पार्थिव दितिगर्भित असुरों की पराजय हुई है और इसका श्रेय पूर्वकथनानुसार पार्थिव अदितिमण्डलावच्छिन्न उस प्राणाग्निदूत को है, जो एति–प्रेति भाव से सूर्य्यसंस्था से सम्बद्ध रखता है ।

स्वाक्षपरिभ्रमणमूलागति ही यदि अन्तिम गति होती, तब तो देवासुर प्रतिस्पर्द्धा का कभी अवसान न था । यद्यपि विशुद्ध स्वाक्षगति की दृष्टि से तो आज भी देवासुर प्रतिस्पर्द्धा का अवसान नहीं है, क्यों कि इस गति से भूपिण्ड का जो अर्द्धभाग कभी सूर्य्य-प्रकाश से युक्त होता हुआ अहर्लक्षण (ज्योतिर्लक्षण) देवदेवताओं के अधिकार में रहता है, यही अर्द्धभाग सूर्य्य अर्द्धभाग से वञ्चित होता हुआ तमोलक्षण असुर देवताओं के अधिकार में आ जाता है । **"अहर्वै देवा अश्रयन्त, रात्रिमसुराः** इस श्रुति के अनुसार अहर्म्मण्डलस्थ देवस्थान कभी (रात्रि में) असुरों का साम्राज्य हो जाता है, एवं रात्रिमण्डलस्थ असुरस्थान में कभी (दिन में) देवदेवताओं का साम्राज्य हो जाता है । इस प्रकार भूपिण्डोपलक्षित दिति–अदिति के सम्बन्ध में देवासुर प्रतिस्पर्द्धा शाश्वत हैं, तथापि क्रान्तिवृत्ति की दृष्टि से देवासुर प्रतिस्पर्द्धा में असुरों का पराभव हो रहा है, एवं देवताओं की विजय हो रही है । इस विजय की मूलप्रतिष्ठा है–सूर्य्यमण्डलोप-लक्षिता अदिति । सौर सम्वत्सरमण्डल में तमोमय आसुरप्राण का अभाव है, जिसके गर्भ में पार्थिव अदिति प्रतिष्ठित है । सौरमण्डल इन्द्रप्राण प्रधान है, यह पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। भौमवासवेन्द्र के साथ स्वाक्षपरिभ्रमण द्वारा असुर प्रतिस्पर्द्धा जहाँ स्वाभाविक है, वहाँ सौर मघवेन्द्र के साथ कभी

---

*इस विषय का विशदवैज्ञानिक विवेचन 'शतपथ हिन्दी विज्ञानभाष्य' के **'सामिधेनी रहस्य'** प्रकरण में देखना चाहिए ।

असुर प्रतिस्पर्द्धा सम्भव नहीं है। इसी असपत्न सौर सम्वत्सरावच्छिन्न मघवेन्द्र की शाश्वत विजय का दिग्दर्शन कराते हुए मन्त्रश्रुति ने कहा है—

न त्वं युयुत्से कतमच्च नाहर्त ते ऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति।
मायेत् सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न तु पुरा युयुत्से।।

भूपिण्ड के केन्द्र का सूर्य्यकेन्द्रस्थ इन्द्रप्राण से आकर्षण होता है। निश्चित था कि, यदि केवल भूपिण्ड में यह सौर इन्द्राकर्षण ही होता, तो भूपिण्ड सूर्य्य गोलक में विलीन हो जाता। परन्तु इस सौर आकर्षण के साथ-साथ ही भूपिण्ड स्वयं भी अशयनायामूलक विष्णु देवता के प्रत्याकर्षण में भूपिण्ड जहाँ सूर्य्यविरुद्धदिक् में जाना चाहता है, वहाँ सूर्य्याकर्षण से सूर्य्य में भुक्त होना चाहता है। इन दोनों बलों के समतुलन से न तो भूपिण्ड सूर्य्यगोलक में ही भुक्त होता, न तो सूर्य्यविरुद्धदिक् में ही चला जाता। अपितु सूर्य्य के चारों ओर कुटिलात्मिका बिन्दु से इसकी सर्वत्सरलक्षणा सम्वत्सरगति हो जाती है। यदि भूपिण्ड सूर्य्यगोलक में भुक्त हो जाता, तब तो भौम आसुरप्राण का सर्वथा विनाश था। यदि भूपिण्ड सूर्य्यविरुद्धदिक् में सीधा लोकालोक स्थान में भुक्त हो जाता है, तो पार्थिव देवप्राण का विनाश था। परन्तु इस सम्वत्सरगति से पार्थिव देवप्राण के अधिकार में भूपिण्ड आ जाता है, भौम असुरप्राण का पराजयमात्र होता है।

कहने का तात्पर्य्य यही है कि, सौरसम्वत्सर सूर्य्यमूला स्थिर अदिति है। पार्थिव सम्वत्सरमूला अदिति भी इस सौर सम्वत्सरमूला अदितिगर्भ में प्रतिष्ठित होती हुई तद्रूप बनती हुई स्थिर अदिति बन रही है। इस प्रकार सम्वत्सरगति के अनुग्रह से प्राप्त स्थिर अदितिभाव द्वारा देवताओं की (पार्थिव देवताओं की) विजय हो रही है, पार्थिव असुरों की पराजय हो रही है। वस्तुतत्त्व में भेद नहीं है, केवल दृष्टिकोण में अन्तर है। विशुद्ध स्वाक्षपरिभ्रमण से जब आप पार्थिव अदिति–दिति भावों का विचार करेंगे, तो उस दशा में केवल अहोरात्रचक्र पर आपकी दृष्टि जायगी और इस चक्र में आप देखेंगे कि कभी अदिति स्थान पर असुरों का, कभी दिति स्थान पर देवताओं का आक्रमण हो रहा है। जब आप सौर-सम्वत्सरानुगता क्रान्तिगति पर दृष्टि डालेंगे, तो आपको विदित होगा कि, पार्थिव अदिति में न तो कभी असुरप्राण का प्रवेश ही सम्भव एवं न भूपिण्ड कभी सम्वत्सरचक्र से ही वञ्चित। इसी सम्बन्ध में इस मर्म्मस्थिति को भी लक्ष्य में रखना पड़ेगा, यद्यपि पार्थिव अदितिभाग (पार्थिव सम्वत्सर) सौर अदिति (विशुद्ध आतपपथ) मण्डल में भुक्त होकर विशुद्ध आतपपथ ही है, तथापि भूपिण्ड की साम्वत्सरिकगति से इस पार्थिव अदिति में ऋजु–वक्रभावों का समावेश रहता है। षण्मासात्मक उत्तरायणकाल में जहाँ पार्थिवअदिति सर्वथा ऋजुभाव में परिणत रहती है, षण्मासात्मक दक्षिणायणकाल में यही पार्थिवअदिति सूर्य्य को स्वदक्षिणभाग में लेती हुई वक्रभाव में परिणत हो जाती है। इस ऋजु-वक्रभाव का परिणाम यह होता है कि, आतपपथात्मक देवयान भी दो भावों में परिणत हो जाता है एवं छायापथात्मक पितृयाण भी दो भावों में परिणत हो जाता है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पार्थिव अदिति, सौर अदिति गर्भ में भुक्त होकर असुरप्राणाक्रमण से बहिर्भूत है, यह भी निर्विवाद है

चन्द्रमा के आतपपथ का एक छायापथ भी होता है। इस चान्द्र छायापथ को पितृयाण पन्थान्तर्गत पितृपथ कहते हैं। इस दृष्टि से चान्द्र–पार्थिव–दिति लक्षण सोम-तपोमण्डल भेद से एक ही पितृयाण पन्था के दो विवर्त्त हो जाते हैं। प्रस्तुत परिलेख से स्पष्ट है।

सौर आतपपथ देवयानपन्थान्तर्गत ब्रह्मपथ कहलाता है। इसमें छाया का अभाव होता है। यह मार्ग ब्रह्मतत्त्व के साथ सायुज्य प्राप्ति का निमित होता है। उक्त परिलेख में यही स्पष्ट किया है।
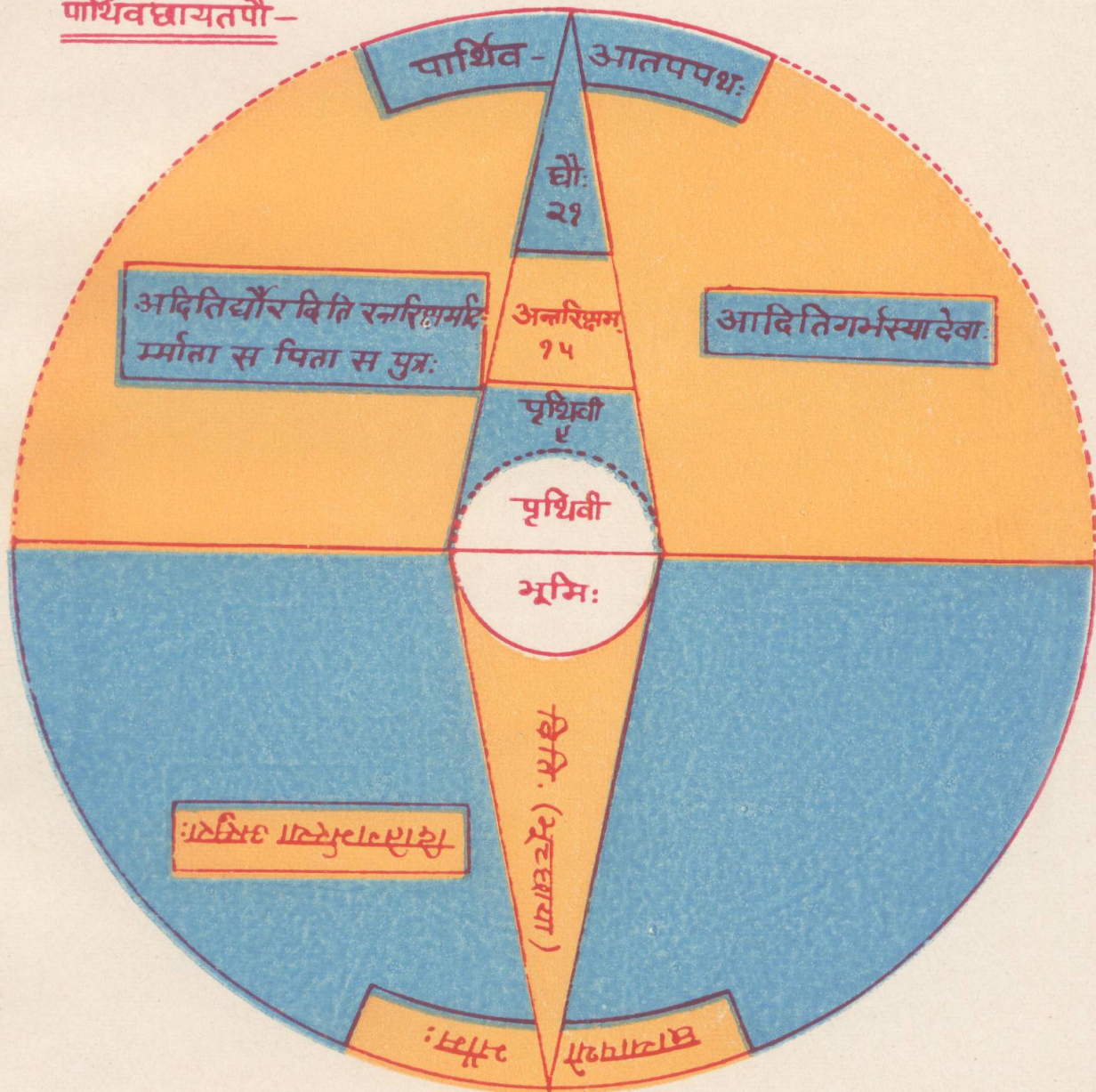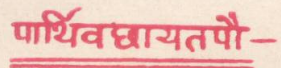
सौर संस्था में सूर्य्य, चन्द्रमा, भूपिण्ड इन तीनों पिण्डों के तीन आतपपथ हैं। इनमें चन्द्रमा और भूपिण्ड के आतपपथों के साथ-साथ छायापथ भी सम्बन्धित हैं। इन दोनों छायापथों में से पार्थिव छायापथ पितृयाणान्तर्गत **यमपथ** कहलाता है। उक्त परिलेख में यही स्पष्ट किया गया है।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय जयपुर।

कि, सौर स्थिर अदितिमण्डल में भुक्त होने से पार्थिव अदिति भी स्थिरधर्म्म से आक्रान्त है, परन्तु अपनी प्रातिस्विकगति से पार्थिव अदिति (पार्थिव आतपपथ) गतिशील ही बन रहा है और इसी पार्थिव अदिति में भूपिण्ड–चन्द्रमा–क्रान्तिवृत्त इन तीन अनुबन्धों से क्रमशः अहोरात्र, शुक्ल–कृष्णपक्ष, उत्तरायण–दक्षिणायन इन विरुद्ध द्वन्द्वों का भोग हो रहा है। उधर सूर्य्यमूला अदिति में केवल अहः शुक्लपक्ष, उत्तरायण इन्हीं तीन भावों का प्राधान्य है। सौरसंस्था में रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन तीनों प्रतिद्वन्द्वियों का एकान्ततः अभाव है।

सूर्य्य, चन्द्रमा, भूपिण्ड इन तीनों के तीन आतपपथ हैं एवं चन्द्रमा तथा भूपिण्ड इन दोनों के साथ आतपपथ के साथ-साथ छायापथ का भी सम्बन्ध है। इस प्रकार तीन आतपपथ हो जाते हैं एवं दो छायापथ हो जाते हैं। इन तीन आतपपथों की समष्टि देवयानः पन्थाः है एवं दो छायापथों की समष्टि पितृयाणः पन्थाः है। तीन आतपपथों में से सौर आतपपथ देवयानपथान्तर्गत **ब्रह्मपथ** है, पार्थिव आतपपथ देवयानान्तर्गत **देवपथ** है। इस दृष्टि से सौर–पार्थिव–अदितिलक्षण अग्निज्योतिर्मण्डल भेद से एक ही देवयानः पन्थाः के दो विवर्त्त हो जाते हैं। तीसरा चान्द्र आतपपथ दोनों पथों में अन्तर्भूत है। तात्पर्य्य, ब्रह्मपथ में भी चान्द्र आतपपथ भुक्त है, एवं देवपथ में भी चान्द्रपथ मुक्त है। इसीलिए तीन आतपपथों के अन्ततोगत्वा दो ही आतपपथ रह जाते हैं। दोनों छायापथों में से चान्द्रछायापथ पितृयाणः पथान्तर्गत **पितृपथ** है एवं पार्थिवछायापथ पितृयाणान्तर्गत **यमपथ** है। इस दृष्टि से चान्द्र–पार्थिवदितिलक्षण सोमतमोमण्डल भेद से एक ही पितृयाणः पन्था के दो विवर्त्त हो जाते हैं। पहले परिलेख द्वारा इन चारों पथों को लक्ष्य बनाइये, अनन्तर आतिवाहिकभावों का समन्वय कीजिए।
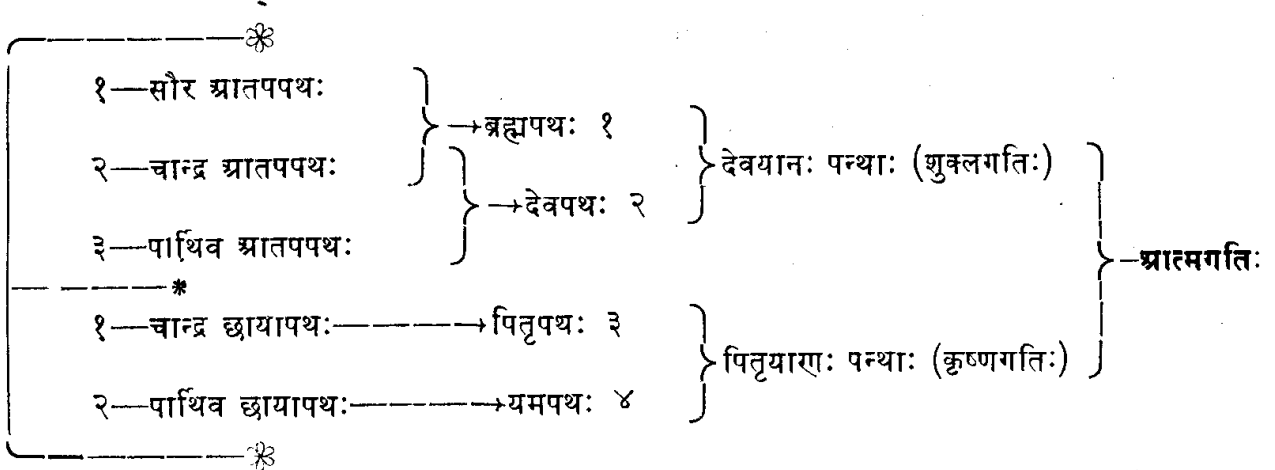
उक्त प्राकृतिक स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए ही आतिवाहिकों का समन्वय करना है। इन आतिवाहिकों के **'तत्वात्मक, कालात्मक'** भेद से दो-दो विवर्त्त हैं। अहः–शुक्लपक्ष–उत्तरायण–सम्वत्सर ये चारों शब्द वस्तुतः ज्योतिर्भाग के वाचक हैं। आगे जाकर तत्वभोगात्मक काल की अहरादि नामों से व्यवहृत होने लगे हैं। अहराग्नि का जितने समय में भोग होता है, वह समय भी ताच्छब्ध–न्याय से अहः

कहलाने लगा है। यही अवस्था पक्ष–उत्तरायण–सम्वत्सर शब्दों में समझिए। एवमेव रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन ये तीनों शब्द सोमतत्त्व के वाचक हैं। आगे जाकर तत्त्वभोगात्मक काल भी रात्र्यादि नामों से व्यवहृत होने लगे हैं। अवश्य ही कालात्मक अहरादि, रात्र्यादि का तत्त्वात्मक अहरादिरात्र्यादि पर विशेष प्रभाव पड़ता है। अतएव तत्तत्कालविशेषों में उत्क्रान्त आत्मा तत्तद्विशेषतत्वात्मक आतिवाहिकों को ही अपनी परलोकगति का निमित्त बनाता है। अब हमें देखना यह है कि, उक्त चार पथों में उत्क्रान्त आत्मा के कौन-कौन पर्व आतिवाहिक बनते हुए आत्मगति के निमित्त बनते हैं ? सर्वप्रथम सौरआतपपथ लक्षण ब्रह्मपथ में भुक्त आतिवाहिकों का विचार कीजिए। यह कहा जा चुका है कि, सौरमण्डल में तम (छाया) का अभाव है। केवल पार्थिव आतपपथ के भुक्ति सम्बन्ध से, दूसरे शब्दों में भूपिण्डावच्छिन्न दैनंदिनगति के, दक्षवृत्तानुगता चान्द्रगति (पाक्षिकगति) के, तथा क्रान्तिवृत्तानुगता साम्वत्सरिकगति के सम्बन्ध में सौर आतपपथ में अहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, सम्वत्सर ये चार पर्व हो जाते हैं। अहोरात्र, शुक्ल–कृष्णपक्ष, उत्तरायण–दक्षिणायन इन द्वन्द्वभावों का वहीं समन्वय सम्भव है, जहाँ छाया का प्रवेश सम्भव हो। सौरसम्वत्सरमण्डल जब कि विशुद्धज्योतिर्म्मय है, तो इसमें रात्र्यादि का समन्वय कैसे सम्भव है। वस्तुतस्तु इन सौर पर्वो को केवल 'अहः' शब्द से ही व्यवहृत करना चाहिए। पक्षादिपर्व नाम तो आपेक्षिक हैं। स्वयं अपने प्रातिस्विक ज्योतिर्भागापेक्षया तो सौर ज्योतिर्म्मण्डल तथा तद्भोगकाल 'अहः' है, जैसा कि—'**स्वहर्देवाः सूर्य्यः**' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। अतएव वषट्कारमण्डल '**अहर्गण-मण्डल**' नाम से ही व्यवहृत हुआ है। सौर आतपपथ भुक्त पर्वों के अतिरिक्त आध्यात्मिक अग्निज्योति भी आतिवाहिक बनता है। शारीर अग्निज्योति ही '**अर्चि**' नामक पहला आतिवाहिक पर्व है। उत्क्रान्त आत्मा पहले इसी आतिवाहिकपर्व में आता है, अनन्तर अहःपर्व में, अनन्तर पक्षपर्व में, अनन्तर चन्द्रपर्व में, अनन्तर उत्तरायणपर्व में, अनन्तर सम्वत्सर पर्व में पहुँचता है। कहा जा चुका है कि, चान्द्रआतपपथ अन्तर्भुक्त है। सपिण्डताप्रवर्त्तक महानात्मा के साथ सम्बद्ध इस उत्क्रान्त कर्म्मात्मा को एक बार अर्चिः–अहः–पक्ष द्वारा पहले चान्द्र आतपपथ में आना पड़ता है, यहाँ से उत्तरायणपर्व का अनुगामी बनना पड़ता है। चूंकि आतपपथात्मक चान्द्रपर्व का अन्नात्मकत्वेन शुक्लपक्षात्मक सौरपर्व में अन्तर्भाव है, अतएव इसका श्रुति में पृथक्रूप से (चान्द्रपर्वरूप से) ग्रहण नहीं हुआ है। सम्वत्सरानन्तर स्वयं सूर्य्यकेन्द्र आतिवाहिक बनता है, यही आदित्य नाम से प्रसिद्ध है। इस आतिवाहिक के द्वारा उत्क्रान्त आत्मा इस क्रमगति से ब्रह्मलोक में पहुँचकर सायुज्यमुक्ति नामक अपरामुक्ति का पात्र बन जाता है। इस प्रकार ब्रह्मपथानुगता मुक्तिगति में **अर्चिः**, **अहः**, **शुक्लपक्षः**, **चान्द्रआतपपथः**, **षण्मासा–उत्तरायणम्**, **सम्वत्सरः सूर्य्यः**, ये सात आतिवाहिकपर्व हो जाते हैं।

अब इस ब्रह्मपथ के सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, सौर आतपपथात्मक इस देवयानः पन्था को 'ब्रह्मपथ' क्यों कहा गया ? यद्यपि लोकनिरुक्ति–परिच्छेद में इन पथों का वैज्ञानिक विश्लेषण होने वाला है, तथापि सन्दर्भसङ्गति के लिए यहाँ भी दो शब्दों में प्रकृत प्रश्न का समाधान कर दिया जाता है। उत्क्रान्त प्रेतात्मा इस ब्रह्मपथात्मक देवयानमार्ग से अर्चिरादि आतिवाहिकों पर क्रमशः आरूढ होता हुआ अन्ततोगत्वा ब्रह्मलोक में पहुँच जाता है। चूंकि यह मार्ग ब्रह्मतत्त्व के साथ सायुज्यप्राप्ति का निमित्त

है, अतएव इसे 'ब्रह्मपथ' कहना अन्वर्थ बनता है। साथ ही 'ब्रह्म' नामक तत्त्व विशेष के साथ सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करने वाले उत्क्रान्त आत्मा की यह आत्मगति का 'ब्रह्मगति' नाम से व्यवहृत होना भी चरितार्थ बनता है। 'आज्ञाचक्र' सिद्धा, सुषुम्णा-नाड्यनुगता यही आत्मगति **'स यावत् क्षिप्येत मनस्तावदादित्यमुपगच्छति'** (छां०उ० ८।६।५) इस सामश्रुति को चरितार्थ बना रही है। तत्त्वविशेषात्मक उस 'ब्रह्म' का क्या स्वरूप है ? इस सम्बन्ध में भी दो अक्षर कह देना अप्रासङ्गिक न होगा—

आत्मन्वी प्रजापति को सामान्यरूप से **"निधर्म्मक, सर्वधर्म्मोपपन्न, सावरण"** इन तीन संस्थाओं में विभक्त माना जा सकता है। सर्वव्यापक, अन्यत्र धर्म्माऽधर्म्मात्, अन्यत्र कृताऽकृतात्, अन्यत्र भूताद्भव्यात् अखण्ड तत्त्व ही निर्धर्म्मक प्रजापति है, जिसका आत्मन्वी लक्षण प्रजापतित्त्व शेष दोनों संस्थाओं के समन्वय पर निर्भर है। ज्ञान-क्रिया-अर्थमूर्त्ति, अतएव सर्वज्ञ (ज्ञान), सर्वशक्ति (क्रिया), सर्ववित् (अर्थ) नाम से प्रसिद्ध महामायात्मक महाविश्वलक्षण महाशरीरावच्छिन्न महापुरुष ही सर्वधर्म्मोपपन्न प्रजापति है। सप्तदशराश्यवच्छिन्न, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, अल्पवित्, योगमाया क्षुद्रशरीरलक्षण क्षुद्रशरीरावच्छिन्न पुरुष (प्राणी) ही सावरणप्रजापति है। सर्वबलविशिष्टमूर्त्तिपरात्परब्रह्म ही निर्धर्म्म विश्वातीतब्रह्म है, एवं विशुद्ध अव्यय भी मायापुर से अतीत रहता हुआ तदभिन्न है। अक्षर-क्षर विशिष्ट महामायावच्छिन्न अव्ययपुरुष ही सर्वधर्म्मोपन्न विश्वचर ब्रह्म है। अव्यय-क्षरविशिष्ट योगमायावच्छिन्न अक्षरपुरुष ही सावरण विश्वब्रह्म है। इसी से यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि विशुद्ध अव्यय निर्धर्म्मक है, सोपाधिक अव्यय ईश्वर है, सोपाधिकअक्षर जीव है। इस सोपाधिक जीवब्रह्म में ही क्षरधर्म्मों का प्राधान्य है। इन्हीं क्षरधर्म्मों के समावेश से यह अपनी वास्तविक अखण्ड ब्रह्मविभूति से वञ्चित रहता हुआ कर्म्माश्वत्थवृक्ष का आश्रय लेता हुआ इतस्ततः भटकता रहता है। कर्म्माश्वत्थानुगता आत्मगति के चक्र में परिभ्रममाण यह जीवात्मा जिस दिन ब्रह्माश्वत्थ प्रतिष्ठा का अनुगामी बन जाता है, उस दिन जन्म-मृत्यु द्वन्द्व का उच्छेद हो जाता है। ब्रह्माश्वत्थ से सम्बन्ध रखने वाली गति ही ब्रह्मगति है एवं स्वयं ब्रह्माश्वत्थ ही 'ब्रह्म' हैं।

भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः (जनत्), तपः, सत्यं ये सातों लोक ब्रह्माश्वत्थ में भुक्त हैं। सप्तलोकात्मिका यही बल्शा विज्ञानभाषा में **'पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यबल्शा'** नाम से प्रसिद्ध है। महामायावच्छिन्न उस एक महापुरुष के मायिक केन्द्र से ऐसी-ऐसी सहस्र धाराओं का विनिर्गम हुआ है, जिन सहस्रबल्शाओं में से केवल एक बल्शा ही एक बल्शागर्भित प्राणियों का सर्वस्व है। बल्शा का हृदयावच्छिन्न भाग ही 'ब्रह्म' है, यही सातवाँ सत्यलोक है। इसी सत्यब्रह्म की दृष्टि से सहस्रबल्शात्मक सर्वधर्म्मोपपन्न सगुणेश्वर 'ब्रह्मश्वत्थ' कहलाया है। वृक्ष इव स्तब्ध इस ब्रह्माश्वत्थ की एक बल्शा में स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी ये पाँच प्रधान पुण्डीर (पर्व-पोर) है, अतएव इस बल्शा (टहनी) को 'पञ्चपुण्डीरा' कहना अन्वर्थ बनता है। पृथिवी भूः है, सूर्य्य स्वः है, चान्द्र अन्तरिक्ष स्वः है, परमेष्ठी जनत् है, सूर्य्य-परमेष्ठी का मध्यस्थान महः है, स्वयम्भू सत्य है, स्वयम्भू-परमेष्ठी का मध्यस्थान तपः है। इस दृष्टि से एक बल्शा में सप्तलोक उपभुक्त हैं। चन्द्रमा भूपिण्ड के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है, भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर, सूर्य्य परमेष्ठी के चारों ओर तथा परमेष्ठी स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है। स्वयं स्वयम्भू स्थिर है, यहाँ आकर उक्त हृत्प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में गतिधर्म्म उच्छिन्न हो जाता है। सातों

लोकों में भूरादि ६ लोक गति सम्बन्ध से **'षळिमा' रजांसि'** हैं, सातवाँ सत्य स्वयम्भू **'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'** (शत० ६।१।१।६) के अनुसार प्रतिष्ठालक्षण स्थिर **'परोरजा'** है। इस स्थिर परोरजा के आधार पर इतर छओं रज आलम्बित हैं, जैसा कि निम्नलिखित मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है—

१—तिस्रोमातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम् ।।

(ऋक्०सं० १।१६४।१०) ।

२—अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्यरूपे किमपि स्विदेकम् ।।

(ऋक् सं०१।१६४।६) ।

उत्तरायणमार्ग द्वारा सूर्य्यलोक का भेदन कर सत्यब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाना ही ब्रह्मपथानुगता ब्रह्मगति है, जिसे 'अपरामुक्ति' भी कहा गया है। सत्यस्वयम्भू वस्तुतः प्राकृत विवर्त्त है, अतएव इसमें समवलय का अभाव है। अतएव इसे 'अपरामुक्ति' कहना अन्वर्थ बनता है। सूर्य्य भेदन के अनन्तर क्रमशः पारमेष्ठ्य, स्वायम्भुव ये दो लोक आते हैं। पारमेष्ठ्यलोकगति जहाँ **'अपुनर्मार'** तथा **'कामप्र'** नामों से व्यवहृत हुआ है, वहाँ स्वायम्भुवलोकगति **'अशोकमहिम'** नाम से प्रसिद्ध हुई है। मृत्युप्रवर्त्तक सूर्य्य की सीमा से बाहर (ऊर्ध्व) जन्म–मृत्यु का अभाव है, इसलिए तो सूर्य्योर्ध्वलोक **'यत्रगत्वा न पुर्नम्रियते'** निर्वचन से 'अपुनर्मार' कहलाया है एवं इस लोक में **'यं यं कामयते, तं तमाप्नोति'** न्याय से पारमेष्ठ्य-लोकावाप्ति के अनन्तर आत्मा यथाकाम, यथाचार बन जाता है, अतएव 'कामपु' लोक कहना अन्वर्थ बनता है। स्वायम्भुवब्रह्मलोक स्वःपद बनता हुआ भूमभाव परिणति का कारण बन दुःखासंभिन्न है, अतएव इसे 'अशोकमहिम' कहना अन्वर्थ बनता है, जैसा कि निम्नलिखित वचनों से प्रमाणित है ।

१—यन्न दुःखेन सम्भिन्नं यच्च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनोतञ्च तत् पदं स्वः पदास्पदम् ।।

२—"तद्वा एतत् परमं धाम-यत्र न सूर्यस्तपति, यत्र न वायुर्वाति, यत्र न चन्द्रमा भाति, यत्र न नक्षत्राणि भान्ति, यत्र नाग्निर्दहति, यत्र न मृत्युः प्रविशति, यत्र न दुःखम् । सदानन्दं, शान्तं, सदाशिवं, ब्रह्मादिवन्दितं, योगिध्येयं, परमं पदम् । यत्र गत्वा न निवर्त्तन्ते योगिनः"

(नृ०पू०उ० ५।८) ।

३—"स तत्र विजिहीते, यथा दुन्दुभेः खम्। तेन स ऊर्ध्व आक्रमते, स लोकमागच्छति-अशोकमहिमम्। तस्मिन् वसति शाश्वतीः समाः।"
(बृ०आ०उ० ५।१०।१)
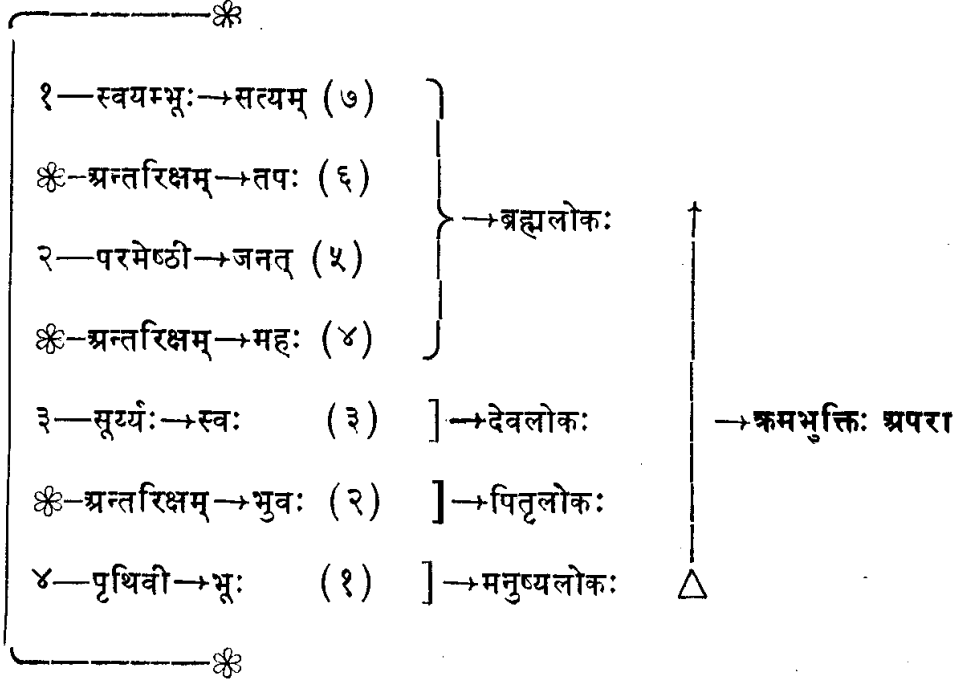
सूर्य्योर्ध्व ब्रह्मगति है, तदनुगतमार्ग ब्रह्मपथ है, यही उक्त कथन का निष्कर्ष है। इस ब्रह्मपथानुगता ब्रह्मगति में १९ आतिवाहिक उत्क्रान्त आत्मा का वहन करते हैं। शारीराग्निमण्डल पहला आतिवाहिक है। जैसा कि प्रकरणारम्भ में स्पष्ट कर दिया गया है, आध्यात्मिक आग्नेयमण्डल ही पहला **'अर्चि'** नामक आतिवाहिक है। ज्ञानविधूतपाप्माओं का यह बहिर्म्मण्डल ज्योतिर्म्मय बनता है। उत्क्रान्त आत्मा सर्वप्रथम इसी आध्यात्मिक अर्चिर्लक्षण बहिर्म्मण्डल में कुछ क्षणों तक ठहरता है। अनन्तर **'अहर्भाग'** में प्रतिष्ठित रहता है। अहर्भाग से **'शुक्लपक्ष'** को अपना आतिवाहिक बनाता है। यहाँ से **'चान्द्रछायापथ'** का अनुगामी बनता है। अनन्तर षण्मासात्मक **'उत्तरायण'** को आलम्बन बनाता है। तदनन्तर देवप्राण-घन **'सम्वत्सर'** चक्र आतिवाहिक बनता है। अनन्तर स्वयं **'सूर्य्यकेन्द्र'** आतिवाहिक बनता है।

सूर्य्य से आगे क्रमशः ब्रह्मणस्पति नामक पारमेष्ठ्य **चन्द्रमा**, बृहस्पति नामक **अङ्गिरोऽग्नि**, **शिव-वायु**, (साम्बसदाशिव), आप्य **वरुण**, अङ्गिरात्म **आदित्य**, विद्युल्लक्षण **इन्द्र**, स्वेदवेदात्मक अथर्वप्रजापति, ये सात पारमेष्ठ्य तत्त्व आतिवाहिक बनते हैं। अनन्तर **सूत्रात्मा, वेदात्मा, अन्तर्य्यामी** ये तीन स्वायुम्भुव तत्त्व आतिवाहिक बनते हैं। इनमें तीसरे अन्तर्य्यामी आतिवाहिक के **प्रज्ञा, प्राण, सत्य** ये तीन विवर्त्त हैं। ब्रह्मलोक प्राप्त आत्मा आरम्भ में प्रज्ञात्मक रहता है, अनन्तर प्राणात्मक बनता हुआ सर्वान्ति में सत्यरूप परिणत हो जाता है। यही अपरामुक्ति का अन्तिम अवसान है। इस प्रकार ब्रह्मपथानुगता ब्रह्मगति के सम्भूय एकोनविंशति (१९) आतिवाहिक हो जाते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

ब्रह्मपथातिवाहिक परिलेखः—

ब्रह्मपथः । देवपथः । देवयानः । उत्तरमार्गः । शुक्लमार्गः । प्रकाशमार्गः । अर्चिमार्गः । ब्रह्ममार्गः

			क्रम		संख्या			
अमानवः — पुरुषः	अ	अशोकमहिम	५	सत्यम् (चित्)	१९	स्वयम्भूः ५	↑	ब्रह्म ४
			४	प्राणः (प्राणाः)	१८			
			३	प्रज्ञा (चित्–प्राण–सोमः)	१७			
			२	वेदात्मा (त्रयीब्रह्म)	१६			
			१	सूत्रात्मा (ऋतसत्यात्मा)	१५		△	
	ध्यो श्री अः	कामप्रः	७	प्रजापतिः (अथर्वः)	१४	परमेष्ठी ७	↑	विद्युत् ३
			६	इन्द्रः (विद्युत्)	१३			
			५	आदित्यः (अङ्गिराः)	१२			
			४	वरुणः (आप्यः)	११			
			३	वायुः (साम्बसदाशिवः)	१०			
			२	अग्निः (बृहस्पतिः)	९			
			१	चन्द्रः (ब्रह्मणस्पतिः)	८		△	
देवलोकः			१	सूर्य्यः (हृदयम्)	७	सूर्य्यः १	↑ △	
मानवाः	विल्पात्मा अ.		५	सम्वत्सरः (उख्याग्निः)	६	पृथिवी ५	↑	वायुः २
			४	उत्तराः षण्मासाः (देवाग्निः)	५			
			३	चन्द्रमाः (चान्द्रआतपपथः)	४			
			२	शुक्लपक्षः (पूर्णमासाग्निः)	३			
			१	अहः (अग्निहोत्राग्निः)	२		△	
मनुष्यलोकः			१	अर्चिः (मण्डलाग्निः)	१	भूः १	↑	
			*	अग्निः (शारीराग्निः)	*	भू० *		अग्निः १

देवयानपथान्तर्गत ब्रह्मपथ से सम्बन्ध रखने वाली आत्मगति में पुनरावर्त्तन का अभाव है, यह कहा जा चुका है। देवयानपथान्तर्गत देवपथ से सम्बन्ध रखने वाली आत्मगति तथा पितृयाणपथानुगत पितृपथ एवं यमपथ से सम्बन्ध रखने वाली आत्मगतियों में पुनरावर्त्तन है। देवपथ के आतिवाहिक क्रमशः **"अर्चि, अहः, शुक्लपक्ष, चान्द्रआतपपथ, षण्मासात्मक उत्तरायण, सम्वत्सर"** ये विवर्त्त बनते हैं। यावत् पुण्यातिशय सौरसम्वत्सरात्मक देवलोक में प्रतिष्ठित होकर पुण्यातिशय क्षीण होने के अनन्तर पुनः आत्मा का भूपिण्ड की ओर अवरोहण हो जाता है। सौरसम्वत्सरपर्य्यन्त जाकर वापस लौट आना देवगति है, सौरसम्वत्सर का भेदन कर ब्रह्मलोक में चले जाना ब्रह्मगति है।

पितृपथ का शारीरतमोलक्षण सोम से सम्बन्ध है। इस गति के अनुगामी आत्मा को पहले कुछ समय के लिए स्वधूममण्डल में रहना पड़ता है। अनन्तर रात्रि में, अनन्तर कृष्णपक्ष में, अनन्तर षण्मासात्मक दक्षिणायन में जाना पड़ता है। सर्वान्त में चान्द्र छायापथ द्वारा चान्द्रआतपपथ में यावत् पुण्यातिशय प्रतिष्ठित रहना पड़ता है। पुण्यातिशय क्षीण हो जाने पर पुनः इसे उक्त अवरोह क्रम का आश्रय लेना पड़ता है। यमपथ का शारीरतमोलक्षण सोम से ही सम्बन्ध है एवं इस गति के आतिवाहिक भी वे ही हैं, जो कि पितृगति के आतिवाहिक है। दोनों में अन्तर केवल चान्द्रआतिवाहिक में हैं। पितृगति में चान्द्रछायापथ द्वारा चान्द्रआतपपथ की प्राप्ति होती है, यमगति में चान्द्रआतपपथ का आत्यन्तिक अभाव है। यहाँ विशुद्ध तम का साम्राज्य है। अतएव इस यमगति को दुर्गति कहा जाता है। सुप्रसिद्ध चतुरशीति (८४) नरकगतियों का इस गति में अन्तर्भाव है, जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाने वाला है।

देवलोक से पुनरावृत्ति हो, अथवा पितृलोक से, अथवा तो यमलोक से, पहले इस पुनरावृत्तिलक्षणा आगति में चन्द्रमा ही आतिवाहिक बनता है। चान्द्रश्रद्धारस में परिणत इसकी आदित्याग्नि में आहुति होती है, सोमभाव उदित हो जाता है। सोमभावात्मक आत्मा की पर्जन्याग्नि में आहुति होती है, इससे यह वृष्टिभाव में परिणत हो जाता है। वृष्टिभावात्मक आत्मा की पार्थिवाग्नि में आहुति होती है, इससे यह अन्नरूप में परिणत हो जाता है। अन्नभावात्मक आत्मा की पुरुषाग्नि में आहुति होती है, इससे यह रेतोरूप में परिणत हो जाता है। रेतोभावात्मक आत्मा की योषिदग्नि में आहुति होती है, इससे यह गर्भरूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार—**"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"** इस सामश्रुति के अनुसार पुनरावर्त्तन में इस प्रेतात्मा के क्रमशः **"चन्द्रमा, आकाश, वायु, वृष्टि, पृथिवी, अन्न, पुरुष, रेत, योषित्, गर्भ"** ये १० आतिवाहिक बनते हैं। मनु सम्बन्ध से ही यह मानवावर्त्त कहलाया है। देवपथ, पितृपथ, यमपथ तीनों गतियों में मनुसम्बन्ध सुरक्षित रहता है। अतएव तद्गतियुक्त प्रेतपुरुष मानवपुरुष कहलाया है।

विद्या और कर्म्म ये दो विवर्त्त ही देवयान, पितृयाणपथों के नियामक माने गए हैं। विद्यासमुच्चित कर्म्म 'विद्या' है, विद्यानिरपेक्षकर्म्म 'कर्म्म' है। विद्यात्मक कर्म्म देवयानगति का नियामक है, विद्यानिरपेक्षकर्म्म पितृयाणगति का नियामक है। विद्यासापेक्ष निवृत्तिकर्म्म, विद्यानिरपेक्षकर्म्म, लौकिकनिवृत्तिकर्म्म इन तीनों से ब्रह्मपथानुगत आतिवाहिकों की प्राप्ति होती हैं, अतएव इन आतिवाहिकों को देवयानपथान्तर्गत

'ब्रह्मपथ' कहा जा सकता है। विद्यासापेक्ष प्रवृत्तिकर्म्म देवपथानुगत आतिवाहिकों के निमित्त बनते हैं, अतएव इन आतिवाहकों को देवयानपथान्तर्गत **'देवपथ'** कहा जा सकता है। विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिकर्म्म पितृपथानुगत आतिवाहिकों के निमित्त बनते हैं, अतएव इन्हें पितृयाणपथान्तर्गत **'पितृपथ'** कहा जा सकता है। स्वार्थकर्म्म, विरुद्धकर्म्म, निरर्थककर्म्म ये तीनों कर्म्म यमपथानुगत आतिवाहिकों के निमित्त बनते हैं अतएव इन्हें पितृयाणः पथान्तर्गत **'यमपथ'** कहा जा सकता है। इस प्रकार प्रक्रान्त परिभाषानुसार आतिवाहिकों में भी चारों पथों का समन्वय हो रहा है।

ब्रह्मपथ के जिन एकोनविंशति आतिवाहिकों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, छान्दोग्य ने उनका आठ अतिवाहिकों में अन्तर्भाव मान लिया है। देवपथ के अर्चि, अहः, शुक्लपक्ष, षडुत्तरमास, सम्वत्सर, आदित्य ये छः आतिवाहिक, सातवाँ ब्रह्मणस्पति चन्द्रमा, आठवाँ विद्युत, इस प्रकार आठ ही में सब का अन्तर्भाव है। सूत्र, वेद, प्रज्ञा, प्राण, सत्य ये पाँचों स्वायम्भुव आतिवाहिक स्वयं गन्तव्य 'ब्रह्म' से सम्बन्ध रखते हैं। इसी दृष्टि से इन्हें स्वतन्त्र आतिवाहिक नहीं माना गया। अग्नि, वायु, वरुण, आदित्य (अङ्गिरा), इन्द्र, प्रजापति ये पारमेष्ठ्य आतिवाहिक 'विद्युत' में अन्तर्भूत है। ब्रह्मणस्पति चन्द्रमा साध्य है। इस दृष्टि से **अर्चि, अहः, शुक्लपक्ष, षडुत्तरमास, सम्वत्सर, आदित्य (सूर्य्य), चन्द्रमा, विद्युत**, ये आठ आतिवाहिक ब्रह्मपथ हैं। **अर्चि, अहः, शुक्लपक्ष, षडुत्तरमास, सम्वत्सर, आदित्य, चन्द्रमा,** (भू उपग्रह) ये सात आतिवाहिक देवपथ हैं। धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, षड्दक्षिणमास, पितृलोक (चन्द्र-आतपपथ), आकाश, चन्द्रमा ये सात आतिवाहिक पितृपथ हैं, यहाँ सम्वत्सर का अभाव है। क्योंकि भू-चन्द्रछायात्मक दितिलक्षण पितृपथ अदितिलक्षण सम्वत्सर चक्र से बहिर्भूत है, जैसा कि पूर्व परिलेखों से स्पष्ट किया जा चुका है। यमपथात्मक आतिवाहिकों के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य यही है कि यहाँ और तो सब आतिवाहिक पितृपथ से समतुलित हैं, केवल चान्द्रआतपपथ का इस गति में अभाव है। पितृपथ में जहाँ चान्द्रच्छाया द्वारा चान्द्रआतपपथ रूप पितृस्वर्गावाप्ति होती है, वहाँ यमपथ में चान्द्रच्छाया मात्र पर विश्राम होकर ही पुनरावर्त्तन हो जाता है।

ब्रह्म, देव, पितृ, यम, पथों के अतिरिक्त 'अगति' लक्षण दो गतियाँ और हैं। ब्रह्मगति क्रमभुक्ति है, देवगति देवस्वर्गभुक्ति है, पितृगति पितृस्वर्गावाप्ति है, यमगति नरकावाप्ति है। एक गति ऐसी है, जिसमें भूमा अथवा तो अणिमा के द्वारा यहीं समवलय हो जाता है। यही भूमोदर्क क्षीणोदर्कलक्षण परा-मुक्ति कहलाई है, जिसका कि दिग्दर्शन आगे कराया जाने वाला है। विशुद्धबुद्धियोग ही इस अगति–गति लक्षणा समवलयगति का निमित्त है। परमोत्तमा इस अगति के प्रतिद्वन्द्व में एक नितान्त निकृष्ट अगति और है। घोर-घोरतम दुष्कर्म्म करने वालों का आत्मा छायापथ पर आरूढ होने में भी असमर्थ रह जाता है। ऐसे आत्मा **'जायस्व–म्रियस्व'** के अनुसार उनका इसी भूपृष्ठ पर जन्म-मरण हुआ करता है। इन दोनों अगति–गतियों में चूंकि लोकान्तर गमन का अभाव है, अतएव इनके सम्बन्ध में आतिवाहिकों का भी अभाव ही सिद्ध हो जाता है। निम्नलिखित वचनों से उक्त ६ गतिविवर्त्त प्रमाणित है—

१	❀	❀—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, इहैव समवनीयन्ते ।"	→ अगतिः (परमोत्तमा)	
२	१	१—"ये चे मे ऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति, अर्चिषोऽह्नः, आपूर्यमाणपक्षं, मासान्, सम्वत्सरम्, आदित्यं, चन्द्रमसं, विद्युतम् । तत्पुरुषोऽमानवः । स एनान्—ब्रह्म गमयति ।"	ब्रह्मगति (उत्तमगति)	१ देवयानः पन्थाः
३	२	२—"ये चे मे ऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते, ते अर्चिषमभिसम्भवन्ति, अर्चिषोऽह्नः, आपूर्यमाणपक्षं, मासान्, सम्वत्सरम् (तत्पुरुषो मानवः) एष देवयानः पन्थाः" (१)	देवगतिः (सद्गतिः)	
४	३	१—"अथ य इमे ग्रामे—इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते, ते धूममभिसम्भवन्ति । धूमाद्रात्रिं, अपरपक्षम् । यान् षड्दक्षिणैतिमासांस्तान् । नैतेसम्वत्सरमभिप्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृलोकं, आकाशं, चन्द्रमसम् ।"	पितृगतिः (सुगतिः)	२ पितृयाणः पन्थाः
५	४	२—"अथ य इमे ग्रामे, ते धूममभिसम्भवन्ति, धूमाद्रात्रिं, अपरपक्षं, मासान्" (एष पितृयाणः पन्थाः) (२)	यमगतिः (दुर्गतिः)	
६	❀	❀—"अथैतयोः पथोर्नकतरेण च न—तानीमनि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति-जायस्वम्रियस्वेति । एतत् तृतीयं स्थानम् । तेनासौलोको न सम्पूर्यते । तस्माज्जुगुप्सेत"	→ अगतिः (निकृष्ट)	

पुनरावर्त्त-आतिवाहिकाः

"तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते-यथेतमाकाशम् । आकाशाद्वायुं, वायुर्भूत्वा धूमोभवति, धूमोभूत्वाऽभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघोभूत्वा प्रवर्षति । त इह व्रीहि-यवाः, औषधि-वनस्पतयः, तिल-माषाः इति जायन्ते । अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति, यो रेतः सिञ्चति, तद्भूय एव भवति । तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्-ब्राह्मणयोनिं वा, क्षत्रिययोनिं वा, वैश्ययोनिं वा । अथ य इह कपूयचरणाः अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्—श्वयोनिं वा, सूकर योनिं वा, चाण्डालयोनिं वा ।"

१ विद्यासमुच्चितकर्म्मानुगताः—ज्योतिर्म्मयाः—आतिवाहिकाः→देवयानः पन्थाः
२ विद्यानिरपेक्षकर्म्मानुगताः—तमोमयाः—आतिवाहिकाः——→पितृयाणः पन्थाः
१
१ विद्यासमुच्चितप्रवृत्तकर्म्मानुगताः—ज्योतिर्म्मयाः—अर्चिरहः शुक्लपक्षोत्तरायणमाससम्वत्सररूपाः—आतिवाहिकाः
→देवयानान्तर्गतो 'देवपथः' १ (देवस्वर्गगतिनिमित्तभूतः)।
२
२ विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तकर्म्मानुगताः—ज्योतिराभासाः—धूमरात्रि कृष्णपक्ष दक्षिणमासपितृलोकचन्द्ररूपाः—आतिवाहिकाः
→पितृयाणान्तर्गतोः 'पितृपथः' २ (पितृस्वर्गनिमित्तभूतः)।
३
१ विद्यासापेक्षनिवृत्तिसत्कर्म्मानुगता
२ विद्यानिरपेक्षनिवृत्तिसत्कर्म्मानुगता
३ लौकिकनिवृत्तिसत्कर्म्मानुगता
ज्योतिर्लक्षणाः—सत्य—प्रज्ञा—प्राण—वेद—
सूत्र—प्रजापति-इन्द्र—आदित्य-वरुण—वायु-
अग्नि-चन्द्र-सूर्य्य-सम्वत्सर-उत्तरषण्मास-
चन्द्रमा—शुक्लपक्ष-अहः—अर्चिरूपाः
आतिवाहिकाः→देवयानन्तर्गतो—'ब्रह्मपथः' ३
(क्रममुक्तिगतिनिमित्तः)
४
१ लौकिकनिरर्थककर्म्मानुगताः
२ लौकिकविरुद्धकर्म्मानुगताः
३ लौकिकस्वार्थकर्म्मानुगताः
धूम—रात्रि—कृष्णपक्ष—दक्षिणायनमास—
चान्द्रछायापथरूपाः—तमोमयाः
आतिवाहिकाः→पितृयाणान्तर्गतो—'यमपथः' ४
(नरकगतिनिमित्तभूतः)

प्रकारान्तरेण तालिका संग्रहः—

विद्यासमुच्चितप्रवृत्तिकर्म्मानुगः विद्यामार्गः (१)		विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिकर्म्मानुगः कर्म्ममार्गः (२)		मानवौपुरुषौ
देवपथः प्रवृत्तिप्रधानः	पुनरावृत्तिः	पितृपथः प्रवृत्तिप्रधानः	पुनरावृत्तिः	'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसोभवन्ति ।'
सम्वत्सरः (देवयानः)	१ चन्द्रः	चन्द्रः	१ चन्द्रः	
उत्तरमासाः (उत्तरमार्गः)	२ आकाशः	पितृलोकः (पितृयाणः)	२ आकाशः	
शुक्लपक्षः (शुक्लमार्गः)	३ वायुः	दक्षिणमासाः (दक्षिणमार्गः)	३ वायुः	
अहः (प्रकाशमार्गः)	४ वृष्टिः	कृष्णपक्षः (कृष्णमार्गः)	४ वृष्टिः	१—आपः श्रद्धा दिवि गत्वा सोमो भवति २—सोमः पर्जन्ये गत्वा वृष्टिर्भवति ३—वृष्टिः पृथिव्यां गत्वा अन्नं भवति ४—अन्नं पुरुषे गत्वा रेतो भवति ५—रेतो योषिति गत्वा पुरुषो भवति
अर्चिः (ज्योतिमार्ग)	५ पृथिवी	रात्रिः (तमोमार्गः)	५ पृथिवी	
आरोहः	६ अन्नं	धूमः (धूममार्गः)	६ अन्नं	
	७ पुरुषे		७ पुरुषे	
	८ रेतः	आरोहः	८ रेतः	
	९ योषिति		९ योषिति	
	१० गर्भः		१० गर्भः	
	अवरोहः		अवरोहः	

बुद्धियोगमार्गः	विद्यामार्गः	कर्म्ममार्गः	लौकिकमार्गः	आगमनमार्गः	छान्दोग्यनिष्कर्षः
आतिवाहिकाः ब्रह्मपथः	आतिवाहिकाः देवपथः	आतिवाहिकाः पितृपथः	आतिवाहिकाः यमपथः	क्षीणेपुण्येमर्त्य-लोकेवसन्ति	
अपुनरावृत्तिमार्गः	पुनरावृत्तिमार्गः	पुनरावृत्तिमार्गः	पुनरावृत्तिमार्गः	पुनरावृत्तिमार्गः	(१) ब्रह्मपथः कथितोऽसावर्चिरहः शुक्लपक्षषण्मासान् । सम्वत्सरमादित्यं चन्द्रमथोऽग्निवायुवरुणेन्द्रान् ॥
सत्यः १ प्राणः २ प्रज्ञा ३ वेदाः ४ सूत्रम् ५ } ब्रह्म—स्वयम्भूः	सम्वत्सरः उत्तराःषण्मासाः चन्द्रमाः शुक्लःपक्षः अहः अर्चिः	चन्द्रमाः आकाशः पितृलोकः दक्षिणाःषण्मासाः कृष्णपक्षः रात्रिः धूमः	चान्द्रछायापथः आकाशः पितृलोकः दक्षिणाःषण्मासाः कृष्णपक्षः रात्रिः धूमः	चन्द्रमा आकाशः वायुः धूमः अभ्रम् मेघः वृष्टिः अन्नम् रेतः पुरुषः योषित् गर्भः	(२) प्राजापत्यं प्रज्ञां प्राणं सत्यं प्रयाति मुक्तोऽसौ । मानवमिममावर्त्तं नावर्त्तत इति स विद्यामार्गः ॥
प्र०प० ६ इन्द्रः ७ आदि. ८ वरुणः ९ वायुः १० अग्निः ११ ब्र.स्प. १२ } परमेष्ठी—प्रजापतिः	अग्निः (ज्योतिः)	सोमः (तमः)	सोमः (तमः)		(३) धूमनिशापरपक्षान् दक्षिणमासांश्च पितृलोकमाकाशम् । चन्द्रं पुनराकाशं वायुं धूमाभ्रमेघवृष्ट्यन्नम् ॥
सूर्य्यः १३] सूर्य्यः					(४) रेतः पुरुष इतीयं पुनरावृत्तिर्वर्त्तते यत्र । सोऽयं दक्षिणमार्गः पितृयाणः कर्मणा भवति ॥
सम्व. १४ उ.मा. १५ चन्द्र. १६ शु.प १७ अहः १८ अर्चिः १९ } पृथिवी				भूः	
अग्नि(ज्यो.)] भूः					
अग्निगतिः—शुक्लगतिः देवयानः पन्थाः		सोमगतिः—कृष्णगतिः पितृयाणः पन्थाः		आगतिः	

ब्रह्मपथः—अपरामुक्तिः—अमानवः पुरुषः
सत्यः, प्राणः, प्रज्ञा
वेदात्मा, सूत्रात्मा
→स्वयम्भूः
→ब्रह्म
प्रजापतिलोक-
इन्द्रलोकः
वरुणलोकः
वायुलोकः
अग्निलोकः
सोमलोकः
→परमेष्ठी
→विद्युत्
सूर्य्यलोकः
→सूर्य्यः
सम्वत्सरः
मासाः
शुक्लपक्षः
अहः
अर्चिः
→पृथिवी
→वायुः
अग्निः
→भूः
→अग्निः
"ब्रह्मलोके प्रथमं प्रज्ञा भवति ।
ततः स प्राणो भवति ।
ततः सः सत्यं भवति ।"
"देवाश्च, प्राणाश्च, ततोऽन्येचसर्वेऽप्यर्थाः सत्यं नाम । सत्यं ब्रह्म,
तदयं सम्पद्यते । ब्रह्मभूतः—न स पुनरावर्त्तते" इत्याहुः कौषीतकिनः ।

विद्यया—देवलोकावाप्तिः	कर्म्मणा—पितृलोकावाप्तिः
ब्रह्मपथः। देवपथः। देवयानः। उत्तरमार्गः। शुक्लमार्गः। प्रकाशमार्गः। अर्चिमार्गः। ब्रह्ममार्गः।	कर्म्मपथः। पितृपथः। पितृयाणः। दक्षिणमार्गः कृष्णमार्गः। तमोमार्गः। धूममार्गः— कर्म्ममार्गः।

अमानवः पुरुषः	अशोकलोकः	ब्रह्मलोकः	१९	सत्यम्	↑
			१८	प्राणः	
			१७	प्रज्ञा	
			१६	वेदात्मा	
			१५	सूत्रात्मा	△
		विद्युत्	१४	प्रजापतिः	↑
			१३	इन्द्रः	
			१२	आदित्यः	
			११	वरुणः	
			१०	वायुः	
			९	अग्निः	
			८	सोमः	△
मानवावर्तः	च.लो.	चन्द्रः	७	चन्द्रमाः	↑
	आ.लो.	आदि.	६	सूर्य्यः	
	वायुलोकः	वायुः	५	सम्वत्सरः	
			४	उ० मासा	
			३	शुक्लपक्षः	
			२	अहः	
			१	अर्चिः	△
❀	अ.लो.	अग्निः	❀	अग्निः	❀

७	चन्द्रमाः	↑	१—चन्द्रमाः—श्रद्धाः
६	आकाशः		२—आकाशः—द्यौः
५	पितृलोकः		३—वायुः ४—धूमः } →सोमः
४	द० मासा		५—अभ्रम् ६—मेघः } →पर्जन्यः
३	कृष्णपक्षः		७—वृष्टिः (पृथिव्याम्)
२	रात्रिः		८—अन्नम् (पुरुषे)
१	धूमः	△	९—रेतः (योषिति)
❀	सोमः	❀	१०—गर्भः (पुरुषः)

आतिवाहिकपरिशिष्टः—

देवयान, पितृयाण मार्गों से सम्बन्ध रखने वाले ब्रह्मपथ–देवपथ–पितृपथ–यमपथरूप चारों आतिवाहिकों का स्वरूप यद्यपि पूर्व सन्दर्भ से गतार्थ है, तथापि अभी इस सम्बन्ध में दो एक विप्रतियाँ ऐसी बच रहती हैं, जिनका समाधान करना आवश्यक हो जाता है। उसी परिशिष्ट प्रश्न समाधान के लिए प्रस्तुत सन्दर्भ आवश्यक समझा गया है। देवयान तथा पितृयाणमार्गों की जिस भूपिण्ड से अनुगति होती है, वह भूपिण्ड यदि स्थिर होता, तब तो ये मार्ग सदा सर्वदा नियतभाव के ही अनुगामी बने रहते। परन्तु भूपिण्ड के स्वाक्षपरिभ्रमण से तथा क्रान्तिपरिभ्रमण से भूपिण्ड से सम्बद्ध इन दोनों मार्गों में ऋजु–कुटिलभावों का समावेश हो जाता है। अवश्य ही अहोरात्र, शुक्ल–कृष्णपक्ष, उत्तर–दक्षिणायन, कालविशेषों में उत्क्रान्त आत्मा की परलोकगतियों में भी कालानुगत विशेष भावों का भी समावेश रहता है। सर्वप्रथम देवयानमार्ग से सम्बन्ध रखने वाले ऋजु–कुटिलभावों का ही दिग्दर्शन कराया जाता है।

"भूपिण्ड से ऊर्ध्व सूर्य्य, सूर्य्य से ऊर्ध्व परमेष्ठी, परमेष्ठी से ऊर्ध्व स्वयम्भू ब्रह्म प्रतिष्ठित हैं" इस पर्वस्थिति सिद्धान्त के सम्बन्ध में जब हम दिक्–क्रम का विचार करने लगते हैं, तो हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, इन पर्वों की स्थिति दक्षिणा-दिक् को उपक्रम बना कर प्रतिष्ठित है। भूपिण्डदक्षिण में प्रतिष्ठित है, इससे उत्तर सूर्य्य प्रतिष्ठित है, सूर्य्य से उत्तर परमेष्ठी विष्णु प्रतिष्ठित है। जिस स्थान पर आज उत्तरध्रुव प्रतिष्ठित हैं, ठीक इससे उत्तर पारमेष्ठ्य विष्णु की सत्ता मानी गई है। इसी विष्णुतत्त्व से 'कदम्ब' नामक 'नाक' स्थान का सम्बन्ध है, जिसके चारों ओर २५ सहस्र वर्ष में ध्रुव एक परिक्रमा समाप्त कर लेता है। जिस प्रकार विश्वद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र ध्रुव नाम से प्रसिद्ध है, एवमेव क्रान्तिवृत्तीयपृष्ठकेन्द्र कदम्ब नाम से प्रसिद्ध है। इसका तात्पर्य्य यही है कि, खगोलीय मध्यस्थ विष्वद्वृत्त का भूपिण्ड से सम्बन्ध है, एवं खगोलीय क्रान्तिवृत्त का (जिस पर भूपिण्ड की साम्वत्सरिक गति प्रतिष्ठित है) सूर्य्य से सम्बन्ध है। विष्वद्वृत्तपृष्ठ की प्रत्येक बिन्दु से उत्तर ध्रुव ठीक ९० अंश पर है एवं क्रान्तिवृत्तपृष्ठ को प्रत्येक बिन्दु से कदम्ब ठीक ९० अंश पर है। विष्वत् तथा क्रान्ति का अन्तर २४ अंश का माना गया है। फलतः विष्वत्पृष्ठकेन्द्रभूत ध्रुव तथा क्रान्तिपृष्ठकेन्द्रभूत कदम्ब, दोनों हृद्स्थानों का अन्तर भी २४ अंश का ही हो जाता है। २४ अंश के व्यासार्ध से ध्रुव इस कदम्ब के चारों ओर परिक्रमा लगाया करता हैं। कदम्ब स्थान ही विष्णुपर है, जो कि उत्तर में प्रतिष्ठित है। निम्नलिखित मन्त्रश्रुति इसी कदम्ब का स्पष्टीकरण कर रही है—

"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षु राततम्।"

अस्तु इन सब विषयों का अगले प्रकरण में विस्तार से स्पष्टीकरण होने वाला है। प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यही वक्तव्य है कि, अग्निदेवतावच्छिन्न भूपिण्ड दक्षिण में प्रतिष्ठित है एवं इन्द्रप्राणघन सूर्य्य भूपिण्ड से उत्तर, विष्णुप्राणघन परमेष्ठी सूर्य्य से उत्तर तथा ब्रह्मप्राणघन स्वयम्भू परमेष्ठी से उत्तर

में प्रतिष्ठित है। इस दक्षिणोत्तर दिक् की अपेक्षा देवयानपथान्तर्गत ब्रह्मपथ से सम्बन्ध रखने वाले अर्चि–अहः–शुक्लपक्ष–उत्तरायण–सम्वत्सर–सूर्य्य–ब्रह्मणस्पति–अग्नि–वायु–वरुणादि परिगणित एकोनविंशति आतिवाहिक सर्वथा ऋजुमार्ग से सम्बद्ध हैं। इन ऋजुभावापन्न आतिवाहिकों से सम्बन्ध रखने वाला ब्रह्मपथात्मक देवयानमार्ग ही (आत्मगत्यपेक्षया) ऋजुदेवयानमार्ग है। भूपिण्ड का दक्षिणायन सूर्य्य का उत्तरायण है। सूर्य्योत्तरायणकाल ही वास्तविक उत्तरायणकाल है। इस उत्तरायणकाल में उत्तरदिक् का अनुगामी बनता हुआ तत्समतुलित परमेष्ठी–स्वयम्भू का ऋजुभावेन ग्राहक बना रहता है। यही कारण है कि, जिन पुण्यात्माओं का आत्मा उत्तरायणकाल में शरीर छोड़ता है, उनका आत्मा उक्त ऋजुभावापन्न देवयानमार्ग का आश्रय लेता हुआ ब्रह्मपथ का अनुगामी बनता है। इस मार्ग में भूलोक–सूर्य्य–परमेष्ठी–स्वयम्भू चारों समान रेखा से समतुलित हैं। एकमात्र इसी दृष्टि से ब्रह्मपथात्मक यह मार्ग ऋजुदेवयान मार्ग कहलाया है। उत्तरायणकाल में उत्क्रान्त आत्मा इसी देवयान का अनुगामी बनता हुआ छायापथादि की प्रतीक्षा न कर सीधा ब्रह्मलोक में चला जाता है। एकमात्र इसी आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि, उत्तरायणादि काल गतियाँ भी अवश्य ही गति विशेषों की निमित्त बनती हैं। शरशय्यासीन भीष्मपितामह ने इसीलिए उत्तरायणकाल की प्रतीक्षा की थी। यदि दक्षिणायनकाल में, उसमें भी रात्रि में, कृष्णपक्ष में किसी ऐसे आत्मा का उत्क्रान्त होता है, जो कि निवृत्तकर्म्मबल से ब्रह्मपथ का अधिकारी है, तो अवश्यमेव उसे अहः–शुक्लपक्ष–उत्तरायण कालागमन की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। तब तक उसकी ऊर्ध्वगति अवरुद्ध रहती है। ठीक इसके विपरीत जिस ब्रह्मपथाधिकारी का आत्मा अहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायण में उत्क्रान्त होता है, वह आत्मा बिना प्रतीक्षा के ऋजुदेवयानमार्ग का आश्रय लेता हुआ बिना प्रतीक्षा के सीधा ब्रह्मलोक में चला जाता है। वरविशेषों से भीष्मादि की भाँति जो 'मृत्यु' पर अपना अधिकार कर लेते हैं, उनका आत्मा मृत्युकाल आने पर भी शरीर से उत्क्रान्त नहीं होने पाता। यदि दक्षिणायनकाल नियत है, तो वे तत्कालपर्य्यन्त मृत्यु का निरोध करने में समर्थ हो जाते हैं। जब अहः–शुक्लपक्ष–उत्तरायणरूप अनुकूल समय आता है, तभी भीष्मादि की भाँति उनका आत्मा उत्क्रान्त होता है। जिनका मृत्यु पर अधिकार नहीं है, और ऐसे ब्रह्मपथाधिकारियों का आत्मा यदि रात्रि–कृष्णपक्ष–दक्षिणायन में उत्क्रान्त हो जाता है, तो अवश्यमेव इन्हें अहः–शुक्लपक्ष–उत्तरायण की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। परिलेख द्वारा ऋजुदेवयानमार्ग का स्वरूप भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है।

दक्षिणायनकाल के सम्बन्ध से पूर्वप्रदर्शित देवयानमार्ग कुटिलभाव में परिणत हो जाता है। यही देवयानपथान्तर्गत देवपथ है। भूपिण्ड का उत्तरायण ही सूर्य्य का दक्षिणायन है एवं यही वास्तविक दक्षिणायनकाल है। उत्तरायण में जहाँ सूर्य्य पृथिवी से उत्तर तथा पृथिवी सूर्य्य से दक्षिण में प्रतिष्ठित रहती है, वहाँ दक्षिणायनकाल में भूपिण्ड सूर्य्य से उत्तर में आ जाता है, एवं सूर्य्य भूपिण्ड से दक्षिण में आ जाता है। यही अवस्था अहः–शुक्लपक्ष की समझिए। अहः, शुक्लपक्षात्मक आतपपथ भूपिण्ड से उत्तर में रहते हैं एवं रात्रि–कृष्णपक्षात्मक छायापथ भूपिण्ड से दक्षिण में रहते हैं। फलतः उत्तरायणकाल में अहः–शुक्लपक्ष–उत्तरायण तीनों ऋजुभाव में परिणत रहते हुए ऋजुदेवयान के साधक बन जाते हैं एवं दक्षिणायनकाल में अहः–शुक्लपक्ष–उत्तरायण तीनों सूर्य्य विरुद्ध स्थिति से कुटिलभाव में परिणत होते हुए कुटिल देवयान के साधक बन जाते हैं। विद्यासमुच्चित प्रवृत्तिकर्म्म करने वाले इसी कुटिल देवयान-

ऋजुदेवयान मार्ग परिलेखः-

ऋजु भावापन्न आतिवाहिकों से सम्बन्ध रखने वाला ब्रह्मपन्थात्मक देवयानमार्ग ही (आत्मगत्यपेक्षया) ऋजु देवयानमार्ग हैं। परिलेखानुसार भूलोक–सूर्य्य–परमेष्ठी–स्वयम्भू चारों समान रेखाओं से समतुलित है। इसी दृष्टि से यह मार्ग ऋजुदेवयान मार्ग कहलाता है। उत्तरायणकाल में उत्क्रान्त आत्मा इसी मार्ग का अनुगामी बनता हुआ सीधा ब्रह्मलोक में चला जाता है।
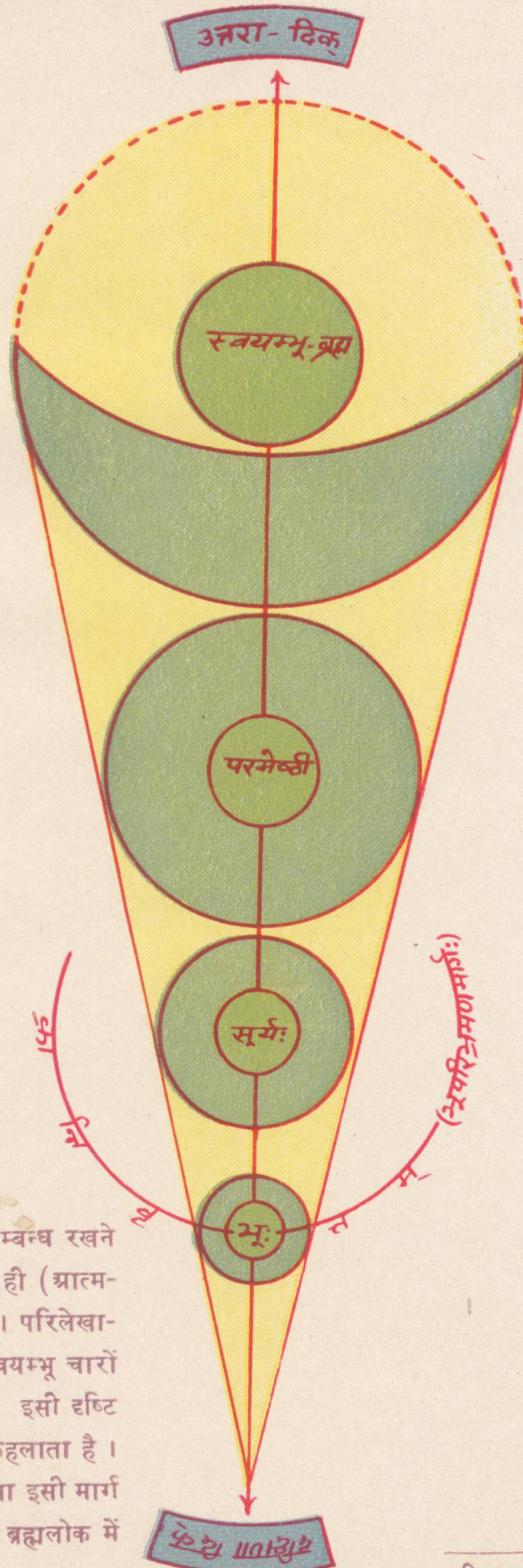
कुटिलदेवयानपरिलेखः –
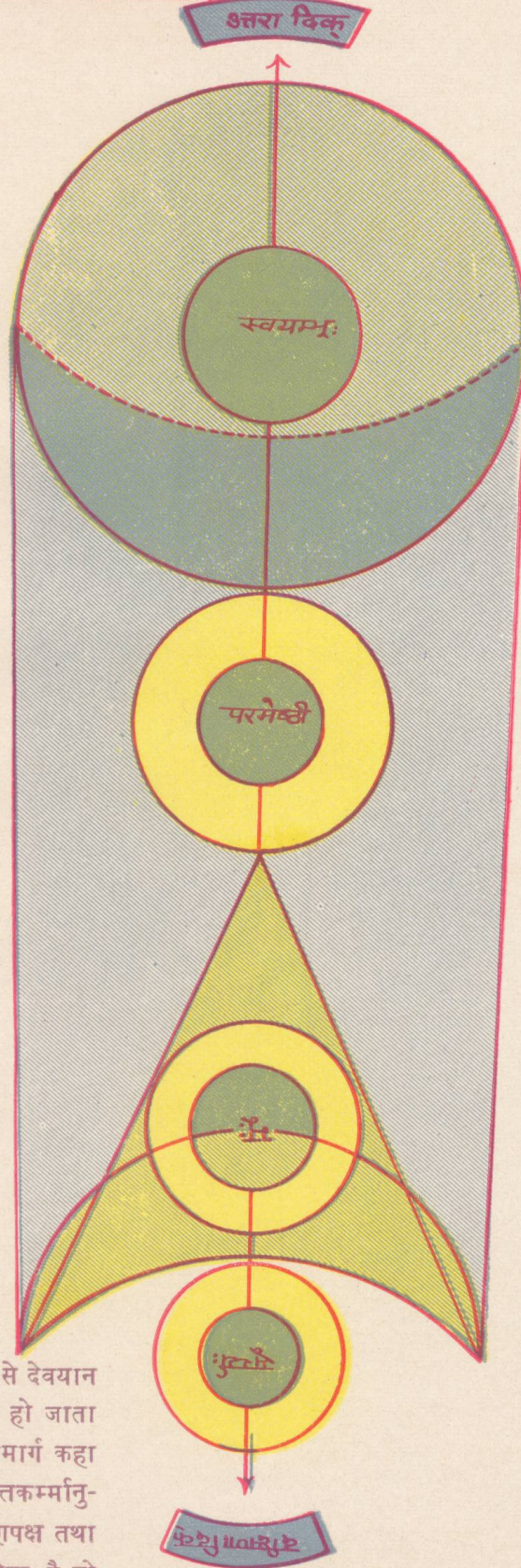
दक्षिणायन काल के सम्बन्ध से देवयान मार्ग कुटिलभाव में परिणत हो जाता है। इसे ही कुटिल देवयानमार्ग कहा जाता है। यदि किसी 'निवृत्तकर्म्मानु-यायी' का आत्मा रात्रि-कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन में उत्क्रान्त होता है तो सर्वप्रथम उक्त उत्क्रान्त आत्मा को यही कुटिल देवयानमार्ग प्राप्त होता है।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय जयपुर।

मार्ग का आश्रय लेते हैं। मान लीजिए एक व्यक्ति का आत्मा दक्षिणायनकाल में कृष्णपक्ष की रात्रि में (आयुः सूत्र समाप्ति से) उत्क्रान्त हो जाता है। इसके पास विद्यासमुच्चित प्रवृत्तिलक्षण वह संस्कार सम्पत्ति सुरक्षित है, जो देवयानपथान्तर्गत देवपथगति का निमित्त माना गया है। ऐसी दशा में रात्रि में उत्क्रान्त आत्मा रात्रि भर गतिभाव से वञ्चित हुआ सूर्य्यसत्तात्मक अहःकाल में गति का अनुगामी बनता है। यदि कृष्णपक्ष की रात्रि है, तो पूरे १५ दिन तक इसे अहःकाल में गमन, रात्रिकाल में विश्राम करना पड़ेगा। जब षण्मासात्मक दक्षिणायनकाल समाप्त हो जाता है, तदन्तर ही इसे उत्तरपथानुगत देव सम्वत्सर लोक का अनुगामी बनना पड़ेगा। इसी सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट कर लेना चाहिए कि, विद्या-समुच्चित प्रवृत्ति कर्म्मी का आत्मा अहः–शुक्लपक्ष तथा उत्तरायणकाल में उत्क्रान्त आत्मा अधिकारी तो ऋजु–देवयानमार्ग का अवश्य बन जायगा, परन्तु ब्रह्मपथ से सम्बन्ध रखने वाली ब्रह्मगति न होगी। केवल उत्तरस्वर्गगति पर ही इसका विश्राम हो जायगा। ठीक इसके विपरीत यदि किसी निवृत्तकर्म्मा-नुयायी का आत्मा रात्रि–कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन में उत्क्रान्त होगा, तो प्रथमाधिकार इसे कुटिल देवयानमार्ग का ही प्राप्त होगा, अनन्तर उत्तरमार्ग द्वारा इसे ब्रह्मलोकावाप्ति होगी। काल विशेष केवल सुविधा–असुविधा के निमित्त बनते हैं। ऐसा नहीं है कि, जिनका आत्मा अहः–शुक्लपक्ष–उत्तरायण में उत्क्रान्त हो, वे तो ब्रह्मगति के अधिकारी बन जायं, एवं जिनका आत्मा रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन में उत्क्रान्त हो, वे असद्गति के अनुगामी बन जायँ। गति का प्रधान निमित्त तो एकमात्र कर्म्म–तारतम्य ही है, जैसा कि, पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। सम्वत्सर का कोई क्षण ऐसा नहीं जाता, जिसमें किसी की मृत्यु न हो। साथ ही विशिष्ट कालों में मरने वाले सभी प्राणी पुण्यात्मा भी नहीं होते। उत्क्रान्ति का निमित्त आयुः सूत्र समाप्ति है, सदसत्लोकगति का निमित्त कर्म्मतारतम्य है। किसी विशेष हेतु से जो आयुःसूत्र पर अपना प्रभुत्व रख सकते हैं, वे गति सुविधाजनक उत्तरायणकाल गमनपर्य्यन्त मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। जिनमें इस वैशिष्ट्य का अभाव रहता है, उनका आत्मा आयुःसूत्र के क्षीण होते ही उत्क्रान्त हो जाता है, चाहे फिर उस समय रात्रि हो अथवा दिन, कृष्णपक्ष हो अथवा शुक्लपक्ष, दक्षिणायन हो अथवा उत्तरायण। हाँ, इस सम्बन्ध में यह विशेषता अवश्य है कि, यदि रात्र्यादि में उत्क्रान्ति है, साथ ही उत्क्रान्त आत्मा यदि ब्रह्मपथ का अधिकारी है, तो इसे पहिले कुटिल देवयान का अनुगामी बनना पड़ेगा, अनन्तर ब्रह्मलोक गमन होगा। यदि देवपथ का अधिकारी है, तो इसे कुटिल देवयानमार्ग द्वारा उत्तरस्वर्ग का अनुगमन करना पड़ेगा एवं पुण्यातिशयसमाप्ति के अनन्तर पुनः इसे मृत्युलोक में आ जाना पड़ेगा। ब्रह्मपथगति में देवयान ऋजु ही रहता हो एवं देवपथगति में देवयान कुटिल ही रहता हो, यह नियम नहीं है बहुत सम्भव है–ब्रह्मपथानुयायी को भी कुटिल देवयान का आश्रय लेना पड़े। यह भी बहुत सम्भव है कि, देवपथानुगामी भी ऋजुदेवयान का अनुगामी बन जाय। यही क्यों, विद्यानिरपेक्षसत्कर्म्म संस्कृत पितृपथानुगामी तथा विरुद्धअसत्कर्म्म संस्कृत यमपथानुगामी भी अहरादि उत्तरायणकाल में उत्क्रान्त हो सकते हैं।

जिस प्रकार उत्तरायण–दक्षिणायनकाल भेद से देवयानमार्ग के ऋजु–कुटिलभेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं, एवमेव इसी कालद्वयी के सम्बन्ध से पितृयाणमार्ग भी दो स्थितियों में विभक्त हो रहा है। देवयानमार्ग का जहाँ आतपपथ (ज्योतिर्लक्षणअग्नि) से सम्बन्ध है, वहाँ पितृयाण का छायापथ

(तमोलक्षणसोम) से सम्बन्ध है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि, जैसे अहः-शुक्लपक्ष-उत्तरायणकाल देवयान के उपोद्बलक बनते हैं, एवमेव रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायनकाल पितृयाण के उपोद्बलक बनते हैं। भूच्छायात्मक छायापथ तथा चन्द्रच्छायात्मक छायापथ दोनों मिलकर पितृयाणमार्ग के स्वरूप सम्पादक बनते हैं। भूच्छायात्मक छायापथ रात्रि है, चन्द्रच्छायात्मक छायापथ कृष्णपक्ष है एवं सूर्य्यदक्षिणायनात्मक षण्मासात्मककाल दक्षिणायनरूप छायापथ है। तीनों छायापथ मिल कर ऋजुपितृयाणमार्ग है। विद्यानिरपेक्षसत्कर्म्मानुयायी आत्मा धूमात्मक स्वच्छायापथ के अनन्तर पहले भूच्छायारूप रात्रि में, अनन्तर चन्द्रच्छायारूप कृष्णपक्ष में, अनन्तर दक्षिणायनमार्ग में आरूढ होता हुआ ऋजुभाव से पितृलोक में चला जाता है। इस प्रकार पितृयाणमार्ग में धूम-रात्रि-कृष्णपक्ष-दक्षिणायन ऋजुगति के प्रवर्त्तक बन जाते हैं।

यदि अहः-शुक्लपक्ष-उत्तरायणकाल में इसकी उत्क्रान्ति होती है, तो पितृयाणमार्ग इसके लिए कुटिल हो जाता है। तत्काल प्रतीक्षा के अनन्तर ही इसे पितृलोकगमन सामर्थ्य प्राप्त होता है। यदि उत्क्रान्त आत्मा उत्तरमेरू निवासी है, तब तो यह कठिनता और भी जटिल हो जाती है। क्योंकि उत्तरमेरू पर (उत्तरायणकाल में) पूरे ६ मास प्रकाश रहता है। जब तक प्रकाश रहता है, तब तक इसे भूपृष्ठ पर ही भटकना पड़ता है। दक्षिणयान कालागमनान्तर ही इसकी गति आरब्ध होती है। इसी से यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि, उत्तरमेरु निवासियों के लिए उत्तरायणकाल में देवयानमार्ग ऋजु रहता है एवं दक्षिणायनकाल में कुटिल रहता है। एवमेव दक्षिणमेरु निवासियों के लिए दक्षिणायनकाल में पितृयाण मार्ग ऋजु रहता है एवं उत्तरायणकाल में कुटिल रहता है। साथ ही भारतभूमि से अपेक्षाकृत यहाँ अधिककाल प्रतीक्षा करनी पड़ती है। कारण स्पष्ट है, मेरुस्थान सम्बन्धी जो परिवर्त्तन एक सम्वत्सर (३६५ अहोरात्र) से सम्बन्ध रखता है, मध्यस्थ विषुव से सम्बन्ध रखने वाला वही परिवर्त्तन केवल एक अहोरात्र (२४ घण्टों) में भुक्त हो जाता है। फलतः विष्वद्वृत्तानुगत भारतीय प्रजा को ब्रह्मपथादिगमन में अधिक विलम्ब नहीं होता। यही भारतवर्ष का पुण्यभूमित्व है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में यशोगान हुआ है—

गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूते (फलार्जनाय) भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

(गरुड पु०ध०कां० १ अ०।२७ श्लोक)

(छ) आकाशः (आत्मगतित्रैलोक्यम्)

आतिवाहिक-निमित्त के अनन्तर क्रमप्राप्त **'आकाश'** निमित्त की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। स्थूलशरीर परित्यागानन्तर भूलोक का परित्याग कर उत्क्रान्त आत्मा जिस अवकाश स्थान को स्वगति का निमित्त बनता है, वह 'अवकाश' प्रदेश ही 'आकाश' नाम से व्यवहृत हुआ है एवं वही आधिदैविक आकाश **'आत्मगतित्रैलोक्य'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यह आत्मगतित्रैलोक्य देवयान, पितृयाणमार्ग भेद से दो संस्थाओं में विभक्त हो रहा है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

वैज्ञानिक दृष्टि से त्रैलोक्य विभाग आठ भागों में व्यवस्थित माना गया है, जो कि आठ विभाग **त्रैलोक्य-त्रिलोकी, स्तौम्यत्रिलोकी, कूर्म्मत्रिलोकी, उद्दढत्रिलोकी, आत्मगतित्रिलोकी, भूतत्रिलोकी, शारीरत्रिलोकी, भौमत्रिलोकी** इन आठों त्रिलोकियों का विशद विवेचन पुराणरहस्यान्तर्गत '**आण्डत्रिलोकीनिरुक्ति**' नामक प्रकरण से गतार्थ है। यहाँ केवल '**आत्मगतित्रिलोकी**' का ही दिग्दर्शन कराना अभीष्ट है।

ज्योतिष्चक्र (खगोल) से सम्बन्ध रखने वाला मान '**सावन, निरयण**' भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। इन दोनों में से '**सावनमान**' की अपेक्षा ३६० से अहोरात्र का एक सम्वत्सर माना गया है। एक-एक अहोरात्र में एक-एक अंश का भोग करता हुआ भूपिण्ड ३६० अहोरात्रों में अंशात्मक एक सम्वत्सरचक्र की पूरी परिक्रमा लगा लेता है। सावनमानानुगत इस सामान्य परिभाषा के अनुसार प्रत्येक वृत्त (छोटा अथवा बड़ा) ३६० अंशात्मक मान लिया जाता है। फलतः सूर्य्य, चन्द्रमा, अष्टाविंशतिनक्षत्र ग्रह आदि ज्योतिःपिण्डों की प्रतिष्ठाभूत ज्योतिष्चक्र के भी ३६० ही अंश सिद्ध हो जाते हैं। ३६० अंशात्मक यह ज्योतिष्चक्र (खगोल) प्रदेश ही आत्मगतित्रिलोकीरूप 'आकाश' की प्रतिष्ठाभूमि है।

शरदृतु में आकाश प्रदेश निर्म्मल रहता है, नाक्षत्रिक स्थिति का भलीभाँति प्रत्यक्ष हो जाता है। आप देखेंगे आकाश में दक्षिण की ओर झुका हुआ अतिशयरूप से प्रदीप्त चाकचिक्य (चमाचम) भावापन्न, नीलवर्ण का एक तेजस्वी नक्षत्र प्रतिष्ठित है। यही नक्षत्र '**लुब्धक**' नाम से व्यवहृत हुआ है। जिस प्रकार सम्पूर्ण औषधियों के मिश्रण से उदुम्बरफल (गूलर) का स्वरूप निर्म्माण हुआ है, एवमेव लुब्धक नक्षत्र में खगोलीय यच्चयावत् नाक्षत्रिक प्राणों का समावेश है। इसी आधार पर लुब्धक 'पशुपति' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। अत्युग्र आग्नेय तेजः सम्बन्ध से यही 'रुद्र' (नाक्षत्रिकरुद्र) कहलाए हैं। जो वस्तु सौर तेजः से अनुपाततः २४ घण्टों में पिघलती है, उसे लुब्धक तेज क्षणमात्र में द्रुत बना सकता है। वैज्ञानिकों का कहना है कि, दुर्भाग्य से यदि सूर्य्य लुब्धक के समीप चला जाय, तो क्षणमात्र में वाष्परूप में परिणत होकर सूर्य्य विनष्ट हो जाय। सुप्रसिद्ध प्राजापत्य आख्यान की मूलप्रतिष्ठा यही लुब्धक नक्षत्र है, जैसा कि निम्नलिखित ब्राह्मण श्रुति से प्रमाणित है—

"प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायत्–दिवमित्यन्य आहुः, उषसमित्यन्ये। तामृश्योभूत्वा रोहितं भूतामभ्यैत्। तं देवा अपश्यन्–अकृतं वै प्रजापतिः करोति, इति। ते तमैच्छन् य एनमारिष्यति। एतमन्योऽन्यस्मिन्नाविन्दन्। तेषां या एव घोरतमास्तन्व आसन्, ता एकधा समभरन्। ताः सम्भृता एष देवोऽभवत्। तदैतत्-भूतवत्–नाम। ❀ × × ×। स एतमेव वरमवृणीत-पशूनामाधिपत्यम्। तदस्यैतत्–पशुमत्–नाम। तमभ्यायत्याविध्यत्। स विद्ध ऊर्ध्व उदप्रपतत्। तमेतं मृग इत्याचक्षते। ए ऊ एव मृगव्याधः, स उ एव सः। या रोहित्, सा रोहिणी। यो एवेषुस्त्रिकाण्डा, सो एवेषुस्त्रिकाण्डा।" (ऐतरेय ब्रा० १३।१०)।

सुप्रसिद्ध 'कृत्तिका' नक्षत्र से कुछ ही पूर्व में कुछ ही पूर्व में पाँच नक्षत्रों की समष्टिरूप एक रक्तवर्ण का 'रोहिणी नक्षत्र' प्रतिष्ठित है। शकटाकार होने से इसे 'शकट' कहा जाता है। सुप्रसिद्ध 'शकटवेध' योग का इसी रोहिणी से सम्बन्ध है। यदि शनिग्रह इस शकटाकार रोहिणी नक्षत्र के भीतर से निकल जाता है, तो, रोहिणीभुक्त प्रदेश में १२ वर्ष तक दुष्काल का प्रभत्व रहता है। यही शकटाकार रोहिणी तन्त्रोक्त दशमहाविद्या–विज्ञान में 'कमला' नाम से प्रसिद्ध है। इससे ठीक षड्भान्तर प्रदेश (१८० अंश) पर ज्येष्ठा नक्षत्र प्रतिष्ठित है, यही धूमावती नाम से प्रसिद्ध है। रोहिणी आरोहिणी है, लक्ष्मी है। ज्येष्ठा अवरोहिणी है, अलक्ष्मी है, दरिद्रा है, निर्ऋति है। अतएव जन्मनक्षत्रों में इसे अमङ्गलविधायक माना गया है। रोहिणी नक्षत्र से ईशान दिशा में उत्तर की ओर ब्रह्महृदयनक्षत्रोपलक्षित प्रजापति मण्डल है। रोहिणी के समीप त्रिकाण्ड (तीन नक्षत्रों की समष्टि) नक्षत्र है, यहीं मृगशीर्ष नक्षत्र है, इससे पूर्व उक्त लुब्धक नक्षत्र है। कल्पना है कि, प्रजापति ने स्वदुहिताभूत रोहिणी पर अनुधावन किया, लुब्धक ने त्रिकाण्ड बाण से प्रजापति का शिरच्छेद कर डाला। वही शिर मृगशीर्ष है, जिसमें अद्यावधि त्रिकाण्डबाण प्रोत है। इसी आधार पर **"त्यजति न मृगव्याधरभसः'** (महिम्न) प्रसिद्ध है। इस प्रकार नैदानिक महर्षियों ने उक्त नाक्षत्रिक असदाख्यान से निदान द्वारा नक्षत्रविद्या का ही रहस्योद्घाटन किया है, जैसा कि अन्यत्र 'ऋषिरहस्यादि' निबन्धों में विस्तार से प्रतिपादित है।

उक्त प्राजापत्य नक्षत्र मण्डल में से प्रकृत में त्रिकाण्ड नक्षत्र की ओर विशेष रूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। यह त्रिकाण्ड पूर्वा पर प्रतिष्ठित है। इन तीनों नक्षत्रों में से पूर्व के तीसरे नक्षत्र से पूर्वदिक् की ओर ईशान कोण की ओर झुका हुआ सप्ततारा समष्टिरूप सुप्रसिद्ध 'मघानक्षत्र' है, जिसे श्राद्धकर्म्म की प्रतिष्ठा माना गया है। इसका आकार चूंकि S जैसा है, एतएव पाश्चात्य नक्षत्रविद्या में यह मघा S (एस) नाम से प्रसिद्ध है। मघानक्षत्र मण्डल में छठा तारा तेजस्वी है, एतएव इसे 'योग-तारा' कहा गया है। पूर्वोक्त त्रिकाण्ड के तीसरे पूर्व तारे से, एवं मघामण्डलभुक्त इस योगतारे से, दोनों से स्पर्श करता हुआ जो खगोलीय पूर्वापरवृत्त बनता है, वही 'विष्वद्वृत्त' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यही वृत्त उत्तर–दक्षिणगोलों का विभाजक है। इस विष्वद्वृत्त से उत्तर की ओर ठीक ९० अंश पर उत्तरध्रुव है एवं दक्षिण की ओर ठीक ९० अंश पर दक्षिणध्रुव प्रदेश है। विष्वद्वृत्तपृष्ठ की प्रत्येक बिन्दु से ध्रुव का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसी आधार पर विष्वद्वृत्तीय पृष्ठीकेन्द्र को ध्रुव मानना अन्वर्थ बनता है। उत्तर-दक्षिण ध्रुवों का अन्तर ९०–९० के संकलन से षड्भान्तर (१८०) हो जाता है। ठीक इतना ही भाग अधोभाग में है। उत्तरक्षितिज पर उत्तर ध्रुव है, दक्षिणक्षितिज पर दक्षिण ध्रुव है। आप पृथिवी के उस प्रदेश पर खड़े हो जाइए, जहाँ विष्वद्वृत्त आपके स्वस्वस्तिक (मस्तक के ऊर्ध्वलम्बन) से समतुलित हो जाय। अवश्यमेव उस प्रदेश से दक्षिणोत्तर ध्रुव दक्षिणोत्तरक्षितिज पृष्ठों से समतुलित प्रतीत होंगे। १८० अंशात्मक यह दृश्य खगोल एवं १८० अंशात्मक ही अदृश्य खगोल, सम्भूय खगोल के ३६० अंश हो जाते हैं। इसी खगोलचक्रात्मक आकाश के आधार पर हमें आत्मगतित्रैलोक्य का समन्वय करना है।

अदृश्य अर्द्धखगोल को थोड़ी देर के लिए छोड़ते हुए पहले दृश्य अर्द्धखगोल की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसके मध्य में (उत्तरध्रुव से ९० अंश पर, दक्षिण ध्रुव से भी ९० अंश पर

प्रतिष्ठित मध्यस्थ दृश्य विष्वद्वृत्त के ठीक मध्य में) सूर्य्य प्रतिष्ठित है। इसी दृश्य अर्द्धखगोल के साथ आत्मगतित्रैलोक्य का प्रधान सम्बन्ध है। विष्वद्वृत्त से उत्तरध्रुव पर्य्यन्त ९० अंश बतलाए गए हैं। इस ९० अंशात्मक उत्तरखगोलीय प्रदेश के ६६–२४ ये मुख्य विभाग हैं। उत्तरध्रुव से आरम्भ कर ६६ अंशात्मक उत्तरप्रदेश को छोड़ देने पर २४ अंशात्मक प्रदेश विष्वद्वृत्तपर्य्यन्त बच रहता है। इसके १२–८–४ क्रम से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। विष्वद्वृत्त से ठीक चौथे, अंश पर एक पूर्वा पर वृत्त है। यहाँ से आठ अंश के अन्तर पर, विष्वत् से १२वें अंश पर एक पूर्वा पर वृत्त है। यहाँ से बारह अंश के अन्तर पर, विष्वत् से २४वें अंश पर एक पूर्वापर वृत्त हैं। इस प्रकार मध्यस्थ विष्वत् से उत्तर में मुक्त २४ अंशों के ४–८–१२ क्रम से तीन पूर्वापर वृत्त हो जाते हैं। ये ही तीन पूर्वापरवृत्त, ठीक इसी अनुपात से विष्वत् से दक्षिण के २४ अंशों में प्रतिष्ठित हैं। तीन पूर्वापरवृत्त उत्तर में, तीन दक्षिण में, पूर्वापरवृत्त स्वयं विष्वद्वृत्त, सम्भूय सात पूर्वापरवृत्त हो जाते हैं। अहोरात्र की स्वरूपनिष्पत्ति, तथा ह्रास–वृद्धि–समत्व, इन्हीं 'सप्तपूर्वापरवृत्तों पर अवलम्बित हैं' अतएव इन्हें 'सप्ताहोरात्रवृत्त' भी कहा गया हैं। अहो-रात्रात्मक सम्वत्सरयज्ञ के ये ही **'सप्तहोता'** हैं। दृश्यस्थिति की अपेक्षा से, विशेषतः विष्वद् से उत्तर भाग में प्रतिष्ठित वैज्ञानिक महर्षियों की अपेक्षा से उक्त सातों अहोरात्र वृत्तों में क्रमशः उत्तरोत्तर बृहद्भाव का समावेश माना गया है। विष्वदुत्तर से आरम्भ कर विष्वद्दक्षिणपर्य्यन्त व्याप्त सात अहोरात्रवृत्त ही क्रमशः जगती, विष्टुप्, पंङ्क्ति, बृहती, अनुष्टुप्, उष्णिक्, गायत्री नाम से प्रसिद्ध हैं। स्थिति क्रमापेक्षया तीनों से समतुलित हैं, वहाँ उक्त दृष्टिक्रमापेक्षया जगती सबसे बड़ा है, गायत्रीवृत्त सबसे छोटा है। १२ (४८), ११ (४४), १० (४०), ९ (३६), ८ (३२), ७ (२८), ६ (२४) अक्षरयुक्त जगत्यादि गायत्र्यन्त छन्द (वृत्त) क्रमशः ह्रसीयान् हैं।

जिस प्रकार पूर्वापरवृत्त सात हैं, वैसे याम्योत्तर (दक्षिणोत्तर) वृत्त ३६० हैं। उत्तर–दक्षिण ध्रुवों से संलग्न ये ही वृत्त 'ध्रुवप्रोतवृत्त' नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सभी वृत्त समतुलित हैं, इनमें छोटे–बड़े वैषम्य का अभाव है। सुप्रसिद्ध 'भूमध्यरेखा' का सम्बन्ध इन्हीं याम्योत्तर वृत्तों से माना गया है। इसी को आधार बना कर देशान्तरादि व्यवस्थाएँ व्यवस्थित हैं। विज्ञान भाषा में ये ही वृत्त ऋतसमुद्र सम्बन्ध से 'अप्सरा' कहलाए हैं। इन ३६० वृत्तों में से एक वृत्त वह है, जो खगोल के ठीक मध्य में से बृहती छन्दः स्थित सूर्य्य का वेध करता हुआ दक्षिणोत्तर वितत है। यही मध्यस्थ दक्षिणोत्तर वृत्त 'उर्वशीअप्सरा' कहलाया है। यही मित्रदेवतायुक्त पूर्वकपाल तथा वरुणदेवतायुक्त पश्चिमकपाले का विभाजक माना गया है। अद्यतनलक्षण अहःकाल का मैत्र पूर्वकपाल से सम्बन्ध है, जैसा कि **'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्'** प्रकरणान्तर्गत **'ऋणमोचनोपायोपनिषत्'** में विस्तार से बतलाया जा चुका है। उज्जैन भुक्ता दक्षिणोत्तर रेखा भारतीय मध्यरेखा※ है एवं 'ग्रीनवीच' भुक्ता मध्यरेखा पश्चिमदेशीया मध्यरेखा है।

※यल्लङ्कोज्जयिनी पुरोपरि कुरुक्षेत्रादि देशान् स्पृशत्।
सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदितं सा मध्यरेखा भुवः॥

जिन सात पूर्वापरवृत्तों का पूर्व में उल्लेख हुआ है, यदि उनके उत्तर-दक्षिण के २४-२४ अंशों का संकलन किया जाता है, तो ४८ अंश हो जाते हैं। २४ अंशात्मक उत्तर खगोल, एवं २४ अंशात्मक दक्षिण खगोल, सम्भूय ४ (१८० अंशात्मक दृश्य अर्द्ध खगोल के मध्य का) ४८ अंशात्मक मध्य खगोलीय प्रदेश ही सूर्य्य, चन्द्रमा, २८ नक्षत्र, ६ ग्रह आदि प्रधान ज्योतिः पिण्डों की आधार भूमि है। इस परिसर से बाहर इनमें से कोई भी नहीं है। हाँ, केवल चन्द्रमा अवश्य ही दक्षिणोत्तर से २४ अंशों के बाहर भी निकल जाता है। इसी आधार पर पुराण ने चन्द्रमा की स्थिति यत्र तत्र सूर्य्य से ऊपर भी मान ली है। स्वगतिवैषम्य से चन्द्रमा कभी-कभी २८ अंश तक जा पहुँचता है। सुप्रसिद्ध 'स्वाति' नक्षत्र विष्वद्वृत्त से लगभग २८वें अंश पर प्रतिष्ठित है। २४वें अंश की परमक्रान्ति से सम्बन्ध रखने वाले सौर तेज का योग स्वाति के साथ कदापि सम्भव नहीं है। फिर भी 'स्वाति योग' नामक योग विशेष की जो सत्ता स्वीकार की गई है, उसका एकमात्र कारण चन्द्रमा ही है। चान्द्रतेज सौरतेज ही प्रवर्ग्य भाग है। चूंकि चन्द्रमा २८ अंश पर्य्यन्त अनुधावन करता हुआ २८ अंशस्थित स्वाति से योग कर लेता है, अतएव परम्परया स्वातियोग उपपन्न हो जाता है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

सममुत्तरेण तारा चित्रायाः कीर्त्यते ह्यपां वासः।
तस्यासन्ने चन्द्रे स्वातेर्योगः शिवो भवति।।

वलयवृत्त, दीर्घवृत्त भेद से वृत्त के दो विवर्त्त माने गए हैं। एक नाभियुक्त वृत्त वलयवृत्त कहलाया है, यही वर्त्तुलवृत्त है एवं त्रिनाभियुक्तवृत्त ही दीर्घवृत्त कहलाया है, यही अण्डवृत्त है, यही अण्डत्रिलोकी है। लिङ्गाभिकाशिवोपासना की प्रतिष्ठा यही आण्डत्रिलोकी है, जैसा कि-'गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत' 'भक्तियोगपरीक्षा' में विस्तार से प्रतिपादित है। तीन वर्त्तुलवृत्तों की समष्टि से एक दीर्घवृत्त का स्वरूप निष्पन्न होता है। त्रिकेन्द्रत्व ही इसकी दीर्घता (अण्डाकारता) का प्रवर्त्तक है। सप्त अहोरात्रवृत्तात्मक क्रान्तिवृत्त में एक केन्द्र सूर्य्य स्थानीय है, एक केन्द्र मकरवृत्तानुगामी है, एक केन्द्र कर्कवृत्तानुगामी है। इन तीन नाभियों (केन्द्र) के सम्बन्ध से ४८ अंशात्मक परिसर लक्षण क्रान्तिवृत्त दीर्घवृत्तरूप में परिणत हो रहा है। दक्षिणान्त सीमा पर प्रतिष्ठित गायत्रीवृत्तात्मक मकरवृत्त तथा उत्तरान्त सीमा पर प्रतिष्ठित जगतीवृत्तात्मक कर्कवृत्त, दोनों के २४वें अंश का स्पर्श करता हुआ ४८ अंशात्मक परिसर की अन्तिम सीमारूप दीर्घवृत्त ही क्रान्तिवृत्त है, यही भूपरिभ्रमणमार्ग है। सात अहोरात्रवृत्त इस क्रान्तिवृत्त को काटते हुए प्रतिष्ठित हैं। ये ही सात पूर्वापरवृत्त सात अश्व हैं, क्रान्तिपरिस्पर में व्याप्त सौर हिरण्मय तेज ही सुनहरी रथ है, स्वयं क्रान्तिवृत्त इस रथ का एक चक्र (पहिया) है। दृश्यस्थिति के अनुसार सप्ताश्वयुक्त इसी हिरण्यमय त्रिनेमि एक चक्र रथ पर आरूढ होकर भगवान सविता उत्तरायण-दक्षिणायन के प्रवर्त्तक बन रहे हैं सप्ताश्व सम्बन्ध से ही सूर्य्यनाड़ी सप्तधा विभक्त हो रही है, जिनमें से मध्यस्थ विष्वद्वृत्तानुगमिनी मध्यनाड़ी 'सुषुम्णा' नाम से व्यवहृत हुई है। क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न यही सौरतेज अथर्ववेदोपवर्णित वह 'स्कम्भ' है, जिसका आगे के 'लोक' निरुक्ति प्रकरण में दिग्दर्शन कराया जाने वाला है। स्कम्भात्मक, त्रिनेमि इसी हिरण्यमयमण्डल का स्पष्टीकरण करते हुए वेदमहर्षि ने कहा है—

१—"आ सूर्य्यो यातु सप्ताश्वः क्षेत्रं यदस्योर्विया दीर्घयाथे ।
रघुः श्येनः पतयदन्धो अच्छा युवा कविर्दीदयद् गोषुगच्छन् ।।
(ऋक् सं० ५।४५।६) ।

२—सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ।।

३—इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि संनवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम ।।
(ऋक् सं० १।१६४।२,३) ।

४—आकृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशायन्नमृतं मर्त्यं च ।
हिरण्मयेन सविता रथेनोदेवो याति भुवनानि पश्यन् ।।
(यजु०) ।

४८ अंश के परिसर में मुक्त सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रयुक्त यही हिरण्मयाण्ड आत्मगतित्रैलोक्य का 'पृथिवी' लोक है । इस पृथिवीलोक की परिधि ही क्रान्तिवृत्त है, जिस पर एक सम्वत्सर में हमारा भूपिण्ड पूरी परिक्रमा लगा लेता है । पृथिविस्थानीय इस हिरण्मयाण्ड प्रदेश से ग्रह–नक्षत्र–चन्द्र तेजोयुक्त सौरतेज प्रबलवेग से भूपिण्ड पर आक्रमण कर रहा है । यही कारण है कि, भूपृष्ठ से उत्क्रान्त आत्मा इस आगत सौरतेज के आक्रमण को सहने में असमर्थ होता हुआ हिरण्मयाण्डप्रदेश की ओर गमन न कर उसके इतस्ततः ही गमन करता है । स्वल्पतेजोभुक्त उत्क्रान्त आत्मा उस घनतेज के आक्रमण सहने में असमर्थ है । हाँ, जो ब्रह्मपथ के अनुयायी हैं, उनका आत्मा निवृत्तिकर्म्मप्रभाव से अवश्य ही सबल रहता है । इन योगियों का आत्मा हृदय से ब्रह्मरन्ध्र द्वारा सूर्य्य केन्द्र पर्य्यन्त वितत सुषुम्णानाड़ीरूप महापथ के द्वारा इस सौरमण्डल का छेदन करने में समर्थ हो जाता है । ऐसे मुक्तात्माओं का ब्रह्माण्ड (कपाल) भेदनपूर्वक ही उत्क्रमण होता है एवं क्षणमात्र में ये परज्योति में विलीन हो जाते हैं अतएव इन्हें सूर्य्यभेदी कहा जाता है ।

ब्रह्मपथ का अनुगमन क्रमभाव, सद्योभाव भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है । भूपृष्ठ से उत्क्रान्त होकर पहले देवयानमार्ग का अनुगमन करना, अनन्तर देवयानमार्गान्तर्गत ब्रह्मपथ का अनुगमन करते हुए ब्रह्मलोक में चले जाना क्रमभाव है । अतएव इस गति को 'क्रममुक्ति' कहा जाता है । यही क्रमगतिलक्षणा सायुज्यभावोपेता अपरामुक्ति है । ऋजुदेवयानमार्ग में यह गति सुविधापूर्वक होती है एवं कुटिल देवयान में प्रतीक्षा पूर्वक होती है, जैसा कि पूर्व के आतिवाहिक निरूपण में स्पष्ट किया जा चुका है । इस ब्रह्मगति का सुषुम्णा–नाड़ीरूप महापथ से सम्बन्ध न होकर देवपथ से ही सम्बन्ध है । उत्तरायणकाल को निमित्त बनाने वाली गति यही देवपथानुगता गति है । निम्नलिखित श्रुति स्मृतिवचन इसी ब्रह्मगति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—"तद्य इत्थं विदुः–ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा–तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति, अर्चिषोऽहः, अह्न आपूर्यमाणपक्षं, आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्। मासेभ्यः सम्वत्सरं, सम्वत्सरादादित्यं, आदित्याच्चन्द्रमसं, चन्द्रमसो विद्युतम्। तत् पुरुषोऽमानवः। स एनान्ब्रह्मगमयति। एष देवयानः पन्थाः" इति। (छां०उ० ५।१०।१,२)।

२—"अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः॥" (गीता ८।२४)

अग्निप्रधाना सौरज्योति, सोमप्रधाना चान्द्रज्योतिर्भेद से भगवान ने गीता में दो ही गतियों का स्पष्टीकरण किया है। इनमें अग्निज्योति को शुक्लगति बतलाते हुए इसे अपुनरावृत्तिमार्ग बतलाया है एवं सोमज्योति को कृष्णगति मानते हुए इसे पुनरावृत्तिमार्ग बतलाया गया है। उधर भगवान ने ही एक स्थान पर एक ऐसी स्वर्गगति का भी समर्थन किया है, जिसका सम्बन्ध तो—**'स्वरहर्देवाः सूर्य्यः'** इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार देवयानमार्गात्मक उत्तरायण से ही है, परन्तु—**'क्षीणेपुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति'** (गीता ९।२१) के अनुसार इस शुक्लगति में पुनरावर्त्तन माना है। **"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म"** (मुण्डक १।२।७) इत्यादि रूप से स्वयं उपनिषच्छ्रुति ने भी प्रवृत्तिप्रधान विद्यासापेक्षकर्म्म (यज्ञादि) से प्राप्त इस स्वर्गगति को अदृढ ही माना है। इस आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, सौरज्योतिः प्रधाना शुक्लगति, किंवा देवयानमार्गगति, किंवा उत्तरायणकालगति के अपुनरावृत्तिगति, पुनरावृत्तिगति भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। निवृत्तिकर्म्म से ब्रह्मगतिलक्षण अपुनरावृत्तिगति होती है, विद्यासापेक्ष प्रवृत्तिकर्म्म से देवगतिलक्षण पुनरावृत्तिगति होती है। ब्रह्मगति में विद्युत द्वारा क्रमशः ब्रह्मलोकावाप्ति है, देवगति में सम्वत्सर मात्र प्रतिष्ठा है, यहाँ से पुनः पुनरावर्त्तन हो जाता है। इस प्रकार एक ही देवयानमार्गभुक्ता शुक्लगति के ब्रह्मपथ–देवपथ भेद से अपुनरावृत्तिलक्षण ब्रह्मगति, पुनरावृत्तिलक्षण देवगति ये दो विवर्त्त प्रमाणित हो जाते हैं।

यही स्थिति चान्द्रज्योतिप्रधाना कृष्णगति की है। इस गति के सम्बन्ध में भगवान ने कहा है कि, योगभ्रष्टात्मा इस चान्द्रज्योति का अनुगमन करते हैं। अनन्तर उन्हें पुनः संसृति में आना पड़ता है। इसके अतिरिक्त—**"पतन्ति नरकेऽशुचौ"** (गी० १६।१६) इत्यादि रूप से भगवान एक ऐसी भी अधोगति मानते हैं, जहाँ पापात्मा गमन करते हैं। अवश्य ही नरकगति योगियों द्वारा प्राप्तव्या चान्द्रज्योतिर्लक्षण कृष्णगति से पृथक् होनी चाहिए। इसी आधार पर पितृयाणमार्गभुक्ता कृष्णगति के भी पितृपथ–यमपथ भेद से पुनरावृत्तिलक्षण पितृस्वर्गगति, यमनरकगति ये दो विवर्त्त प्रमाणित हो जाते हैं। इस प्रकार तीन पुनरावृत्तियाँ हो जाती हैं, एक अपुनरावृत्तिगति हो जाती है। प्रकाश ही देवदेवता है। ब्रह्मगति, देवगति में तो साक्षात् सौर प्रकाश है ही, तीसरी चान्द्रज्योतिःप्रधाना पितृस्वर्गगति में भी परम्परा सिद्ध (सूर्य्य से चन्द्रमा में भुक्त) सौर प्रकाश प्रतिष्ठित है। इस प्रकार तीन दिव्यगति हो जाती है। सुरगति (विशुद्ध

यमगति) हो जाती है। दिव्यज्योति का द्युलोक से सम्बन्ध है। इसी आधार पर तीनों दिव्यगतियों के तीन द्युलोक माने जा सकते हैं। ब्रह्मपथानुगत द्युलोक स्वायम्भुव है, देवपथानुगत द्युलोक सौर है। इन दोनों का उत्तरायणप्रधान देवयानमार्ग से सम्बन्ध है एवं पितृपथानुगत द्युलोक चान्द्र है, इसका दक्षिणायन-मार्गप्रधान पितृयाण से सम्बन्ध है। दक्षिणायन चूंकि दक्षिणदिक्स्थ यम के अधिकार में है, अतएव इस पितृ द्युलोक को याम्य द्युलोक माना जा सकता है। चौथा यमपथ विशुद्ध असुरलोक है। निम्नलिखित मन्त्र इन्हीं तीनों दिव्यलोकों का विश्लेषण कर रहा है—

तिस्रो द्यावः, सवितुर्द्वा उपस्थाँ एका यमस्य भुवने विराषाट् ।।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तधिकेतत् ।।
(ऋक्० १।३५।६)।

पाठक प्रश्न करेंगे कि, पूर्वप्रकरण में जब इन चारों पथों का स्पष्टीकरण हो गया था तो पुनः सिंहावलोकन की क्या आवश्यकता थी? एक सज्जन* ने '**श्राद्धविज्ञान**' नाम का १२५ पृष्ठ का एक लेख लिखा है। केवल देवयान, पितृयाणमार्ग स्वरूप के अतिरिक्त निबन्ध—प्रतिपाद्य सभी विषय यद्यपि प्रौढिवाद ग्रस्त हैं, परन्तु समालोचना प्रवृत्ति से उन्मुक्त उन प्रतिपाद्य विषयों के सम्बन्ध में मौनावलम्ब ही श्रेयः पन्थाः है। उदाहरण के लिए आपने कर्म्मभोक्ता प्रत्यगात्मा के लिए ही श्राद्ध विहित माना है, जो कि एकान्ततः असङ्गत है। ऐसी ही कुछ एक विरुद्धा—विरुद्ध सङ्गतियों के अन्त में लोकगति के सम्बन्ध में सीधा भगवान व्यास पर आक्षेप करते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है कि, व्यास को भी इस सम्बन्ध में भ्रान्ति हो गई है। श्रवणेनापि पापोत्पादक आपके वे शब्द निम्नलिखित हैं—

"उपरोक्त श्रुति का यही अर्थ लगाने से उत्तरायणमार्ग और दक्षिणायनमार्ग की द्योतक श्रुतियाँ सार्थक होती हैं, अन्यथा मार्ग प्रदर्शक श्रुतियों का अस्तित्व ही उड़ जाता है, क्योंकि जब यदि हरेक समय में ही गतियों का आरम्भ, होता मान लिया जाय तो फिर कालरूपी मार्ग प्रतिपादक श्रुतियों कामूल्य ही क्या रहता है, इसलिए मालूम होता है कि, सबसे प्रथम **'बादरी' आचार्य ने ही इन मार्ग प्रदर्शक श्रुतियों का गला घोटना आरम्भ किया था**, तथा इसी का अनुकरण शङ्कराचार्य आदि भाष्यकारों ने भी किया है कि, जिससे यह अन्धपरम्परा अब तक चली आती है। किसी भी भाष्यकार ने देवयान और पितृयाण के विषय में कुछ भी स्वतन्त्र विचार नहीं किया, किन्तु सबने "बादरी" और शङ्कराचार्य का ही अनुकरण किया है।" (श्रा०वि० पृष्ठ ११२)।

विद्वान लेखक की दृष्टि में भगवान व्यास गतिप्रतिपादिका श्रुतियों का तात्पर्य्य नहीं समझ सके। जिस प्रकार वेद का वास्तविक अर्थ आज तक विलुप्त था, जिसका उद्धार एकमात्र स्वामीजी ने किया, वैसे ही उत्तरायण—दक्षिणायन पर स्वतन्त्र विचार तथा मार्गप्रद श्रुतियों का वास्तविक रहस्योद्घाटन चुरू निवासी विद्वान् ने किया। श्राद्धकर्म्म को अवैदिक मानने वाले स्वामीजी ने कम से कम व्यासादि आर्ष-

---

*पं० शिवलालजी मल्लिनाथजी चौमाल चूरू, (राजस्थान)।

वचनों की प्रामाणिकता पर आक्षेप करने की कृपा नहीं की थी, पर आज एक सनातनधर्म्मी ही अपने व्यास जैसे अतीतानागतज्ञ उस आचार्य के वचनों को न केवल सन्देहास्पद ही बतला रहा है, अपितु उन्हें श्रौततात्पर्य्याविगम में अयोग्य ठहराता हुआ अपने आपको व्यास से भी उच्चासन पर प्रतिष्ठित देखने का स्वप्न देख रहा है। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! श्राद्धप्रेमियों की श्रद्धा का कैसा नग्न चित्र है ?

बड़े आटोप के साथ उत्तरायण–दक्षिणायनकाल का निरूपण करते हुए लेखक ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि—अहः शुक्लपक्ष, उत्तरायण कालमें मरने वाला ब्रह्मपथानुगामी आत्मा ऋजुदेवयान से ब्रह्मलोक चला जाता है एवं रात्र्यादि में उत्क्रान्त आत्मा को प्रतीक्षा करनी पड़ती है। फलतः गति के साथ उत्तरायण–दक्षिणायनकाल का घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। उत्तरायणानुगत कुटिल मार्गापेक्षया यही श्रेष्ठता है। तात्पर्य यही है कि शुक्लमार्ग की सुविधा में ऐसे आत्मा सीधे गमन करते हैं, कृष्णमार्ग के अवरोध से इन्हें शुक्लमार्ग की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। **ये चेमेऽरण्ये०'** पूर्वोक्त (१५४ पृ०) श्रुति वचनों का तभी समन्वय सम्भव है, जब कि गति के सायंकाल सम्बन्ध मान लिया जाय।

उक्त सिद्धान्त सर्वथा अविप्रतिपन्न है, अतएव मान्य है। अवश्य ही निवृत्ति कर्म्मानुयायी पुरुषों का ब्रह्मपथानुगत आत्मा कालसापेक्ष ब्रह्मपथादि का अनुयायी है। अवश्यमेव इनके सम्बन्ध में क्रमगति के अनुरोध से कालवाचक वचनों का तथ्यपूर्ण मूल्य है। परन्तु बुद्धियोगानुगता सद्योमुक्ति से सम्बन्ध रखने वाले अनुत्क्रान्त–उत्क्रान्त मुक्तात्माओं के लिए काल का कुछ भी महत्त्व नहीं है। सूर्य्यभेदी आत्मा की स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए पूर्व में (१५३ पृ०) में यह स्पष्ट किया गया है कि, ब्रह्मपथानुगत अनुगमन क्रमभाव, सद्योभाव भेद से दो भागों में विभक्त है। निवृत्तिकर्मानुयायी क्रमभावात्मक देवयानमार्गभुक्त ब्रह्मपथ का अनुगमन करते हुए क्रमशः ब्रह्मगति को प्राप्त होते हैं एवं ऐसे क्रमगन्ताओं की अपेक्षा से अवश्यमेव काल का विशेष महत्त्व है। दूसरा सद्योमुक्तिभाव है, जिसका बुद्धियोगी विदेह पुरुषों से सम्बन्ध है। उत्तरायणकाल की प्रतीक्षा करने वाले महात्मा भीष्म निवृत्तकर्म्म सम्बन्ध से क्रमभावात्मक ब्रह्मपथ के अधिकारी थे, अतएव उनके सम्बन्ध में तत्काल प्रतीक्षा करना सुसङ्गत था। परन्तु विदेह जनक–व्यासादि मुक्तात्माओं का सद्योमुक्ति से सम्बन्ध था। फलतः इनके सम्बन्ध में कालप्रतीक्षा व्यर्थ थी। सद्योमुक्ति के अनुत्क्रान्ति, उत्क्रान्ति भेद से दो विवर्त्त हैं। भूमोदर्क से सम्बन्ध रखने वाली सद्योमुक्ति अनुत्क्रान्ति परा-मुक्ति है एवं क्षीणोदर्क से सम्बन्ध रखने वाली सद्योमुक्ति उत्क्रान्तिलक्षण परामुक्ति है। देवपथानुगत ब्रह्मपथ से सर्वथा विभिन्न इन दोनों परामुक्तिगतियों का श्रुति ने निम्नलिखित शब्दों में समर्थन किया है—

अनुत्क्रान्तिलक्षणसद्योमुक्तिः

"अथाकमयमानः—योऽकामः, निष्कामः, आप्तकामः, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। तदेष श्लोको भवति—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत एवमेवेदं शरीरं शेते । अथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव ।" (बृ०उ० ४।४।६,७) ।

बुद्धियोगानुष्ठान कामनाओं को निःशेष करने वाला निष्काम योगी अकाम बन जाता है । **'अकामस्यक्रिया............'** इत्यादि मानव सिद्धान्त के अनुसार ऐसे अकामपुरुष का क्रियाभाव सर्वथा विलीन हो जाता है । अतएव प्राण का गतिधर्म्म उच्छिन्न हो जाता है, एवं यहीं भूमोदर्कलक्षण 'समवलय' नाम की अनुत्क्रान्तिमुक्ति हो जाती है । निष्कामभाव अवश्य प्राप्त हो गया, परन्तु क्षीणोदर्क सम्बन्ध से इसी शरीर में हृद्ग्रन्थिलक्षण व्यानग्रन्थि का विमोकन हुआ, उस दशा में इस योगात्मा को उत्क्रान्तिलक्षण सद्योमुक्ति का अनुगमन करना पड़ता है । हृदय से बद्ध सुषुम्णापथ द्वारा क्षणमात्र में यह सूर्य्यभेदन करता हुआ परज्योति में विलीन हो जाता है । जितनी देर में (क्षणमात्र में) हमारा मन विदूरलोक में पहुँच जाता है, ठीक क्षणमात्र में, किंवा निमेषमात्र में हृदय से ब्रह्मरन्ध्र द्वारा सूर्य्य केन्द्रपर्य्यन्त सुषुम्णानाड़ीमय ब्रह्मपथ से (महापथ से) मुक्त हो जाता है । इस आत्मा की गति में रात्रि–कृष्णपक्ष–दक्षिणायनादि कोई प्रतिबन्ध नहीं आ सकता । रात हो, अथवा दिन, शुक्लपक्ष हो अथवा कृष्णपक्ष, उत्तरायण हो अथवा दक्षिणायन, रश्म्यनुसारी ऐसे आत्मा की गति निर्बाध है । निम्नलिखित वचन इसी उत्क्रान्तिलक्षण सद्योमुक्ति का स्पष्टीकरण कर रहा है—

उत्क्रान्तिलक्षणसद्योमुक्ति—

१—तदेतेश्लोका भवन्ति–अणुःपन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव ।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ता ।।
तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च ।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजश्च ।।
(बृ० आ० उ० ४/४/८)

२—"यस्मादर्वाक् सम्वत्सरोऽहोभिः परिवर्त्तते ।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ।।
यस्मिन् पञ्चपञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ।।
प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनोविदुः ।
ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ।" (ब्र०आ०उ० ४।४।१६,१७,१८) ।

३—"अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य । असौ वा आदित्यः पिङ्गलः, एष शुक्लः,

एष नीलः, एष पीतः, एष लोहितः । तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छति इमं च, अमुं च, एवमेवैता आदित्यस्यरश्मय उभौलोकौ गच्छन्ति इमं च-अमुं च । अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते । तेऽमुष्मिन्नादित्येसृप्ताः ।"

"अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामति, अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते । स ओमिति वा, होद्वामीयते । स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति । एत द्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनम् । निरोऽधोऽविदुषाम् ।"
(छां०उ० ८।६।१,२,५) ।

उक्त श्रुतियों के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, कर्म्मभेद से प्रत्यगात्मा की ६ गतियाँ हो जाती हैं। देवयानान्तर्गत ब्रह्मपथ, देवपथ, पितृयाणान्तर्गत पितृपथ, यमपथ इन चारों पथों से सम्बन्ध रखने वाली **ब्रह्मगति** (क्रममुक्तिलक्षण अपरामुक्ति) **देवस्वर्गगति, पितृस्वर्गगति, नरकगति ये** चार तो क्रमगतियाँ हैं। **सद्योमुक्तिगति**, जायस्व-म्रियस्व-लक्षण **असुर्यगति** ये दो सद्योगतियाँ हैं। **इनमें** सद्योमुक्तिगति का ही नाम परामुक्ति है। इसके भूमोदर्क-क्षीणोदर्क भेद से अनुत्क्रान्तिलक्षण अगतिरूपा-गति, उत्क्रान्तिलक्षण रश्मिनुसारिणी गतिरूपागति, ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। सम्भूय ७ गतियाँ हो जाती हैं। सात में तीन ब्रह्मगतियाँ हैं, **एक देवगति है, एक पितृगति है, एक यमगति है, एक अगतिलक्षण असुर्य्यगति है**। चतुष्पथानुगता क्रमगति चतुष्टयी काल सापेक्ष है, उभयविद्या सद्योमुक्ति तथा असुर्य्यगति कालानपेक्षा है। इन्हीं गतिभेदों के अनुसार विभिन्नार्थ प्रतिपादक श्रौत वचन व्यवस्थित हैं। भगवान व्यास ने उत्क्रान्तिलक्षण सद्योमुक्ति के अभिप्राय से ही निम्नलिखित सिद्धान्त स्थापित किया है—

१—"तदोकोग्रज्वलनं-तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेष गत्यनुस्मृतियोगाश्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।"

२—"रश्मनुसारी ।"

३—"निशिनेति चेन्न-सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात् दर्शयति च ।"

४—"अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ।" (ब्रह्म सू० ४।२।१७,१८,२० सू०) ।

उक्त सूत्र चतुष्टयी द्वारा सूत्रकार ने यही सिद्धान्त स्थापित किया है कि, निष्कामपुरुषों का आत्मा सुषुम्णा द्वारा रश्मनुसारी बनता हुआ क्षणमात्र में सूर्य्यभेदी बन जाता है। क्रमगति चतुष्टयी में जिस प्रकार उत्तरायण-दक्षिणायनकाल का सहयोग रहता है, वैसे इस गति में उत्तरायणादिकाल का कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

चूरू के मान्य विद्वान् ने सूत्रकार के उक्त सिद्धान्त पर ही प्रहार किया है। यदि वे विभक्तगतियों का यथावत् समन्वय करने का अनुग्रह कर लेते, तो सम्भवतः उन्हें इस असभ्य प्रौढिवाद के आश्रय की आवश्यकता न होती। विद्वान् ने ब्रह्मगति से केवल ब्रह्मपथानुगामिनी देवयानमार्गभुक्ता उत्तरायणगति को लक्ष्य बना कर सूत्रावलोकन का प्रयास किया है। जिस क्रमगति का उक्त सूत्र चतुष्टयी से कोई सम्बन्ध नहीं है। साथ ही आपने **'यावत्क्षिप्येन्मनः०'** इत्यादि श्रुति को देवयानमार्गभुक्त इसी ब्रह्मगति के उपोद्बलक मानने की भी भूल की है। इस श्रुति का ऋजु अर्थ तो यही है कि, क्षणमात्र में आत्मा आदित्यभेदी बन जाता है। इस गति का अचिरहःपक्षादि क्रमगति से सम्बन्ध ही नहीं है। सचमुच श्रुति-समर्थित व्यवस्थित आत्मगति विभक्ति को अज्ञात दशा में छोड़ते हुए भगवान व्यास के श्रौतसिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए पण्डितजी ने—**'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति'** सूक्ति को सर्वात्मना चरितार्थ बना दिया है।

अस्तु नाप्राप्त व्यासनिष्ठा के नाते हमें इस अप्रिय प्रसङ्ग का आश्रय लेना पड़ा। अत पुनः प्रकृत का आश्रय लिया जाता है। बतलाया गया है कि, मध्यस्थ दृश्य विष्वद्वृत्त से २४ अंश उत्तरप्रदेश, २४ अंश दक्षिण प्रदेश, सम्भूय ४८ अंशात्मक सूर्य्य-चन्द्र-नक्षत्र ग्रह परिभ्रमण प्रतिष्ठारूप सौरहिरण्मय सम्वत्सरमण्डल ही आत्मगति त्रैलोक्य का 'पृथिवी' लोक है एवं ब्रह्मपथ-देवपथ-पितृपथ-यमपथ इन चारों से सम्बन्ध रखने वाली क्रमगतियों का अनुगमन करने वाला भूपृष्ठ से उत्क्रान्त आत्मा घनतेजोमय उक्त सम्वत्सररूप पृथिवीमण्डल के आक्रमण को सहने में असमर्थ होता हुआ ४८ अंशात्मक आकाश में गमन नहीं कर सकता। यह जब भी जायगा, इसे इस ४८ अंशात्मक पृथिवी स्थानीय मण्डल से इतस्ततः व्याप्त मार्गों को ही आश्रय बनाना पड़ेगा, जो कि मार्गद्वयी देवयान, पितृयाण नाम से प्रसिद्ध है।

पृथिवीलोक का विचार समाप्त हुआ, अब अन्तरिक्ष तथा द्युलोक का समन्वय कीजिए। 'नागवीथी' से उत्तर तथा सप्तर्षिमण्डल से दक्षिण-विष्वद्वृत्त के २४वें अंश से उत्तर ४२ अंशात्मक परिसर ही आत्मगति त्रैलोक्य का **'अन्तरिक्षलोक'** है, यही देवयानमार्ग है। सप्तर्षि से उत्तर, उत्तरध्रुव से दक्षिण २४ अंशात्मक परिसर ही आत्मगतित्रैलोक्क का द्युलोक है। ध्रुवोत्तर स्थान ब्रह्मपथात्मक ब्रह्मगति समर्थक द्वितीय द्युलोक है, जिसे 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' के अनुसार अब्लोक (परमेष्ठ्य विष्णु-धाम-कदम्बपृष्ठ) भी कहा जाता है। नागवीथी' शब्द से परिचय प्राप्त करने के लिए दो शब्दों में खगोलीयामार्गत्रयी का स्वरूप बतला देना भी अनावश्यक माना जायगा।

बतलाया गया है कि, ४८ अंशात्मक परिसर में भुक्त सातों अहोरात्रवृत्त स्थितिक्रम से समतुलित होते हुए भी दृष्टिक्रम से छोटे-बड़े हैं। सबसे दक्षिण का षडक्षर गायत्रीवृत्त (मकरवृत्त) सबसे छोटा है, इससे उत्तर के सप्त-अष्ट-नव-दश-एकादश-द्वादशाक्षर उष्णिक-अनुष्टुप्-बृहती (विष्वद्वृत्त) पंक्ति-त्रिष्टुप्-जगती (कर्कवृत्त) ये ६ वृत्त क्रमशः उत्तरोत्तर बड़े हैं। इन सात बड़े-छोटे वृत्तों में २८ नक्षत्र भुक्त हैं। इन नक्षत्रों के सम्बन्ध से सप्तवृत्तात्मक खगोल में तीन मार्गों की कल्पना हुई है। उत्तरपरमक्रान्तिस्थानीय जगतीवृत्त, दक्षिणपरमक्रान्तिस्थानीय गायत्रीवृत्त एवं क्रान्तिसम्पातस्थानीय मध्यस्थ बृहतीवृत्त इन तीन वृत्तों में विभक्त खगोलीय मार्ग क्रमशः ऐरावत (हाथी), वैश्वानर (बकरा), जरद्गव

(बुड्ढा बैल) इन तीन पशुओं से समतुलित है। ऐरावत हाथी सबसे बड़ा है, इससे छोटा जरद्गव है, इससे छोटा वैश्वानर पशु है। ठीक यही स्थिति जगती–बृहती–गायत्रीवृत्तयुक्त नाक्षत्रिक मार्गों की है। इसी आधार पर बृहती से उत्तर का नाक्षत्रिक राजमार्ग 'ऐरावतमार्ग' नाम से, स्वयं मध्यस्थ बृहतीमार्ग **'जरद्गवमार्ग'** नाम से एवं दक्षिण का मार्ग **'वैश्वानरमार्ग'** नाम से व्यवहृत हुआ है।

मार्ग राजपथ है। राजपथ में वीथियाँ (गलियाँ) हुआ करती हैं। उक्त तीनों नाक्षत्रिक मार्गों में प्रत्येक में अश्विन्यादि तीन-तीन नक्षत्रों के सम्बन्ध से तीन-तीन वीथियाँ भुक्त हैं। तीनों नाक्षत्रिक मार्गों में भुक्त ९ वीथिसमष्टि ही आदि–मध्य–अन्त नाड़ीत्रयी की मूल प्रतिष्ठा है। जैसा कि गीताभूमिकान्तर्गत कर्म्मयोगपरीक्षा खण्ड के **'यज्ञोपवीतसंस्कारोपपत्ति'** परिच्छेद में विस्तार से प्रतिपादित है। प्रकृत में इन ९ वीथियों के सम्बन्ध में केवल यही बतलाना है कि, सबसे उत्तर की **'नागवीथी'** देवयानमार्ग का उपक्रम है एवं सबसे दक्षिण की **'अजवीथी'** पितृयाणमार्ग का उपक्रम है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। मार्गत्रयावच्छिन्न नववीथ्यात्मक खगोल ही पृथिवीलोक है। इसे लक्ष्य बनाकर उत्तर–दक्षिण लोकों का समन्वय करना है। निम्नलिखित परिलेख से प्रस्तुत वीथि–स्वरूप गतार्थ हो जाता है।

विष्वद्वृत्त से उत्तरध्रुवपर्य्यन्त ९० अंशात्मक आकाश–प्रदेश बतलाया गया है। इसमें २४ अंशात्मक प्रदेश तो पूर्वोक्त पृथिवीलोक में भुक्त है। शेष ६६ अंशात्मक आकाशप्रदेश बच रहता है। इसके '४२–२४' भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। क्रान्तिवृत्त की उत्तरपरमक्रान्ति ऐरावतमार्गभुक्त अन्त की नागवीथी है। इस नागवीथी से, किंवा विष्वदुत्तरीय २४वें अंश से आगे से २५वें अंश से आरम्भ कर ६६वें अंश तक का ४२ अंशात्मक आकाशप्रदेश ही आत्मगतित्रैलोक्य का अन्तरिक्षलोक है। इस लोक की अन्तिम (उत्तर) सीमा पर सप्तर्षिमण्डल प्रतिष्ठित है। इस नाक्षत्रिक स्थिति से यह निष्कर्ष निकलता है कि, नागवीथी से उत्तर, सप्तर्षिमण्डल से दक्षिण सूर्य्य का उत्तरपथात्मक ४२ अंशात्मक प्रदेश ही अन्तरिक्ष है, यही गतिपरिभाषा में **'देवयानः पन्थाः'** है, जैसा कि निम्नलिखित पुराणवचन से प्रमाणित है—

नागवीथ्युत्तरं यच्च सप्तर्षिभ्यश्चदक्षिणम् ।
उत्तरः सवितुः पन्था देवयान इति स्मृतः ।।

२४ अंशभुक्त हुए विष्वद्वृत्तीय पृथिवीलोक में, ४२ अंशभुक्त हुए देवयानात्मक अन्तरिक्ष में, ९० से शेष रहे उत्तर के २४ अंश। इन २४ अंशों के व्यासार्द्ध से एक वृत्त बनाइए। ४८ अंशात्मक विष्कम्भ (व्यास) का वृत्त बन जायगा। इसी वृत्त के केन्द्र में ध्रुव प्रतिष्ठित है। उत्तरध्रुव के २४वें अंश के अन्तर पर २४ अंश के व्यासार्द्ध से बने वृत्त पर ही सप्तर्षि परिक्रमा लगा रहे हैं। सप्तर्षिपरिक्रमामण्डलभुक्त आकाश प्रदेश ही आत्मगति त्रैलोक्य का तीसरा द्युलोक है, यही स्वर्गलोक है। इस प्रकार '२४–४२–२४' भेद से उत्तरीय ९० अंशात्मक आकाश 'पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ' भेद से त्रैलोक्यरूप में परिणत हो रहा है।

अब क्रमप्राप्त दक्षिणभागस्य ९० अंशात्मक आकाशप्रदेश का समन्वय कीजिए। दक्षिण के २४ अंश तो पूर्वकथनानुसार पृथिवीलोक में ही भुक्त है। पृथिवीलोक के दक्षिणान्त भाग में वैश्वानरमार्गभुक्ता अजवीथी प्रतिष्ठित हैं। इस अजवीथी से दक्षिण, दूसरे शब्दों में वैश्वानरमार्ग से बाहर ६६वें अंशपर्य्यन्त ४२ अंशात्मक आकाश पितृत्रिलोकी का अन्तरिक्षलोक है। इसके अन्त में अगस्त्य नक्षत्र प्रतिष्ठित है। अगस्त्य से उत्तर–अजवीथी से दक्षिण भाग में प्रतिष्ठित यही अन्तरिक्ष **'पितृयाणः पन्थाः'** है। अगस्त्य से आगे का २४ अंशात्मक प्रदेश ही पितृस्वर्गात्मक द्युलोक है। सूर्य्यानुगता चान्द्रज्योतिर्युक्त अर्द्धभाग पितृस्वर्ग है, इससे आगे का अर्द्धभाग नरक है। पितृयाण के इसी स्वरूप को लक्ष्य में रख कर भगवान व्यास ने कहा है—

उत्तरं यदगस्त्यस्य अजवीथ्याश्चदक्षिणम् ।
पितृयाणः स वै पन्था वैश्वनरपथाद्बहिः ।।

४२ अंशात्मक देवयानमार्गात्मक उत्तर आकाश देवयानान्तर्गत **देवपथ** है। विद्यासमुच्चितप्रवृत्तिकर्म्मानुगत उत्क्रान्त आत्मा इसी देवपथाकाश के द्वारा देवस्वर्गगति का भोक्ता बनता है। ४२ अंशात्मक उत्तरमार्ग की उत्तर सीमा, उत्तरध्रुवानुगत २४ अंशात्मक उत्तर ध्रुव परिभ्रमणमार्ग की दक्षिणसीमारूप

आकाश देवयानान्तर्गत **'ब्रह्मपथ'** है। निवृत्तिकर्म्मानुगत उत्क्रान्त आत्मा इसी ब्रह्मपथ द्वारा ध्रुवानुगत पारमेष्ठ्य विष्णुपद से अभिन्न ब्रह्म से सायुज्यभाव प्राप्त कर लेता है।

४२ अंशात्मक पितृयाणमार्गात्मक दक्षिणाकाश पितृयाणमार्गान्तर्गत **पितृपथ** है। विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्मानुगत उत्क्रान्त आत्मा इसी पितृपथाकाश द्वारा पितृस्वर्गगति (चान्द्रज्योति) का भोक्ता बनता है। ४२ अंशात्मक दक्षिणमार्ग की दक्षिण सीमा, दक्षिणध्रुवानुगत २४ अंशात्मक दक्षिणध्रुव परिभ्रमण मार्ग की उत्तरसीमारूप आकाश पितृयाणान्तर्गत **यमपथ** है। असत्कर्म्मानुगत उत्क्रान्त आत्मा इसी यमपथ द्वारा ध्रुवानुगत याम्य नरकगति का अनुगामी बनता है। इस प्रकार इतरनिमित्तवत् आकाशनिमित्त भी ब्रह्मपथादि चतुष्टयी से युक्त हो रहा है। आत्मगतित्रैलोक्यात्मक, देव-पितृत्रिलोकीगर्भित आकाशनिमित्त का यही संक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है।

अयमत्रसंग्रहः—
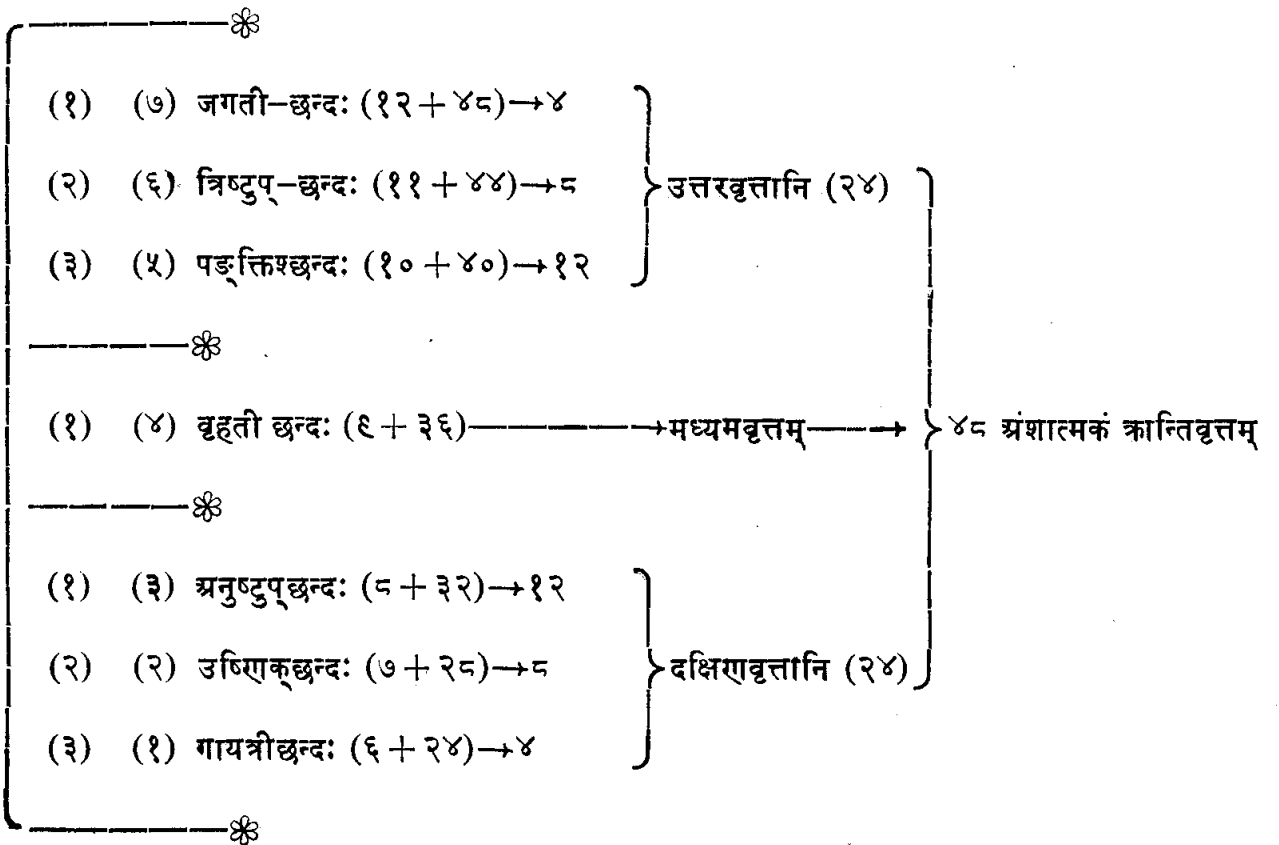
दक्षिणभागस्य

विष्वद् दक्षिण ध्रुव २४ अंश तो पृथिवीलोक में भुक्त है। ६६वें अंशप्रर्य्यन्त ४२ अंशात्मक आकाश पितृत्रिलोकी का **आन्तरिक्ष लोक** है। इसके अन्त में अगस्त्य नक्षत्र प्रतिष्ठित है। अगस्त्य से उत्तर में यही अन्तरिक्ष 'पितृयाणः पन्थाः' है। इससे आगे २४ अंशात्मक प्रदेश ही पितृस्वर्गात्मक **द्युलोक** है। असत्कर्म्मानुगत उत्क्रान्त आत्मा उल्लेखित **यमपथ** (पितृयाणान्तर्गत) द्वारा ध्रुवानुगत याम्य नरकगति का अनुगामी बनता है।

उत्तरभागस्य

विष्वद्वृत्त से उत्तर ध्रुव पर्य्यन्त ९० अंशात्मक आकाशप्रदेश में २४ अंशात्मक प्रदेश **पृथिवीलोक** में भुक्त होता है। २५वें अंश से ६६वें अंश तक का ४२ अंशात्मक आकाशप्रदेश **आन्तरिक्षलोक** है। इसी लोक की अन्तिम (उत्तर) सीमा पर सप्तर्षिमण्डल प्रतिष्ठित है। गति परिभाषा में यही देवयानः पन्थाः है तथा सप्तर्षि-परिक्रमा मण्डल भुक्त यही आकाशवृत्त **द्युलोक है**।

भूपिण्डानुगत आकाश परिलेखः
(आत्मगति त्रैलोक्य)

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय, 'मानवाश्रम', जयपुर।

आत्मगति त्रैलोक्य परिलेखः—

उत्तर ध्रुव से ९० अंश पर, दक्षिण ध्रुव से भी ९० अंश पर प्रतिष्ठित मध्यस्थ दृश्य (विष्वद्वृत्त के ठीक मध्य में) सूर्य्य प्रतिष्ठित है। इसी दृश्य अर्द्ध खगोल के साथ आत्मगति त्रैलोक्य का प्रधान सम्बन्ध है। ९० अंशात्मक उत्तर खगोलीय प्रदेश के ६६–२४ ये मुख्य विभाग हैं। इसमें २४ अंशात्मक प्रदेश १२–८–४ क्रम से तीन विवर्त्तों में विभक्त रहता है। ये ही तीन वृत्त, ठीक इसी अनुपात से विष्वद् से दक्षिण के २४ अंशों में प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार ४८ अंश के परिसर में भुक्त सूर्य्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र भुक्त यही हिरण्मयाण्ड आत्मगति त्रैलोक्य 'पृथिवी' लोक है। इस पृथिवीलोक की परिधि ही क्रान्तिवृत्त है, जिस पर एक सम्वत्सर में हमारा भूपिण्ड पूरी परिक्रमा लगा लेता है। उत्तर में ४२ अंशात्मक देवयान पन्था अन्तरिक्षलोक है एवं २४ अंशात्मक द्योलोक है जिसे देवस्वर्ग कहते हैं। दक्षिण में ४२ अंशात्मक पितृयाण पन्था अन्तरिक्षलोक है एवं २४ अंशात्मक द्योलोक है जिसे पितृस्वर्ग कहते हैं।

उत्तरायण–दक्षिणायनानुगतः आकाशपरिलेखः—
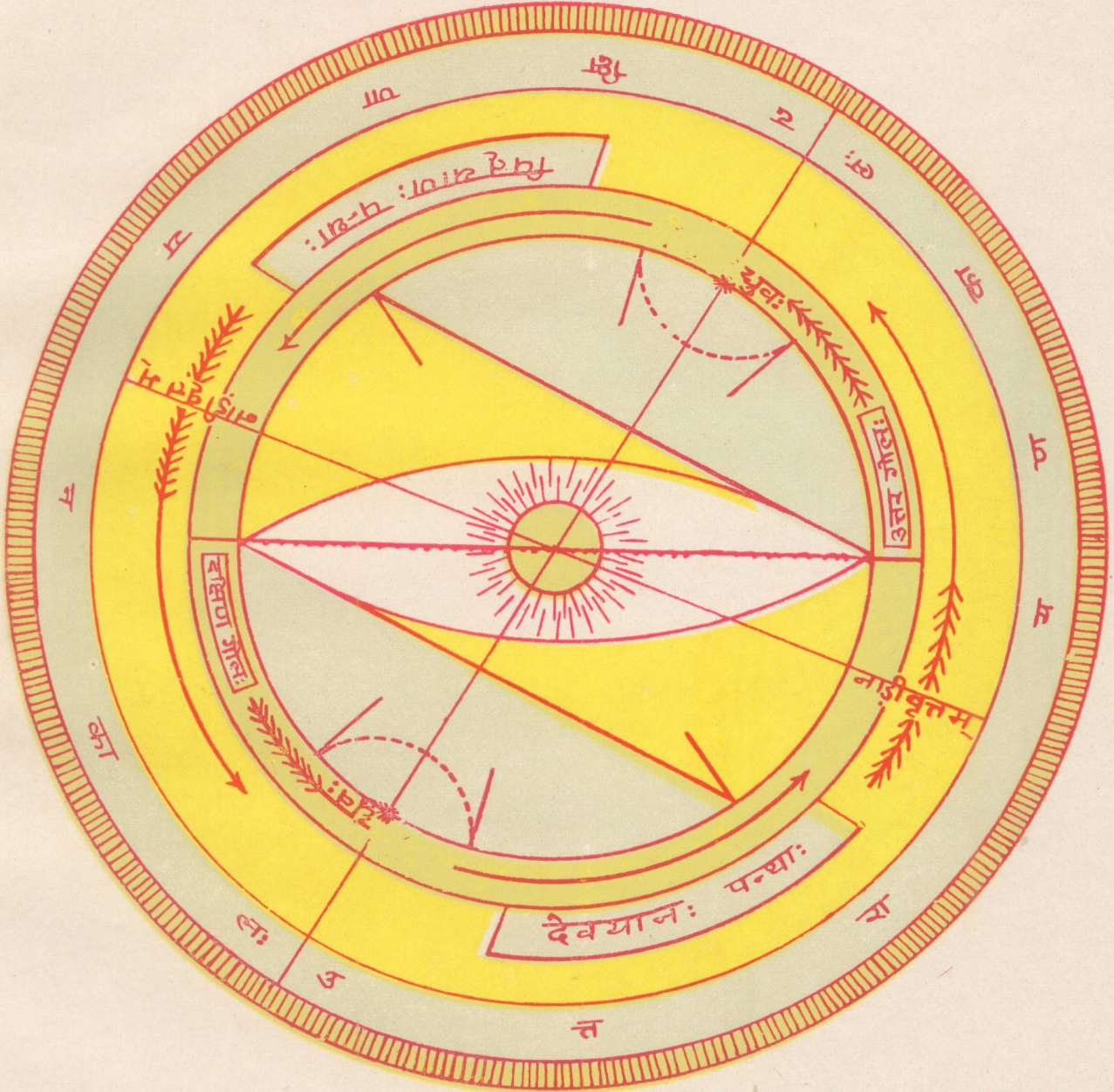
४२ अंशात्मक देवयान मार्गात्मक उत्तराकाश 'देवपथ' है। विद्यासमुच्चित प्रवृत्ति कर्म्मानुगत उत्क्रान्त आत्मा इसी मार्ग के द्वारा देवस्वर्गगति को भोग करता है। इसी प्रकार ४२ अंशात्मक पितृयाणमार्गात्मक दक्षिणाकाश 'पितृपथ' है जिसका अनुगमन सत्कर्म्मानुगत उत्क्रान्त आत्मा करता है। इन्हीं मार्गों का स्वरूप प्रस्तुत परिलेख में उल्लिखित है।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय जयपुर।

१
(७) १—व्यानग्रन्थिविमोकलक्षणा समवलयरूपा अनुतक्रान्तिगतिः (परामुक्तिः)
(६) २—सूक्ष्मशरीरविमोकलक्षणा रश्म्यनुसारिणी उत्क्रान्तिगतिः (परामुक्तिः)
→सद्योमुक्ति
२
(५) १—सूक्ष्मशरीरविमोकलक्षणा ब्रह्मपथानुगता क्रमगतिः (अपरामुक्तिः)
(४) २—देवस्वर्गावाप्तिमूला देवपथानुगता क्रमगतिः (देवस्वर्गभुक्तिः)
३
(३) ३—पितृस्वर्गावाप्तिमूला पितृपथानुगता क्रमगतिः (पितृस्वर्गभुक्तिः)
(२) ४—नरकावाप्तिमूला यमपथानुगता क्रमगतिः (यमपाशानुगतिः)
→ क्रमगतिः (आकाशनिमित्तभूता)
१
(१) १—असूर्यलोकावाप्तिमूला पथवञ्चिता अनुत्क्रान्तिगतिः (जड़त्वानुगतिः)
अनुत्क्रान्तिः (अगतिः)
१
(७) १—अनुत्क्रान्तिगतिः (अगतिः)——→भूमोदर्कभावानुगतबुद्धियोगनिमित्तभूता
(६) २—उत्क्रान्तिगतिः (क्षणगति)——→क्षीणोदर्कभावानुगतबुद्धियोगनिमित्तभूता
→ब्रह्मगतिः
२
(५) १—ब्रह्मपथानुगतागतिः——→निवृत्तिकर्म्मानुगता (ज्ञानयोगनिमित्तभूता)
(४) २—देवपथानुगतागतिः——→विद्यासापेक्षप्रवृत्तिकर्म्मनिमित्तभूता
(३) ३—पितृपथानुगतागतिः——→विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिकर्म्मनिमित्तभूता
(२) ४—यमपथानुगतिः——→विरुद्धकर्म्मनिमित्तभूता
→देवगतिः
३
(१) १—असुर्य्यगतिः (अगतिः)→आत्मविकासप्रतिबन्धककर्म्मनिमित्तभूता
→असुरगतिः

१—विद्यासमुच्चितकर्म्मानुगतः—ज्योतिर्म्मयः—'आकाशः'——→**देवयानः पन्थाः** ।
२—विद्यानिरपेक्षकर्म्मानुगतः—तमोमयः—'आकाशः'——→**पितृयाणः पन्थाः** ।
१ | १ विद्यासमुच्चितप्रवृत्तिकर्म्मानुगतः—सौरज्योतिर्म्मयः—४२ अंशात्मकः—**उत्तराकाशः**————→देवयानान्तर्गतो **'देवपथः'** [१]
(देवस्वर्गगतिनिमित्तभूतः)
२ | १ विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्मानुगताः—चान्द्रज्योतिर्म्मयः—४२ अंशात्मकः—**दक्षिणाकाशः**→पितृयाणान्तर्गतः—**'पितृपथः'** [२]—
(पितृस्वर्गगतिनिमित्तभूतः) ।
३ | १–विद्यासापेक्षनिवृत्तिसत्कर्म्मानुगतः
२–विद्यानिरपेक्षनिवृत्तिसत्कर्म्मानुगतः
३–लौकिकनिवृत्तिसत्कर्म्मानुगतः
ज्ञानज्योतिर्लक्षणः–उत्तरध्रुवमण्डलावच्छिन्न–**उत्तराकाशः**→देवयानान्तर्गतो–**'ब्रह्मपथः'** [३]
(क्रममुक्तिगतिनिमित्तभूतः)
४ | १–लौकिकनिरर्थककर्म्मानुगतः
२–लौकिकविरुद्धकर्म्मानुगतः
३–लौकिकस्वार्थकर्म्मानुगतः
→असुर्य्यलक्षणः–दक्षिणध्रुवमण्डलोपलक्षित–**दक्षिणाकाशः**→पितृयाणान्तर्गतो–**'यमपथः'** [४]
(नरकगतिनिमित्तभूतः) ।

(ज) लोकाः (आत्मगतिस्थानानि)

आत्मगतिनिमित्तभूत 'लोक' के सम्बन्ध में आज अनेक प्रवाद प्रचलित हैं। कितने एक शास्त्रभक्तों के मुख से भी इस सम्बन्ध में यह कहते सुना गया है कि, स्वर्ग–नरकादि जो लोक सुने जाते हैं, वे सब इसी लोक (भूलोक) से सम्बन्ध रखते हैं। पुण्यात्माओं का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है, उनके लिए यही लोक स्वर्ग है एवं पापात्मा दुःखी रहते हैं तथा उनके लिए यही लोक नरक है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, पुण्यात्मा-पापात्मा यहाँ क्रमशः सुखी-दुःखी रहते हैं। परन्तु एतावता ही इसी लोक में स्वर्ग-नरकादि लोकों का अन्तर्भाव मानकर भूलोकातिरिक्त नित्य सिद्ध प्राकृतिक स्वर्गादि लोकों की सत्ता में अविश्वास करना सर्वथा विरुद्ध है। **'अयं च लोकः परश्चलोकः'** इत्यादि रूप से जब शास्त्र लोक परलोक का पार्थक्य बनता रहा है, मानना पड़ेगा कि स्थूलशरीर से उत्क्रान्त आत्मा कर्म्मानुसार उक्त आत्मगति निमित्तों को अपनाता हुआ अवश्यमेव शुभाशुभ लोकों में पहुँचता है। प्रकृत प्रकरण में उत्क्रान्त आत्मा के उन गन्तव्य स्थानों का ही दिग्दर्शन कराना है। भूलोक से उत्क्रान्त आतिवाहिक सूक्ष्म शरीरधारी आत्मा किन-किन लोकों में गमन करता है ? इस प्रश्न का समाधान ही प्रस्तुत प्रकरण निष्कर्ष है। कर्म्मभेद व्यवस्थित है, मार्गभेद से लोकगतिभेद व्यवस्थित है। कर्म्मभेदानुगता आत्मगति के भेद से लोकगतियों के अनेक विवर्त्त हो जाते हैं। सामान्यदृष्टि से उन सब लोकगतियों का निम्नलिखित रूप से तीन तरह से वर्गीकरण किया जा सकता—

क–नित्यगतिः

ख–क्रमगतिः

ग–अगतिगतिः

क—नित्यगतिः

तीनों में से क्रमप्राप्त पहले नित्यगति की ओर ही गतिप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। पूर्व में 'नाड़ी' निमित्त का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, हृदयस्थान से आरम्भ कर ब्रह्मरन्ध्र द्वारा (सौररश्म्यवच्छेदेन) सूर्य्यकेन्द्रपर्य्यन्त सुषुम्णा नाड़ीमार्ग प्रतिष्ठित है। इस सुषुम्णा-नाड़ीरूप उभयनिष्ठ (सूर्य्य तथा प्राणीनिष्ठ) महापथ के द्वारा सौरविज्ञानतत्व का गमनागमन बना रहता है। इस सौरतत्त्व की दो तरह से अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठा रहती है। सौर प्रवर्ग्यांश विज्ञानात्म रूप से कर्म्मात्म विशिष्ट उस चान्द्र प्रज्ञानात्मा पर अन्तर्य्याम सम्बन्ध से अध्यात्म में प्रतिष्ठित हो जाता है, जो कि प्रज्ञानात्मा **'हृत् प्रतिष्ठं यदजिरंजविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'** इत्यादि यजुर्म्मन्त्रानुसार हृदय में प्रतिष्ठित है। **'स वा एष विज्ञानात्मा सम्परिष्वक्तः'** (बृ.आ. ४।४।२२) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति के अनुसार हृदय में प्रतिष्ठित प्रज्ञानमन से सम्परिष्वक्त यह विज्ञानात्मा हृदय से चल कर कण्ठस्थ तेजोनाड़ी

(उदानप्राणात्मिका नाड़ी) द्वारा दक्षिणचक्षुपर्य्यन्त अनुधावन करता हुआ 'दक्षिणाक्षिपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है। इसी चाक्षुषपुरुष को लक्ष्य में रख कर कहा गया है—'**यो ऽ सावादित्ये पुरुषः, सो ऽ हम्**'। इस चाक्षुषपुरुष के अतिरिक्त सौर विज्ञानतेज पूर्वोक्त सुषुम्णामार्ग द्वारा ही बहिर्य्याम सम्बन्ध से भी आकर चाक्षुषपुरुष के साथ सम्बन्ध बनाए रहता है। यह आगन्तुक सौरविज्ञानतत्त्व ही प्रत्यगात्मा के जीवन (आयु) की प्रतिष्ठा है। पुरुष के स्वस्वास्तिक से ऊर्ध्ववितत सप्तवर्णात्मिका सौर नाड़ीयुक्त महापथ द्वारा आयुः प्रवर्त्तक, आयुः प्रदात्मा यह आगन्तुक विज्ञानतत्त्व निमेषमात्र में अध्यात्म से सूर्य्यकेन्द्र में चला जाता है, वहाँ निमिषमात्र ठहरता है, एवं वहाँ से मनःप्राणवाङ्मय (ज्ञानक्रियार्थमय) आयुर्लक्षण जीवनीयरस से संयुक्त होकर निमिषमात्र में वापस अध्यात्मसंस्था में लौट आता है। इस प्रकार जब तक आयुःसूत्रविच्छेदक याम्यप्राण का पुरुष के महापथ पर आक्रमण नहीं हो जाता, तब तक यह आगन्तुक विज्ञानात्मा अहरहः प्रतिक्षण आता–जाता रहता है। यही नित्य स्वर्गगति है। यही नित्यस्वर्गगति जीवन सत्ता का कारण है। जिस क्षण गमनागमनरूपा इस विज्ञानगति का विच्छेद हो जाता है, उसी क्षण विज्ञानात्मा प्राण-देवताओं के साथ उसी महापथ द्वारा स्वज्योति में विलीन हो जाता है। प्रत्यगात्मा कर्म्मगति भोगार्थ देवयानादि मार्गों का आश्रय ले लेता है। अहरहर्लक्षण विज्ञानात्मानुगता इसी नित्यगति को लक्ष्य में रखते हुए ऋषि ने कहा है—

> **"अहरहर्वा एष यज्ञस्तायते, अहरहः सन्तिष्ठते, अहरहरेनं स्वर्गस्य लोकस्य गत्यै युङ्क्ते, अहरहरेनेन स्वर्गं लोकंगच्छति।"** (शत०ब्रा० ९।४।१।१५)।

उक्त अहरहर्लक्षण नित्यगति के अतिरिक्त एक वार्षिक स्वर्गगति और होती है। चूंकि यह प्रति-सम्वत्सर में नियमित रूप से होती रहती है, अतएव इसे भी नित्यगति ही माना जा सकता है। भूपिण्ड क्रान्तिवृत्त के चारों ओर एक सम्वत्सर में पूरी परिक्रमा लगाता रहता है। वर्ष में दो बार (शरत्सम्पात् एवं वसन्त सम्पात्काल में) भूपिण्ड मध्यस्थविष्वद्वृत्त से युक्त होता है, यही क्रान्तिसम्पातकाल माना गया है। विष्वद्वृत्त ही सूर्य्य सम्बन्ध से स्वर्गलोक है। इसमें उत्तरायणषण्मासों में ही सौरप्राण का विकास रहता है। उत्तरायणषण्मासात्मक परिभ्रमण सम्बन्धी वसन्त ही सौरतत्त्व सम्बन्ध से स्वर्गलोक माना गया है। भूपृष्ठ पर अस्मदादि प्रजावर्ग प्रतिष्ठित है। फलतः वसन्त सम्पातानुगत विष्वद्वृत्तीय स्वर्गपृष्ठ के साथ भूपिण्ड द्वारा प्रति सम्वत्सर में एक बार हमारा भी सम्बन्ध हुआ करता है। इसी साम्वत्सरिक नित्यस्वर्गगति का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान याज्ञवल्क्य ने कहा है—

> **"एतं वा ऽ एते गच्छन्ति षड्भिर्मासै—**
> **र्य एष तपति, ये सम्वत्सरमासते।"** (शत० ४।६।२)।

विज्ञानात्मानुगता अहरहर्लक्षण नित्यस्वर्गगति आयुःस्वरूपरक्षिका है, शरीरानुगता सम्वत्सरलक्षणा षाण्मासिकी नित्यस्वर्गगति प्रतिष्ठारक्षिका है। चूंकि इन दोनों ही स्वर्गगतियों का प्रत्यगात्मा के साथ बहिर्य्याम सम्बन्ध है। अतएव इन स्वर्गगतियों से न तो जीवनदशा में ही प्रत्यगात्मा को स्वर्गसुखावाप्ति

होती एवं न उत्क्रान्त प्रत्यगात्मा स्वर्गलोक का ही अधिकारी बन सकता। पापात्मा–पुण्यात्मा, सबके लिए दोनों नित्यगतियाँ समान हैं। यदि प्रत्यगात्मा बुद्धियोगानुष्ठान द्वारा उस सौषुम्णा विज्ञान के साथ अन्तर्य्याम सम्बन्ध से युक्त हो जाता है, तो आयुर्भोगानन्तर—**'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यंगच्छति'** के अनुसार वह रश्म्युनुसारी बनता हुआ उसी सुषुम्णापथ से सूर्य्यभेदी ही बन जाता है। एवमेव **'गवामयनसत्र'** नामक कर्म्मानुष्ठान से उक्त सम्वत्सरतत्त्व का भी प्रत्यगात्मा के साथ अन्त्यर्याम सम्बन्ध हो जाता है एवं उस दशा में प्रत्यगात्मा उत्क्रान्ति के अनन्तर सम्वत्सर स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है। बिना इन उपायों के प्रत्यगात्मा उन क्रमगतियों का ही अनुगमन करता है, जिनका क्रमशः स्पष्टीकरण होने वाला है। **'आत्मगति'** शब्द से मुख्यतः प्रत्यगात्मगति ही अभिप्रेत है एवं अहरहर्गति का प्रधानतः विज्ञानात्मगति से सम्बन्ध हैं, तथा सम्वत्सरगति का प्रधानतः (परम्परया) शरीरगति से सम्बन्ध से है। अतः इन दोनों नित्यगतियों को हम 'आत्मगति' मर्य्यादा से बहिर्भूत मानेंगे। ये दोनों प्राकृतिक गतियाँ हैं। प्रत्यगात्मा के शुभकर्म्म से इनमें कोई वैशिष्टच उत्पन्न नहीं होता एवं अशुभकर्म्म से इन गतियों का अवरोध नहीं होता। वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञसमष्टिलक्षण विज्ञानात्म प्रधान मानववर्ग के साथ अहरहर्गगति का तथा सम्वत्सरगति का, दोनों का सम्बन्ध है एवं इतर विज्ञानशून्य चेतनप्राणियों के साथ केवल सम्वत्सरगति का सम्बन्ध है। बुद्धियोगात्मक उपाय का मनुष्यमात्र से सम्बन्ध है एवं गवामयनसत्रात्मक उपाय का ब्रह्मक्षत्रविड्वीर्य्यात्मिका केवल भारतीय मानवप्रजा (द्विजाति) से सम्बन्ध है। यही नित्यगति का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

१—अहरहर्गतिः→विज्ञानात्मानुगता
२—सम्वत्सरगति→शरीरानुगता
} →**नित्यगतिः (१)**

(इति नित्यगतिनिरुक्ति)

ख—क्रमगतिः

दूसरी क्रमप्राप्त क्रमगति है। इस क्रमगति के **१—पञ्चत्वगति, २—संसृतिगति, ३—मुक्तिगति** भेद से तीन प्रधान विवर्त्त हैं। पहली 'पञ्चत्वगति' नाम की क्रमगति के "**१—आत्मपञ्चत्वगतिः**, "**२—देवपञ्चत्वगति, ३—भूतपञ्चत्वगति**" ये तीन प्रधान विवर्त्त हैं, दूसरी संसृतिगति नाम की क्रमगति के "**१–सद्गति, २–दुर्गति, ३–योनिगति**" भेद से तीन प्रधान विवर्त्त हैं। तीसरी क्रमप्राप्त मुक्तिगति नाम की क्रमगति के "**१–परामुक्तिगति, २–अपरामुक्तिगति**" ये दो प्रधान विवर्त्त हैं। आगे जाकर इनके अवान्तर असंख्यभेद हो जाते हैं, जैसा कि पाठक तत्तद्गति निरुक्ति प्रकरणों में देखेंगे। सुविधा के लिए यहाँ क्रमगति से सम्बन्ध रखने वाले प्रधान-प्रधान विवर्त्त तालिका रूप से उद्धत कर दिए जाते हैं—
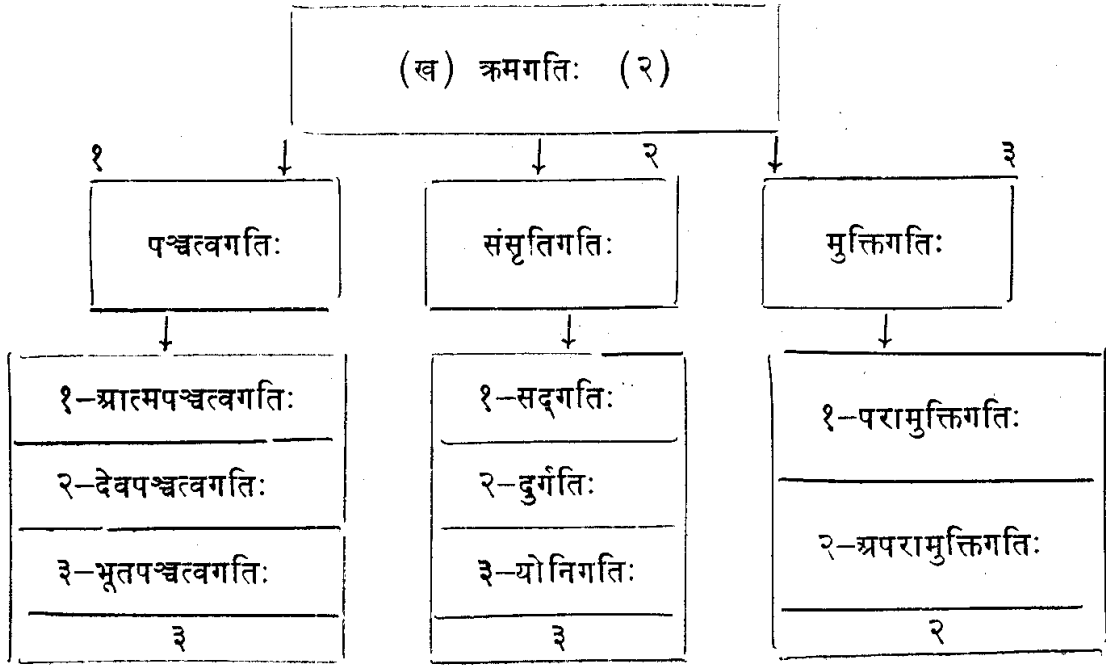
पञ्चत्वगतिलक्षणाक्रमगतिः

अध्यात्मसंस्था 'प्राजापत्यसंस्था' है। **'आत्मा, प्राणाः, पशवः'** की समष्टि ही प्रजापति है। हृदयस्थ चिद्घनत्व 'आत्मा' हैं, यही उक्थ है। उक्थ आत्मबिम्ब से विनिःसृत अर्क (**रश्मि**) भाव 'प्राणाः' हैं। अर्कप्राणमण्डल में भुक्त मर्त्य-पञ्च अशिति-लक्षण पशवः हैं। आत्मा **'जीव'** हैं, प्राणाः **'इन्द्रियाणि'** है, पशवः **'शरीरम्'** है। जीव **'ब्रह्म'** है, इन्द्रियाणि **'देवताः'** है, शरीरं **'भूतानि'** हैं। आत्मा स्वमहिमा में प्रतिष्ठित हैं, देवताः आत्ममहिमा में प्रतिष्ठित हैं एवं भूतानि देवमहिमा में प्रतिष्ठित हैं। आत्मा (प्रत्यगात्मा) का प्रभव ईश्वरीय देवसत्य है, देवताः का प्रभव स्तौम्य अग्नीषोम है, भूतानि का प्रभव पार्थिवपञ्चमहाभूत वर्ग है। एतत्त्रितय समष्टि ही 'अध्यात्मम्' है, यही जीवप्रजापति है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

(१) १—आत्मा	२—प्राणाः	३—पशवः (१)
(२) १—उक्थम्	२—अर्काः	३—अशितयः (२)
(३) १—जीवः	२—इन्द्रियाणि	३—शरीरम् (३)
(४) १—ब्रह्म	२—देवताः	३—भूतानि (४)
ईश्वरीय देवसत्यः प्रभवः	स्तोम्याग्निषोमौ प्रभवौ	पार्थिवपञ्चमहाभूतानि प्रभवभूतानि
इति नु—अध्यात्मम् — जीवप्रजापतिः		

जीवप्रजापतिविवर्त्त से सम्बद्ध आत्मा, इन्द्रियवर्ग, भौतिकशरीर तीनों की क्रमशः **आत्मगति, इन्द्रियगति, शरीरगति** ये तीन क्रमगतियाँ होती हैं। सञ्चित कर्म्मसंस्कारों का आत्मा के साथ सम्बन्ध रहता है। इन संस्कार प्रतिबन्धकों से जीवात्मा उत्क्रान्त होने पर स्वप्रभव में विलीन नहीं हो सकता, अपितु इसे स्वकर्म्मानुसार शुभाशुभ लोक विशेषों का अनुगमन करना पड़ता है। 'प्रत्यगात्मा' नामक जीवात्मा के अतिरिक्त अध्यात्म संस्था में आत्मपञ्चक और प्रतिष्ठित रहता है। स्वायम्भुव आत्मा **'अव्यक्तात्मा'** है, पारमेष्ठ्य आत्मा **'यज्ञात्मा'** है, इसका अव्यक्तात्मा में ही अन्तर्भाव है। सौर आत्मा **'विज्ञानात्मा'** है। चान्द्र श्रद्धारसमय आत्मा **'महानात्मा'** है। चान्द्र अन्नरसमय आत्मा **'प्रज्ञानात्मा'** है, **पार्थिव वैश्वानर** अग्निरसमय (इरारसमय) आत्मा **'भूतात्मा'** है। इस प्रकार अव्यक्तयज्ञात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा भेद से खण्डात्मसंस्था में पाँच आत्मविवर्त्त भुक्त हैं यही आत्मपञ्चक है। जब वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञलक्षण कर्म्मात्मा (जीव) शरीर से उत्क्रान्त हो जाता है, तो अव्यक्तयज्ञात्मा **स्वप्रभव** परमेष्ठीयुक्त स्वयम्भू में अपीत हो जाता है। विज्ञानात्मा सूर्य्य में, महान्प्रज्ञान चन्द्रमा में एवं भूतात्मा स्तौम्यपार्थिव त्रिलोकी में अपीत हो जाता है। यही पहली **'आत्मपञ्चत्वगति'** है।

स्तौम्य **अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्सोम, भास्वरसोम** इन पाँच अग्निषोमीय देवताओं से क्रमशः **वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, इन्द्रियमन** इन पाँच इन्द्रिय देवताओं का आविर्भाव हुआ है। जीवात्मोत्क्रान्त्यनन्तर पाँचों इन्द्रिय देवता स्वप्रभवभूत प्राकृतिक पाँचों अग्निषोमीय देवताओं में अपीत हो जाते हैं। यही दूसरी **'देवपञ्चत्वगति'** है। **पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश** ये पाँचों भूत शरीर पाँचों भूतों के प्रभव हैं। उत्क्रान्त्यनन्तर होने वाले शवदाह कर्म्म से पाँचों शारीरभूत स्वप्रभवभूत पाँचों पार्थिव भूतों में विलीन हो जाते हैं यही तीसरी **'भूतपञ्चत्वगति'** है। इस प्रकार जीवात्माधिकार में भुक्त आत्म–देव–भूतपञ्चकों का स्वप्रभवपञ्चकों में विलीन हो जाना ही पञ्चगतिर्लक्षणा पहली क्रमगति है। मूर्ख–विद्वान, पापी–पुण्यात्मा, सब के लिए तीनों गतियाँ समान हैं। कर्म्मानुगता शुभाशुभभावोपेता प्रत्यगात्मानुबन्धिनी आत्मगति जहाँ विशेष गति है, वहाँ ये तीनों पञ्चत्वगतियाँ अविशेष बनती हुई प्रकरण प्राप्त आत्मगति-मर्य्यादा से पूर्वोक्त नित्यगतिवत् बहिर्भूत है।

२—संसृतिगतिलक्षणा–क्रमगतिः

खण्डात्मपञ्चक, देवपञ्चक, भूतपञ्चक तीनों की पूर्वकथनानुसार जब पञ्चत्वगति हो जाती है, तो उत्क्रान्त प्रत्यगात्मा (प्रेतात्मा) की क्या स्थिति होती है ? इसे कहाँ गमन करना पड़ता है ? इत्यादि प्रश्नों का समाधान इसी संसृतिगति (संसारगति) नामक क्रमगति पर अवलम्बित है। संसृतिगतिलक्षणा

इस दूसरी क्रमगति के **सद्गति, दुर्गति, योनिगति** ये तीन विवर्त्त बतलाए गए हैं। तीनों का क्रमिक निरूपण ही प्रस्तुत प्रकरणार्थ हैं।

क—सद्गतिलक्षणा संसृतिगति (क्रमगतिः)

'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इत्यादि श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यगात्मा सौरत्वघन है। कर्म्मात्मभुक्त चिदंश सौरचित् का ही प्रवर्ग्यभाग है* यह एक विज्ञानसम्मत सिद्धान्त है कि, जो वस्तु (कार्य) जिस वस्तु (कारण) से उत्पन्न होती है, वह उस (कारण) वस्तु के अव्यवच्छिन्न सम्बन्ध से ही प्रसन्न (याथवस्थित) रहती है। कार्य्य का विकास कारणगुणानुगति पर ही निर्भर है। इसी नियम के आधार पर सजातीयाकर्षण सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। सिद्ध है कि सूर्य्य कारण से उत्पन्न कार्य्यरूप जीवात्मा यदि सौरज्यतिर्भाग का अनुगामी बना रहता है, तो इसमें इसका विकास है, यही आत्मा का अभि–उत्–अय-लक्षण (सूर्य्यसम्मुखगमनलक्षण) अभ्युदय है। सूर्य्यसाम्मुख्यानुगता इस आत्मगति में क्रमशः उत्तरोत्तर सौरतेज का उपचय होता है। इस सौरतत्वोपचय से उत्तरोत्तर विकसित भूमाभावानुगत आत्मा अधिकाधिक आनन्द का अनुभव करता है। आत्मसत्ता का उत्तरोत्तर विकास करने वाली, आत्मा को सद्भाव से युक्त करने वाली यह सूर्य्यानुगता आत्मगति अवश्यमेव **'सद्गति'** (सत्ताभावविकासप्रवर्त्तिकागति) नाम से व्यवहृत की जा सकती है।

उत्तरायणकालावच्छिन्न देवयानमार्ग में सौरज्योति की प्रधानता है, अतएव एतन्मार्गानुगता आत्मगति ही सद्गति मानी जायगी। दक्षिणायनकालावच्छिन्न पितृयाणमार्ग में पितृपथ मण्डलपर्य्यन्त सौरज्योति का चन्द्रभुक्त प्रकाश रहता है। अतएव आंशिकरूप से एतन्मार्गानुगता आत्मगति भी सद्गति ही मानी जायगी, जैसाकि पूर्वनिमित्त निरुक्तियों में स्पष्ट कर दिया गया है। ये ही दोनों गन्तव्य स्थान क्रमशः **देवलोक, पितृलोक** नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। चूंकि देवस्वर्गात्मक देवलोक में सौरप्रकाश का वैशिष्ट्य है, अतएव यह गति 'विशिष्टसद्गति मानी जायगी। उधर पितृस्वर्गात्मक पितृलोक में देवलोकापेक्षया प्रकाश (चान्द्रज्योति) स्वल्पमात्रा में प्रतिष्ठित है, अतएव इस गति को 'सामान्य सद्गति' कहा जायगा। इस प्रकार प्रकाशतारतम्य से सद्गति के दो विवर्त्त हो जाते हैं।

देवस्वर्ग सम्बन्ध से ही उत्क्रान्त आत्मा का वास्तविक अभ्युदय होता है। यमपथात्मक सूर्य्यविरुद्ध भाग में जाना आत्मा का प्रत्यवाय है। प्रकाशवञ्चित आत्मा इस मार्ग में तथा गन्तव्य नरकलोक में उत्तरोत्तर दुःखी होता जाता है। यही आत्मस्वरूप हानि है। अभ्युदय शब्द पर दृष्टि डालिए। 'अभि–उत्–अय' ही अभ्युदय है। 'अभि' का अर्थ है—'सूर्य्यदिक् की ओर'। 'उत्' का अर्थ है—'उत्तरमार्ग की ओर'। 'अय' का अर्थ है—'गमन'। सूर्य्यभेदी तो केवल मुक्तात्मा बनता है। इसी रहस्य को व्यक्त करने के लिए ऋषि ने उत् (उत्तर) का सन्निवेश किया है। सूर्य्य की ओर उत्तरमार्ग में गमन करना ही अभ्युदय शब्द निष्कर्ष है। 'प्रति–अव–अय' का अर्थ है—'सूर्य्यविरुद्धदिक् में नीचे की ओर जाना।' सूर्य्य

---

*"**यदा पश्यः पश्यतेरुक्मवर्णम्**" (मुण्डकोपनिषत्)

रोदसी त्रैलोक्य का स्वामी है, अतएव इसे 'इन' (स्वामी) कहा जाता है, जैसा कि—**'इनः सूर्य्ये प्रभौ राजा मृगाङ्के क्षत्रिये नृपे'** इत्यादि अमरवचन से प्रमाणित है। 'अ' कार का अर्थ 'अभाव' है। 'अस्' सत्ता का द्योतक है। वह कर्म्म, जो आत्मा को इन (सूर्य्य) की सत्ता के अभाव में (सूर्य्यविरुद्धदिक् में) ले जाता है, वही प्रत्यवायजनककर्म्म 'एनस्' कहलाया है। एनस्वी पुरुष ही प्रत्यवायप्रवर्त्तक असल्लोकानुगामी बनता है। वक्तव्यांश यही है कि सौर–चान्द्रज्योतिर्भेद से ज्योतिर्लक्षण सद्गति के दो विवर्त्त हो जाते हैं।

१—देवस्वर्गगतिः→विशिष्टसद्गतिः
२—पितृस्वर्गगतिः→सामान्यसद्गतिः
} →सद्गतिलक्षणा संसृतिगतिः (१)

देवस्वर्गनिरुक्तिः—

यद्यपि पूर्व की आकाशनिमित्तनिरुक्ति में स्वर्ग–नरकादि लोकों का दिग्दर्शन कराया जा चुका है, तथापि अभी इस सम्बन्ध में पूरा स्पष्टीकरण नहीं हुआ है। देवस्वर्ग, पितृस्वर्ग नरकादिलोक चर्म्मचक्षुओं से परे की वस्तु है, अतएव उन्हें 'परलोक' कहा गया है। ऐसे परोक्ष स्थानों की सत्ता पर सामान्य लौकिक अर्थपरायण विषयी मनुष्यों को विश्वास नहीं होता। यही कारण है कि, वे उत्पथमार्ग का अनुसरण करते हुए यामी–यातनाओं के पात्र बनते हैं। ऐसे ही स्वार्थाभिमानी मोहजालसमावृत्त नराधम कहा करते हैं कि, इस भूलोक से अतिरिक्त परलोक नाम का कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ दुःखादि का भोग करना पड़ता है। ऐसे नराधम ही बार-बार यमपाश बन्धन के सत्पात्र बना करते हैं। इसी स्थिति का बड़ा सुन्दर चित्रण करते हुए महर्षि कहते हैं—

> **"न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।**
> **'अयं लोकः'–'नास्ति परः' इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे।"**
>
> (कठोपनिषत् १।२।६)

सामान्य मनुष्यों की भाँति भारतीय शास्त्रशिक्षा से वञ्चित तथा इहलोकप्रधाना पश्चिमीशिक्षा से लालित–पालित वर्त्तमान युग के शिक्षित–शिष्ट पुरुष भी परलोक सिद्धान्त को विशुद्ध काल्पनिक वस्तु समझने की भ्रान्ति कर रहे हैं। स्वविज्ञानदृष्टिमद से मत्त बने हुए, प्रत्यक्षानुगता चार्वाकदृष्टि के उपासक बने हुए आज के ये वैज्ञानिक भी यह कहते हुए परलोक सत्ता का उपहास किया करते हैं कि वैज्ञानिकों ने अणुवीक्षण, दूरवीक्षणादि यन्त्रों द्वारा भूगोल–खगोलादि के अणु-अणु का पर्य्यवेक्षण कर डाला है, परन्तु कहीं उन स्वर्गादिलोकों की प्रतिष्ठा नहीं है, जिनका भय दिखा कर हमें लौकिक विषयोपभोगों से रोकने की वृथा चेष्टा की जा रही है। **'पुनः पुनर्वशमापद्यते मे'** सूक्ति को चरितार्थ करने वाले ऐसे विज्ञानधुरीणों के उद्बोधन के लिए तथा श्रद्धालु आस्तिक भारतीयों के श्रद्धादार्ढ्य के लिए विज्ञानदृष्टि से देवस्वर्गादि स्थानों का विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है। अनेकधाविभक्त परलोकों में से क्रमप्राप्त देवस्वर्गात्मक देवलोक की ओर ही उनका ध्यान आकर्षित किया जाता है। **'सुष्ठु–अर्ज्यते'** ही

स्वर्ग शब्द का निर्वचन है, जहाँ पहुँच कर आत्मा शुभभाव का सञ्चय करने में समर्थ होता हुआ सुखी रहता है, वही स्थानविशेष 'स्वर्ग' कहलाया है। देखना यह है कि, वह स्थान कौनसा तथा कहाँ है, जहाँ आत्मा को सुख प्राप्त होता है? **'पञ्चज्योतिरयं पुरुषः'** इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार आत्मपुरुष पाँच ज्योतियों की समष्टि माना गया है। **'सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत्, अग्नि'** भेद से प्राकृतिक भूतज्योति पाँच भागों में विभक्त हैं। पाँचों में प्रधान सूर्य्यज्योति ही मानी गई है। चन्द्रज्योति भी **'अत्रादणोरमन्वत नामाचष्टुरपीत्यम्'**–**'तरणिकिरणसङ्गादेषपानीयपिण्डो दिनकरदिशि चञ्चच्चन्द्रिकाभिश्चकास्ते'** इत्यादि के अनुसार परम्परया सूर्य्यज्योति ही है। नक्षत्र–विद्युत्–अग्निज्योतियाँ भी—**रूपं रूपं मघवा बोभवीतु'**–**'इन्द्रोरूपाणि कनिक्रदचरत्'** इत्यादि के अनुसार सौरज्योतिर्म्मय इन्द्रतत्व से ही सम्बन्ध रखती हैं। इन पाँचों भूतज्योतियों में से विद्युतज्योति का सूर्य्यज्योति में, नक्षत्रज्योति का चन्द्रज्योति में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। ऐसी स्थिति में पाँच भूतज्योतियों के स्थान में **'सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि'** भेद से तीन ही ज्योतियाँ रह जाती हैं, जैसा कि–**'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी'** इत्यादि यजुर्वर्णन से प्रमाणित है। सूर्य्यज्योति **'स्वज्योति'** है, चन्द्रज्योति **'परज्योति'** है, अग्निज्योति **'रूपज्योति'** है। चारों ओर रश्मि प्रसार द्वारा स्वयं भी चारों ओर से प्रकाशित रहना एवं स्वरश्मिमण्डलभुक्त पदार्थों को भी प्रकाशित रखते हुए उन्हें लोकदृष्टिपथानुगामी बनाए रखना स्वज्योति का प्रातिस्विक धर्म्म है। अन्य ज्योति के प्रवर्ग्यांश से अपने अर्द्धभाग से प्रकाशित रहना एवं प्रकाशित अर्द्धमण्डलभुक्त पदार्थों को प्रकाशित करते हुए उन्हें दृष्टिपथ का अनुगामी बनाना परज्योति का प्रातिस्विक धर्म्म है। केवल अपने स्वरूप को प्रकट करना, स्वज्योतिर्धनसूर्य्य तथा परज्योतिर्म्मय चन्द्रमा की भाँति अन्य पदार्थों को प्रकाशित न करना रूपज्योति का प्रातिस्विक धर्म्म है। सूर्य्यदेवलोक है, यह स्वज्योतिः प्रधान है। चन्द्रमा पितृलोक है, यह परज्योतिः प्रधान है। भूपिण्ड मनुष्यलोक है, यह रूपज्योतिः प्रधान है। सौर–चान्द्रज्योतिर्भुक्त भूपिण्ड में उत्पन्न पुरुष में इन तीनों सूर्य्य–चन्द्र–अग्निज्योतियों का समन्वय रहता है।

उक्त तीनों (पाँचों) भूतज्योतियों के अतिरिक्त चौथी **'आत्मज्योति'** है, जिसका आत्मा से सम्बन्ध है। पाँचों भूतज्योतियाँ तभी तक अध्यात्म संस्था में प्रतिष्ठित रहती हैं, जब तक कि आत्मज्योति स्वस्थ रहती है। आत्मज्योति (ज्ञानज्योति) ही इस पञ्चभूतज्योति की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है, जैसा कि निम्नलिखित उपनिषछ्रुति में प्रमाणित है—

> **"न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्निः।**
> **तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति।"**

(कठोपनिषद् २।२।१५)

आत्मज्योति के आगे जाकर उक्थ (मूलबिम्ब), अर्क (बिम्बविनिःसृतरश्मिमण्डल) भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। उक्थात्मिका आत्मज्योति शरीराकाशगर्भित हृदयाकाशानुगत दहराकाश में दीपार्चिवत् स्थिररूप से प्रज्वलित है। इसी को वेदान्त भाषा में 'ज्ञानकन्दल' कहा गया है, यही अन्तकरणावच्छिन्न

चैतन्य है। सुप्रसिद्ध* शिक्षासिद्धान्त के अनुसार यही आत्मज्योति मन की प्रेरणा से बुद्धि सहयोग द्वारा रश्मिभाव में परिणत होता हुआ कायाग्नि तथा शरीरवायु के सहयोग से ऊर्ध्व व्युत्क्रम करता हुआ वाग्रूप में परिणत होता है। यही अर्करूपा पाँचवीं 'वाग्ज्योति' है। उक्थज्योति आत्मज्योति है, अर्कज्योति है। चूंकि वाग्ज्योति में कायाग्नि का सम्बन्ध है, इसलिए तो—**'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्'** कहा जाता है, शारीरवायु का सम्बन्ध है, इसलिए **'वायुःस्यात् शब्दस्तत्'** यह कहा जाता है एवं परम्परया वाक्तत्त्व आत्मज्योति का ही रूपान्तर है, इस दृष्टि से इसे 'आत्मा' कहा जाता है। आत्मा, मन, बुद्धि, कायाग्नि, शारीरवायु इन सब के समन्वय से वाग्ज्योति का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। इसी आधार पर वाक् के सम्बन्ध में निम्नलिखित निगम व्यवहृत हुए हैं—

१—**"एतन्मयो वा आत्मा—वाङ्मयः"** (शत० १४।४।३।१०)।

२—**"वाग्वैधिषणा" (बुद्धिः)** (शत०६।५।४।५)।

३—**"वाग्वैमतिः। वाचा हीदं सर्वं मनुते" (मनः)** (शत० ८।१।२।७)।

४—**"सा या सा वाक्—अग्निः सः"** (जै०उ०ब्रा० २।२।१)।

५—**"वाग्वै वायुः"** (तै०ब्रा० १।८।८।८।१)।

आत्मोत्क्रान्तिप्रधान परिचायक वाग्ज्योति का विश्राम माना गया है। वाग्ज्योतिर्म्मयरश्मिमण्डल जब आत्मोक्थ में अपीत हो जाता है तो वाग्व्यापार बन्द हो जाता है। इस दृष्टि से भी हम वाग्ज्योति को आत्मज्योति का विवर्त्त मान सकते हैं। इस प्रकार तीन भूतज्योतियाँ, दो आत्मज्योतियाँ, सम्भूय पुरुष में पाँच ज्योतियों का समन्वय सिद्ध हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

***आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनोयुक्ते विवक्षया।**
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥१॥

मारुतस्तूरसिचरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥
प्रातः सवन योगं तं छन्दोगायत्रमाश्रितम् ॥२॥

कण्ठेमाध्यन्दिनयुगं मध्यमं त्रैष्टुभानुगम् ॥
तारं तार्त्तीयसवनं शीर्षण्यं जगतानुगम् ॥३॥

सोदीर्णोमूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ॥
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ॥४॥

(पाणिनीयशिक्षा)

आत्मनिर्भर बने हुए दुस्तर–भयावह–अरण्यप्रान्तों में भी जाने का साहस कर लेते हैं। सौरप्रकाशापेक्षया चान्द्रप्रकाश अल्पशक्ति है, अतएव रात्रि में उक्त स्थानगमन का पूरा साहस तो नहीं होता, परन्तु चन्द्रिका यथाकथंचित् गमनप्रवृत्ति का कारण बन जाती है। यदि कृष्णपक्ष की रात्रि है, तो दीपादि कृत्रिम प्रकाशों का साहाय्य गमनसाहस का निमित्त बनता है, यही अग्निज्योति है। दीपाभाव में घोर अन्धकार में किसी ऐसे अन्य सहयोगी का सहगमन अपेक्षित है, जो बात-चीत करता चले। यही वाग्ज्योति है। मान लीजिए आप तमोबहुलारात्रि में एकाकी जा रहे हैं, सूर्य्य–चन्द्र–अग्नि–वाक् चारों ज्योतियों के सहयोग से आप वञ्चित हैं। अवश्यमेव प्रकाशचतुष्टयी वञ्चित आत्मा में भय का सञ्चार हो पड़ता है। सहसा किसी अज्ञात मनुष्य की शब्दध्वनि कर्णशष्कुली में प्रविष्ट होती है, इस शब्दश्रवण मात्र से धैर्य्य का उद्गम हो जाता है, यही वाग्ज्योति का निदर्शन है। यदि वाग्ज्योति का अत्यन्ताभाव रहता है, तो उस दशा में सूर्य्य चन्द्रादि से आगत संस्कारात्मिका आत्मज्योति ही जीवनसत्ता का कारण बनती है। इसी आत्मज्योति के प्रभाव से यह अरण्यपथिक "मुझे क्या डर है, मेरा कौन क्या बिगाड़ सकता है, यदि कोई आततायी आ भी जायगा, तो यह करूँगा, वह करूँगा, वहाँ छिप जाऊँगा" इस प्रकार अपनी आत्ममहिमा के बल से भय निवारण करता है। यही आत्मज्योति का निदर्शन है। दुर्भाग्य से यदि किसी की आत्मज्योति आत्यन्तिकरूप से निर्बल रहती है, तो ज्योतिर्भाग सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है एवं ऐसी दशा में भय की चरमसीमा पर पहुँचा हुआ आत्मा तत्क्षण उत्क्रान्त हो जाता है। निश्चित है कि, आत्मसत्तात्मिका जीवनसत्ता के लिए अवश्यमेव पाँचों ज्योतियों में से एक न एक ज्योतिर्द्वार का खुला रहना आवश्यक है। तभी तो **'पञ्चज्योतिरयंपुरुषः'** कहना अन्वर्थ बनता है।

उपर्युक्त पञ्चज्योतिनिरुक्ति के आधार पर यह मान लेने में कोई आपत्ति न होगी कि, हमारा आत्मा प्रत्येक दशा में प्रकाश का अनुगामी है। प्रकाश में ही यह आनन्दानुभव करता है, सुखी होता है, क्योंकि इसका मूलप्रभव चित्भूतज्योतिर्घन सूर्य्य ही है। चित्भूतज्योतिर्युक्त उत्क्रान्त आत्मा ज्यों-ज्यों चित्भूतज्योतिर्घन सूर्य्य की ओर अग्रसर होता है, त्यों-त्यों इसकी चित्ज्योति अधिकाधिक विकसित होती है। एकमात्र इसी आधार पर सूर्य्यसंस्था (आत्मसुखसाधक होने से) 'स्वर्गलोक' (देवस्वर्ग) माना गया है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, सूर्य्यपिण्ड का नाम स्वर्ग है ? अथवा सौरप्रकाशमण्डल का नाम स्वर्ग है ? उत्तर में दूसरे मण्डलात्मक प्रश्न को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा। लोकालोकपर्य्यन्त व्याप्त सौरप्रकाशमण्डल का यह नियतप्रदेश जो पार्थिव सम्वत्सरमण्डल में भुक्त है, 'देवस्वर्ग' कहलाया है, जिसके अवान्तर ७ विवर्त्त हो जाते हैं।

कर्म्मात्मा पार्थिव आत्मा है। अतएव यह कभी पार्थिव सीमा से बाहर नहीं जा सकता। इसका जन्म (आविर्भाव) मृत्यु (तिरोभाव) गमनागमन इस पार्थिव मण्डल के भीतर-भीर ही व्यवस्थित है। जिस दिन यह इस पार्थिवमण्डल सीमा को छोड़ देगा, उस दिन अपना स्वरूप ही खो बैठेगा, दूसरे शब्दों में अपने सोपाधिक कर्म्मरूप से उन्मुक्त होता हुआ परज्योति में विलीन हो जायगा। जनसाधारण में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि—"पृथिवी पर ही स्वर्ग है, पृथिवी पर ही नरक है।" इन सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में भूपिण्ड ही पृथिवी है। यदि इस दृष्टि का वैज्ञानिकी महिमा पृथिवी से सम्बन्ध मान लिया जाता

आत्मनिर्भर बने हुए दुस्तर-भयावह-अरण्यप्रान्तों में भी जाने का साहस कर लेते हैं। सौरप्रकाशापेक्षया चान्द्रप्रकाश अल्पशक्ति है, अतएव रात्रि में उक्त स्थानगमन का पूरा साहस तो नहीं होता, परन्तु चन्द्रिका यथाकथंचित् गमनप्रवृत्ति का कारण बन जाती है। यदि कृष्णपक्ष की रात्रि है, तो दीपादि कृत्रिम प्रकाशों का साहाय्य गमनसाहस का निमित्त बनता है, यही अग्निज्योति है। दीपाभाव में घोर अन्धकार में किसी ऐसे अन्य सहयोगी का सहगमन अपेक्षित है, जो बात-चीत करता चले। यही वाग्ज्योति है। मान लीजिए आप तमोबहुलारात्रि में एकाकी जा रहे हैं, सूर्य्य-चन्द्र-अग्नि-वाक् चारों ज्योतियों के सहयोग से आप वञ्चित हैं। अवश्यमेव प्रकाशचतुष्टयी वञ्चित आत्मा में भय का सञ्चार हो पड़ता है। सहसा किसी अज्ञात मनुष्य की शब्दध्वनि कर्णशष्कुली में प्रविष्ट होती है, इस शब्दश्रवण मात्र से धैर्य्य का उद्गम हो जाता है, यही वाग्ज्योति का निदर्शन है। यदि वाग्ज्योति का अत्यन्ताभाव रहता है, तो उस दशा में सूर्य्य चन्द्रादि से आगत संस्कारात्मिका आत्मज्योति ही जीवनसत्ता का कारण बनती है। इसी आत्मज्योति के प्रभाव से यह अरण्यपथिक "मुझे क्या डर है, मेरा कौन क्या बिगाड़ सकता है, यदि कोई आततायी आ भी जायगा, तो यह करूँगा, वह करूँगा, वहाँ छिप जाऊँगा" इस प्रकार अपनी आत्ममहिमा के बल से भय निवारण करता है। यही आत्मज्योति का निदर्शन है। दुर्भाग्य से यदि किसी की आत्मज्योति आत्यन्तिकरूप से निर्बल रहती है, तो ज्योतिर्भाग सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है एवं ऐसी दशा में भय की चरम-सीमा पर पहुँचा हुआ आत्मा तत्क्षण उत्क्रान्त हो जाता है। निश्चित है कि, आत्मसत्तात्मिका जीवनसत्ता के लिए अवश्यमेव पाँचों ज्योतियों में से एक न एक ज्योतिर्द्वार का खुला रहना आवश्यक है। तभी तो '**पञ्चज्योतिरयंपुरुषः**' कहना अन्वर्थ बनता है।

उपर्युक्त पञ्चज्योतिनिरुक्ति के आधार पर यह मान लेने में कोई आपत्ति न होगी कि, हमारा आत्मा प्रत्येक दशा में प्रकाश का अनुगामी है। प्रकाश में ही यह आनन्दानुभव करता है, सुखी होता है, क्योंकि इसका मूलप्रभव चित्भूतज्योतिर्घन सूर्य्य ही है। चित्भूतज्योतिर्युक्त उत्क्रान्त आत्मा ज्यों-ज्यों चित्भूतज्योतिर्घन सूर्य्य की ओर अग्रसर होता है, त्यों-त्यों इसकी चित्ज्योति अधिकाधिक विकसित होती है। एकमात्र इसी आधार पर सूर्य्यसंस्था (आत्मसुखसाधक होने से) 'स्वर्गलोक' (देवस्वर्ग) माना गया है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, सूर्य्यपिण्ड का नाम स्वर्ग है? अथवा सौरप्रकाशमण्डल का नाम स्वर्ग है? उत्तर में दूसरे मण्डलात्मक प्रश्न को ही लक्ष्य बनाना पड़ेगा। लोकालोकपर्य्यन्त व्याप्त सौरप्रकाशमण्डल का यह नियतप्रदेश जो पार्थिव सम्वत्सरमण्डल में भुक्त है, 'देवस्वर्ग' कहलाया है, जिसके अवान्तर ७ विवर्त्त हो जाते हैं।

कर्म्मात्मा पार्थिव आत्मा है। अतएव यह कभी पार्थिव सीमा से बाहर नहीं जा सकता। इसका जन्म (आविर्भाव) मृत्यु (तिरोभाव) गमनागमन इस पार्थिव मण्डल के भीतर-भीर ही व्यवस्थित है। जिस दिन यह इस पार्थिवमण्डल सीमा को छोड़ देगा, उस दिन अपना स्वरूप ही खो बैठेगा, दूसरे शब्दों में अपने सोपाधिक कर्म्मरूप से उन्मुक्त होता हुआ परज्योति में विलीन हो जायगा। जनसाधारण में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि—"पृथिवी पर ही स्वर्ग है, पृथिवी पर ही नरक है।" इन सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में भूपिण्ड ही पृथिवी है। यदि इस दृष्टि का वैज्ञानिकी महिमा पृथिवी से सम्बन्ध मान लिया जाता

है, तो उनका कथन यथार्थ बन जाता है। आत्मविज्ञानोपनिषदन्तर्गत '**प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्**' में भूपिण्ड, महिमापृथिवी दोनों का विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। वहाँ स्पष्ट किया गया है कि, भूपिण्ड के सूर्य्यानुगत ज्योतिर्म्मय पृष्ठ से संलग्न २१ विंशति–अहर्गण से (जहाँ सूर्य्य प्रतिष्ठित है) ऊपर तक २२वें अहर्गण से पूर्व तक आग्नेयी राथन्तरीपृथिवी है, ३३ पर्य्यन्त आपोमयी सागराम्बरा पृथिवी है, ४८ पर्य्यन्त वाङ्मयी जगती पृथिवी है। इसी जगती सम्बन्ध से पार्थिवलोक 'जगत्' कहलाया है। जगती पृथिवीरूप महापार्थिवमण्डल में ही जगत् प्रतिष्ठित है—'**यत्किञ्च जगत्यां जगत्।**'' इस महिमापृथिवी में ही स्वर्गनरकादि लोक प्रतिष्ठित हैं, जिनके नियतभावों का विश्लेषण अनुपद में ही होने वाला है।

'२१–३३–४८' इन तीन स्तोमों के सम्बन्ध से महिमापृथिवी के आग्नेय, आप्य, वाङ्मय भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं, 'वाक्–आपः–अग्नि' तीनों की समष्ठि 'शुक्रम्' है। इसी शुक्रत्रयी के सम्बन्ध से यह महापृथिवी '**शुक्रिमा**' कहलाई है। ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य प्रथम खण्डान्तर्गत '**शुक्रनिरुक्ति**' प्रकरण में प्रतिपादित शुक्रत्रयी का प्रकरण सङ्गति की दृष्टि से यहाँ भी दो शब्दों में दिग्दर्शन कर दिया जाता है। क्योंकि शुक्र के आधार पर ही शुक्रगतिलक्षण आत्मगति व्यवस्थित है। विकृतिभाव से सम्बन्ध रखने वाली शुक्रत्रयी ब्रह्माश्वत्थवृक्ष का अन्तिम वह पर्व है, जो कर्म्माश्वत्थ की प्रतिष्ठा बन रहा है। ऊर्ध्वमूल (हृन्मूल), अवाक्शाख (परिधिशाख) इस ब्रह्माश्वत्थ को विज्ञानभाषा में '**षोडशीपुरुष**' कहा गया है। पञ्चकल अव्ययपुरुषलक्षण आत्मयोनिरूप **अमृतं**, पञ्चकलअक्षरपुरुषलक्षण प्रकृतियोनिरूप **ब्रह्म**, पञ्चकल आत्मक्षर-लक्षण विकृतियोनिरूप '**शुक्रं**' एवं निष्कल अखण्ड अमात्रतुरीय परात्पर, इन १६ कलाओं तथा चार पर्वों की समष्टि ही 'ब्रह्माश्वत्थ' है, जो सर्वथा नित्य एवं स्थिर है। सम्पूर्ण भौतिक विश्व (सप्तलोक) विकारक्षराक्षरात्मक हैं। विकारक्षरकूटरूपा लोकसमष्टि का उपादान कारण 'शुक्र'' रूप आत्मक्षर है, निमित्तकारण 'ब्रह्म' रूप 'अक्षर' है, आलम्बनकारण (अधिष्ठान) 'अमृतं' रूप अव्यय है। इसी ब्रह्माश्वत्थ का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान कठ ने कहा है—

> **"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।**
> **तदेव शुक्रं, तद् ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते॥**
> **तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन॥ एतद्वैतत्"**
> (कठोपनिषत् २।३।१)

जब तक कर्म्मात्मा कर्म्माश्वत्थानुगत भौतिक विश्व का अनुगामी बना रहता है, तब तक विश्व-मूलभूत शुक्र (संसारबीज) से निष्क्रमण सम्भव नहीं हैं। निष्कामकर्म्मभोगात्मिका बुद्धियोगोपासना ही ही संस्कारात्यन्तिकोच्छेद शुक्रातिवर्त्तन का कारण बनती है। हृदयग्रन्थि का इसी शुक्र से सम्बन्ध है एवं मुक्ति का हृदयगन्थिविमोक से सम्बन्ध है। हृदयग्रन्थिविमोक से व्यान बन्धन उच्छिन्न होता है, व्यान बन्धनोच्छिति से शुक्रनिवृत्तिपूर्वक परावर नामक मुक्ति प्रवर्त्तक 'ब्रह्म' नामक अक्षरप्राप्ति होती है। इस प्रकार शुक्रनिवर्त्तनरूपा परामुक्ति का एकमात्र उपाय निष्कामोपासना ही बनता है, जैसा निम्नलिखित उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है—

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ।।१।।

कामान् यः कामते मन्यमानः स कामभिर्जायते यत्र तत्र ।।
पर्य्याप्त कामस्य कृत्यात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ।।२।।

(मुण्डकोपनिषत् ३।२।१,२)

निष्कर्ष यह निकला कि, औपासनिक ब्रह्माश्वत्थवृक्ष का अन्तिम वह पर्व, जो कि स्वक्षरधर्म्म से वैकारिक विश्व का उपादान बन रहा है, 'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध है। विश्वबीजात्मक इस शुक्र का अव्यक्त-गर्भित महत्परमेष्ठी से प्रधान सम्बन्ध माना गया है। पारमेष्ठ्यमनोता **'भृगु–अङ्गिरा–अत्रि'** नामों से प्रसिद्ध हैं। इनमें स्नेहप्रधानशीतगुणक भृगुतत्त्व **'अप्शुक्र'** का प्रवर्त्तक है। तेजःप्रधान उष्णगुणक अङ्गिरा **'अग्निशुक्र'** का प्रवर्त्तक है एवं अनुष्णाशीत–एकविध, अतएव अत्रि नामक मनोता **'वाक्शुक्र'** का प्रवर्त्तक है। इस प्रकार पारमेष्ठ्य मनोतात्रयी के सम्बन्ध से समानधर्म्मा एक ही शुक्रतत्त्व के **'वाक्–आप–अग्नि'** ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। **'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्'** इस सामान्य अनुगम के अनुसार अमृतमृत्यूभयधर्म्मावच्छिन्न ब्रह्माश्वत्थप्रजापति के अन्तिम पर्वरूप इस शुक्र में भी अमृत–मृत्यु दोनों भावों का समावेश हो रहा है। अमृताशुक्रत्रयी प्राणात्मिका देवसृष्टि का उपादान बनती है एवं मर्त्याशुक्र-त्रयी वागात्मिका भूतसृष्टि का उपादान बनती है। इस प्रकार तीन के ६ शुक्र हो जाते हैं। इसी सम्बन्ध में यह भी स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए कि, मर्त्याशुक्रत्रयी से **'पदं'** (पिण्ड) का स्वरूप निष्पन्न होता है, एवं अमृताशुक्रत्रयी से **'पुनःपदं'** (महिमा) का स्वरूप वितत होता हैं।

पिण्डस्वरूप निर्म्माण करने वाली मर्त्याशुक्रत्रयी हृदय से आरम्भ कर परिणाह पर्य्यन्त **'वाक्–आपः–अग्निः'** इस क्रम से प्रतिष्ठित है। पिण्डकेन्द्र में वाक्स्तर है, तदुपरि आपःस्तर है, पिण्ड परिणाह में अग्निस्तर है एवं महिमावितान करने वाली अमृताशुक्रत्रयी हृदय से आरम्भ कर महिमा परिधिपर्य्यन्त **'अग्निः–आपः–वाक्'** इस क्रम से प्रतिष्ठित हैं। पिण्डकेन्द्र से आरम्भ कर महिमालक्षण वषट्कारमण्डल के २१वें अहर्गणपर्य्यन्त अग्निस्तर है, पिण्डकेन्द्र से आरम्भ कर ३३वें अहर्गणपर्य्यन्त आपस्तर है, पिण्डकेन्द्र से आरम्भ कर ४८वें अहर्गणपर्य्यन्त वाक्स्तर है। प्रत्येक वस्तु में 'पिण्ड–महिमा' भेद से दो-दो संस्थाएँ उपभुक्त हैं। पिण्डसंस्था सर्वत्र 'भूः' कहलाई है, महिमासंस्था सर्वत्र **'मही'** कहलाई हैं एवं भूः, तथा महिमा-रूप पद–पुनःपद भेद से प्रत्येक वस्तुपिण्ड षट्शुक्रात्मक है। भू, मही दोनों संस्था संस्थाओं का अवार–पारीण स्तर वाङ्मय है, मध्यस्तर अग्निमय है, सान्ध्यस्तर आपोमय है। चूंकि उपक्रमोपसंहारलक्षण भूकेन्द्र तथा महीपरिधि में वाक्स्तर का साम्राज्य है, इसके अतिरिक्त भूकेन्द्र से ४८वें तक अमृतावाक् का वितान हैं, शेष शुक्रस्तर इसी वागधरातल पर प्रतिष्ठित हैं, इसी आधार पर—**'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'–'अथो वागेवेदं सर्वम्'** इत्यादि निगम प्रतिष्ठित हैं।

अत्रिमय वाक्शुक्र की मूलप्रतिष्ठा प्राणमय स्वयम्भू ब्रह्मा है। अतएव इस वाक्शुक्र को स्वायम्भुवः शुक्र कहा जायगा। यह प्रकाशात्मक माना गया है। अमृत–मृत्यु भेद से यह शुक्र दो भागों में विभक्त है। वह शुक्लभाव (श्वेतवर्ण) जिसे आप देख सकते हैं, छू सकते हैं, **मर्त्यवाक्शुक्र** है। जिसे छूना तो दूर रहा, जिसका चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष भी नहीं किया जा सकता, वह **अमृतवाक्शुक्र** है। भार्गव आपःशुक्र की मूलप्रतिष्ठा आपोमय परमेष्ठी विष्णु है। अतएव इस आपःशुक्र को पारमेष्ठ्यशुक्र माना जायगा। आपोमय परमेष्ठी में भूतज्योति का अभाव है, अतएव आपःशुक्र का प्रातिस्विकरूप 'कृष्ण' है। इसके भी अमृत–मृत्यु भेद से दो विवर्त्त हैं। वह कृष्णभाव (कृष्णवर्ण, काला रंग), जिसे आप छूते तथा देखते हैं, निरुक्त कृष्णतत्त्व है, जिसके गर्भ में मूर्च्छितावस्थापन्न सातों वर्ण भुक्त हैं। यह निरुक्त कृष्णतत्त्व मर्त्य आपःशुक्र है। जिस कृष्णतत्त्व को आप छू नहीं सकते, ग्रहण नहीं कर सकते, देख भर सकते हैं, वह अनिरुक्त कृष्ण है। रात्रिगत कृष्णतत्त्व, नेत्रपटलावरोध पर दिखलाई देने वाली कालिमा आदि अनिरुक्त कृष्ण के निदर्शन हैं। यह अनिरुक्त कृष्ण अमृत आपः शुक्रात्मक है।

आङ्गिरस अग्निःशुक्र की मूलप्रतिष्ठा वाङ्मय सूर्य्य इन्द्र है। अतएव इस अग्निःशुक्र को सौरशुक्र कहा जा सकता है। यह भी नाप्राप्त अमृत–मर्त्य भावों ने विभक्त है, सुप्रसिद्ध सात वर्ण, जिन्हें आप छू सकते हैं, देख सकते हैं, मर्त्याग्नेयशुक्रात्मक हैं। सौरमण्डलस्थ रश्मिभुक्त सप्तवर्णसमष्टिरूप श्वेतवर्ण केवल दीखने की वस्तु है एवं इसका अमृताग्नेयशुक्र से सम्बन्ध है। इस प्रकार अमृत–मृत्यु भेद से तीनों शुक्र भावद्वयी में परिणत होकर प्रत्येक पदार्थ पिण्ड–महिमारूप से भुक्त हैं। प्रकृत में हमें सुप्रसिद्ध उस भूविवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाले शुक्रषट् की मीमांसा करनी है, जो आत्मगति का उपक्रम स्थान माना गया है।

अन्नादमय भू विवर्त्त अग्निप्रधान है। इस भूविवर्त्त के पिण्ड, महिमा दो विवर्त्त हैं। पिण्डपृथिवी **'भूः'** है, जिस पर अस्मदादि भूतप्रजा प्रतिष्ठित है। महिमापृथिवी **'पृथिवी'** है, जिसमें लोक–वेद–वाक्-साहस्री के आधार पर आग्नेय–सौम्य–छन्दोमा देवता प्रतिष्ठित हैं। भूपिण्ड के केन्द्र में मर्त्यवाक्शुक्र प्रतिष्ठित है, यही पहला **स्वर्लोक** है। दूसरा स्तर मर्त्य आपःशुक्र का है, यही दूसरा **भुवर्लोक** है। भूपृष्ठात्मक स्तर मर्त्य अग्निशुक्रात्मक है, यही तीसरा भूलोक है। इस प्रकार चित्याग्निप्रधान केवल इसी भूपिण्ड में केन्द्रावच्छिन्ना वाक्, मध्यस्थ आपः, पृष्ठात्मक अग्निःशुक्र भेद से स्वः–भुवः–भूः तीनों लोक भुक्त हो रहे हैं। जिसे हम भूलोक कहते हैं, वह स्वः–भुवः–भूलोकात्मक है। तीनों में भूलोकात्मक अग्निपृष्ठ ही दृष्टि का विषय बनता है। इसी आधार पर **'यच्चकिञ्चित्–दार्ष्टिविषयकमग्निकर्म्मैवतत्'** (या० नि०) यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। वाक्स्तर स्वायम्भुवमर्त्यवाङ्मय है, आपःस्तर पारमेष्ठ्य मर्त्यआपोमय है, अग्निस्तर सौर मर्त्यआग्नेय है। यह मर्त्य अग्निस्तर यद्यपि सप्तवर्णात्मक (निरुक्तसप्तवर्णात्मक) माना गया है, तथापि वर्णग्राहक मृद्भाग के जातिवैशिष्ट्य से यत्र तत्र भूभागों में नियतवर्ण रह जाता है, शेष ६ओं वर्ण स्वप्रभव सूर्य्य में विलीन हो जाते हैं।

प्रयोग के लिए किसी भी पार्थिव पिण्ड को सामने रख लीजिए। अवश्य ही इसके दृश्यपृष्ठ पर सातों वर्णों में से कोई न कोई एक वर्ण प्रतिष्ठित मिलेगा। यही अग्निस्तर माना जायगा। यह सौर

अग्निस्तर पार्थिव मर्त्य भूतभाग से मूर्च्छित है। अन्य उद्बुद्ध (प्रज्वलित) अग्नि सम्बन्ध से आप इस सुप्त अग्नि को भी उद्बुद्ध कर दीजिए जिस उद्बोधन को सहज भाषा में 'वस्तु को अग्नि से जला देना' कहा जाता है। उद्बुद्ध अग्नि तन्द्रा छोड़ कर तत्काल स्वप्रभव सौर अग्निशुक्र में विलीन हो जायगा। इसी अग्निस्तरोत्क्रान्ति को लक्ष्य में रख कर ऋषि ने कहा है—

"शेषे वनेषु मात्रोः सन्त्वा मर्त्तास इन्धते।
अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृदादिद्देवेषुराजसि।" (यजु०)।

अग्निःशुक्र के उत्क्रान्त होते ही न्यायसिद्ध—क्रमसिद्ध तदन्तर्गर्भित आपःशुक्र प्रकट हो जायगा। यह स्तर सर्वथा निरुक्त कृष्णवर्णात्मक होगा। वस्तुमात्र दग्धानन्तर इसी स्तर से प्रकट होती है। यह कृष्णत्त्व ही आपःशुक्र है। और अग्नि प्रयोग कीजिए, कृष्णवर्णात्मक आपःस्तर भी उत्क्रान्त होकर स्वप्रभव पारमेष्ठ्य मर्त्य कृष्ण आपःशुक्र में विलीन हो जायगा, तीसरा निरुक्त स्वायम्भुव वाग्रूप शुक्ल-स्तर निकल आएगा। यही स्तर 'भूति'—'भस्म' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है, जिसका—**'भस्मान्तं शरीरम्'** (ई०उ० १७) रूप से अभिनय हुआ है। इस प्रकार प्रत्येक पार्थिव चित्यपिण्ड में अग्निसम्बन्ध द्वारा आप तीनों मर्त्यशुक्रों का साक्षात्कार कर सकते हैं। यही भूपिण्डावच्छिन्ना मर्त्यशुक्रत्रयी का संक्षिप्त निदर्शन है।

मर्त्यशुक्रत्रयीलक्षणचित्य भूपिण्ड के केन्द्र से वितायमान अष्टाचत्वारिंश अहर्गणात्मक महिमामण्डल में क्रमशः अग्नि-आपः-वाक् नाम के तीन अमृतस्तर व्याप्त हैं। तीनों ही यद्यपि हृदय से २१-३३-४८ पर्य्यन्त व्याप्त हैं, तथापि गौणप्रधानन्याय से २१ पर्य्यन्त अग्निस्तर माना जाता है, २२ से ३३ पर्य्यन्त आपःस्तर एवं ३४ से ४८ पर्य्यन्त वाक्स्तर माना जाता है। यही स्थिति उक्त मर्त्याशुक्रत्रयी के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। यद्यपि भूपृष्ठ से हृदयपर्य्यन्त स्वर्लोकात्मक मर्त्यवाक्स्तर व्याप्त है, भूमध्यस्थानपर्य्यन्त मर्त्य आपःस्तर व्याप्त है, भूपृष्ठ स्वयं अग्निस्तरात्मक है, तथापि गौणप्रधान न्याय ने भूपृष्ठ अग्निप्रधान, मध्य-पृष्ठ अप्प्रधान एवं केन्द्रपृष्ठ वाक्प्रधान मान लिया जाता है। दोनों ही संस्थाओं में वाक्स्तर अवारपारीण है, अतएव भूपिण्ड को स्वगर्भ में रखने वाला महिमामण्डल वाक् के षट्काररूप ६ अयुग्मस्तोमों के सम्बन्ध से वषट्कार कहलाया है। जिस प्रकार भूपिण्डभुक्त तीनों प्रदेशः भूः, भुवः, स्वः नाम से व्यवहृत हुए हैं, एवमेव भूमहिमाभुक्त ये तीनों (२१—३३—४८) स्तरप्रदेश क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः नामों से व्यवहृत हुए हैं। अग्नितत्त्व की पिण्ड में, अप्तत्त्व की ऋतस्थान में, वाक्तत्त्व की सत्यस्थान में प्रधानता रहती है। परिभाषा के अनुसार पिण्ड पृथिवीलोक है, ऋत अन्तरिक्षलोक है, सत्य द्युलोक है। एकमात्र इसी आधार पर अग्नि—अप्—वाङ्मय २१—३३—४८ अहर्गणात्मक प्रदेश पृथिवी—अन्तरिक्ष—द्यौः कहलाए हैं। इस प्रकार शुक्रभेद से महिमालक्षण महीपृथिवी में तीन लोकों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इस सम्बन्ध में यह नहीं भूलना चाहिए कि इन तीनों लोकों का सम्बन्ध पार्थिवमहिमामण्डल सूर्य्यानुगत अर्द्ध अदितिमण्डल से ही है। सूर्य्यानुगत ज्योतिर्म्मय पार्थिव अर्द्धमण्डल अदिति है, यही देवत्रैलोक्य है। सूर्य्यविरुद्धदिगनुगत तमोमय पार्थिव अर्द्धमण्डल दिति है, यही असुरत्रैलोक्य है। केन्द्रस्थ प्रजापति के पुत्र, अतएव 'प्राजापत्य' नाम से

प्रसिद्ध देवता और असुर इस प्रकार अर्द्ध–अर्द्ध सम्पति के भोक्ता बने हुए हैं। निम्नलिखित परिलेखों से पिण्ड–महिमात्मक उक्त भूविवर्त्त का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—
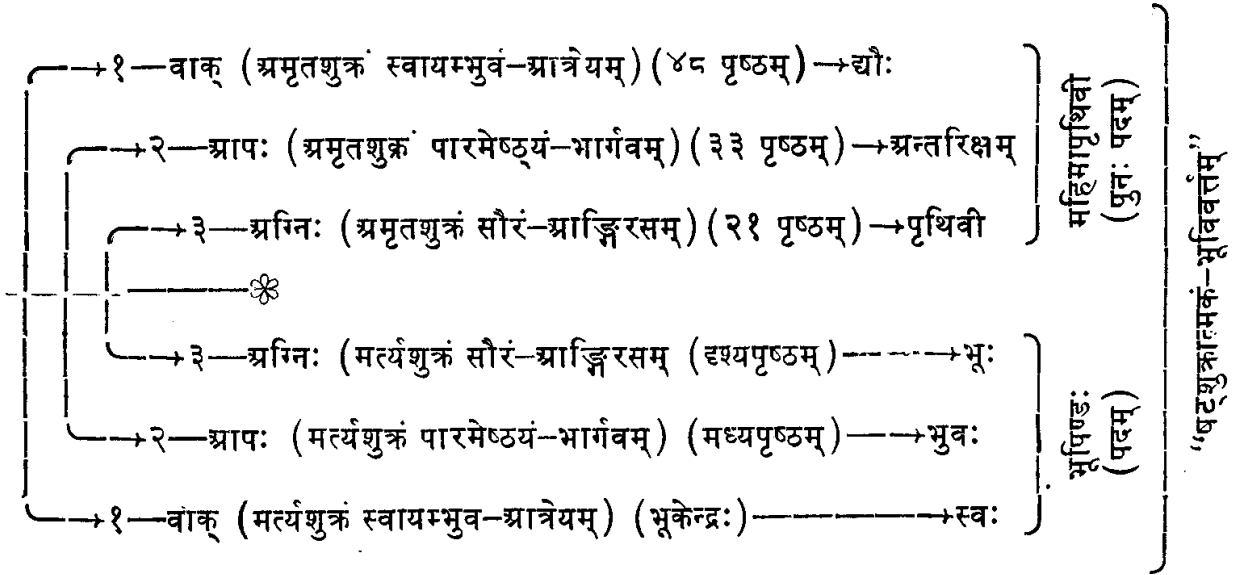
वस्तुसीमा (अवसानभूमि) अवसानधर्म्म से **'साम'** कहलाई है। बहिर्वेद (महावेदि) लक्षणा महिमामण्डलात्मिका 'मही' नाम की महापृथिवी में 'अग्निः–आपः–वाक्' स्तरभेद से तीन सीमा हो जाती हैं। ये तीनों पृष्ठसीमाएँ ही क्रमशः "**रथन्तर, वैरूप, शाक्वर**" (साम) नाम से व्यवहृत हुई। २१ पर्य्यन्त आग्नेय रथन्तर साम है, ३३ पर्य्यन्त आप्य वैरूप साम है, एवं ४८ पर्य्यन्त वाङ्मय शाक्वर साम है। दूसरे शब्दों में अग्निशुक्रसीमा रथन्तर है, आपःशुक्रसीमा वैरूप है एवं वाक्शुक्रसीमा शाक्वर है। पाठकों को स्मरण होगा, हमने पूर्व में 'आतिवाहिक' निमित्त का विश्लेषण करते हुए एकविंशत्यवच्छिन्न केवल अग्निपृष्ठ ६–१५–२१ भेद से रथन्तर–वैरूप–शाक्वर सामों की भुक्ति बतलाई थी (देखिए पृष्ठ १२६)। अब यहाँ २१–३३–४८ को रथन्तरादि से युक्त बतलाया जा रहा है। इसमें विरोधावसर इसलिए नहीं है कि, अनुपद में ही स्पष्ट होने वाले त्रिवृत्त सिद्धान्त के अनुसार २१–३३–४८ अहर्गणात्मक पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ इन तीनों में प्रत्येक में पृ०अ० द्यौः इन तीन-तीन लोकों का उपभोग हो रहा है। फलतः तीनों में तीनों साम पृष्ठों का उपभोग सिद्ध हो जाता है। इसी आधार पर वहाँ २१ मण्डल में भुक्त ६–१५–२१ स्तोमभेद से रथन्तर–वैरूप–शाक्वर का भोग बतलाया गया है।

उक्त विवेचन से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि, स्वः–भुवः–भूरात्मक चित्यभूपिण्ड मर्त्य-शुक्रात्मक है एवं पृ०अ० द्यौरात्मक चितेनिधेय भूमण्डल अमृतशुक्रात्मक है। भूपिण्ड भूविवर्त्तका परिमित रूप है, भूमण्डल भूविवर्त्त का अपरिमित (भूमा) रूप है। परिमिता भूः 'अन्तर्वेदि' है, अपरिमिता पृथिवी 'बहिर्वेदि' है। इस अपरिमिता पृथिवी में २१–३३–४८ भेद पृ०अ० द्यौः तीनों लोक प्रतिष्ठित हैं, जो कि तीनों लोक नवलोकात्मक माने गए हैं। भूविवर्त्त के इन्हीं दोनों स्वरूपों को लक्ष्य बनाकर श्रुति ने कहा है—

शुक्रषटात्मकभूविवर्त्त परिलेखः—
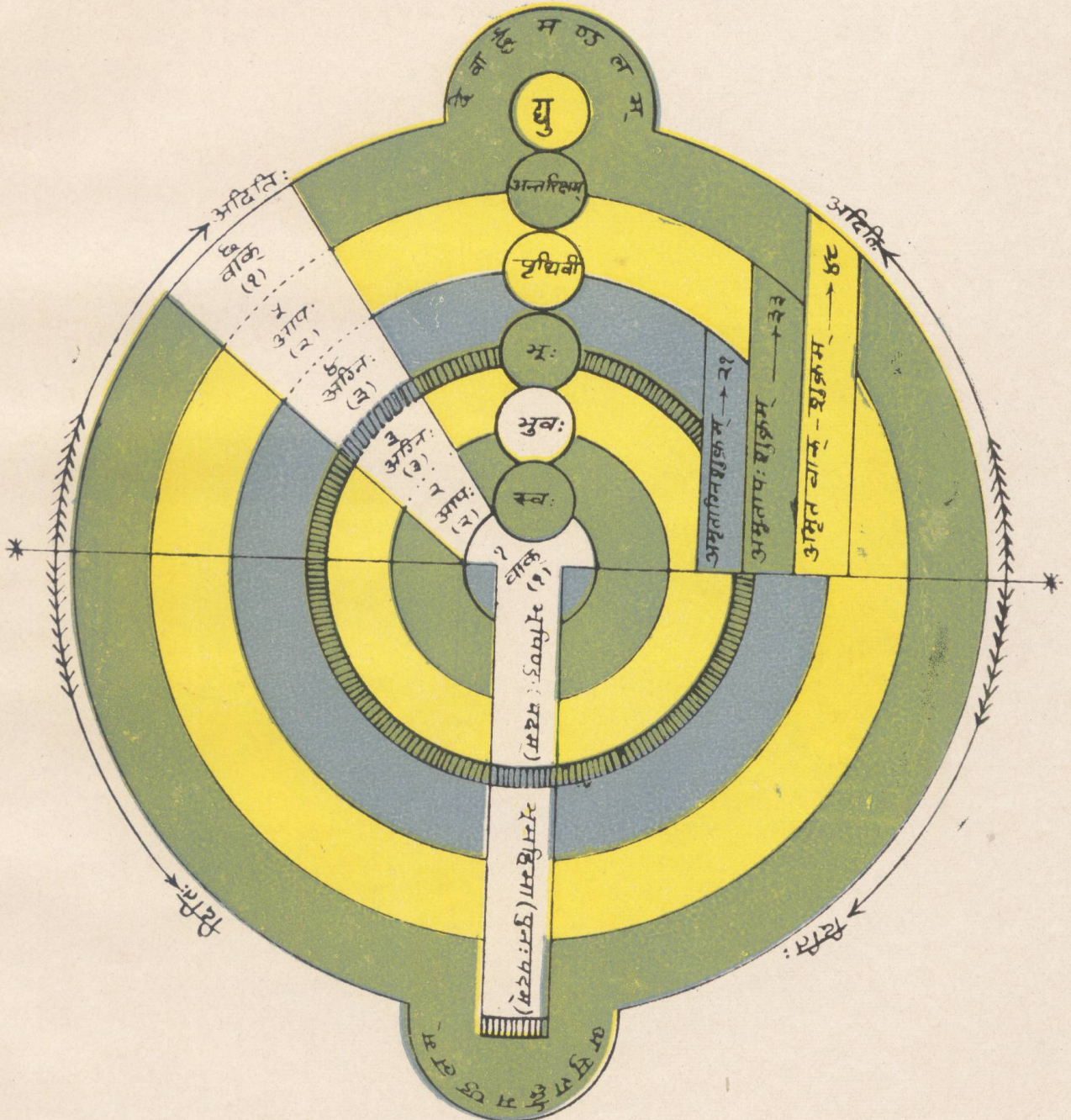
महिमामण्डल (अमृताशुक्रत्रयी) में क्रमशः अग्नि–आपः–वाक् भेदात्मक अमृतस्तर व्याप्त हैं। यह तीनों हृदय से क्रमशः २१–३३–४८ पर्य्यन्त व्याप्त हैं। (मर्त्याशुक्रत्रयी से **पदं** (पिण्ड) तथा अमृताशुक्रत्रयी से **पुनः पदं** (महिमा) का स्वरूप वितत होता है।) यही स्थिति मर्त्याशुक्रत्रयी के सम्बन्ध में भी है। अतएव भूपिण्ड को स्वर्गर्भ में रखने वाला महिमा मण्डल वाक् के षट्काररूप ६ अयुग्म सोमों के सम्बन्ध से 'षष्टकार' कहलाया है। जिस प्रकार भूपिण्ड भुक्त तीनों प्रदेश भूः, भुवः, स्वः नाम से व्यवहृत होते हैं उसी प्रकार भूमहिमाभुक्त ये तीनों (२१–३३–४८) स्तर प्रदेश क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ नाम से व्यवहृत हुए हैं। इन तीनों लोकों का सम्बन्ध ज्योतिर्म्मय अर्द्ध अदिति अर्थात् देवत्रैलोक्य तथा तमोमय अर्द्धमण्डल दिति अर्थात् असुरत्रैलोक्य से होता है।

१—"तस्या एतत् परिमितं रूपं-यत्-'अन्तर्वेदिः ।' अथैषभूमाऽपरिमितो, यो 'बहिर्वेदि ।' (ऐ०ब्रा० ८।५)।

२—"पृथिव्यामिमे लोकाः (प्रतिष्ठिताः)" (जै०उ०ब्रा० १।१०।२)।

परिभाषाविलुप्ति के कारण आज यद्यपि धरा, पृथिवी, सागराम्बरा, काश्यपी, अदिति आदि शब्दों का परस्पर पर्य्याय सम्बन्ध माना जा रहा है। परन्तु वस्तुतः ये सब शब्द भिन्न-भिन्न वस्तुतत्त्व के ही वाचक हैं। ४८ स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी 'मही' है, यही विश्वम्भरा है। ३३ स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी 'सागराम्बरा' है। २१ स्तोमावच्छिन्ना पृथिवी काश्यपी है। भूपिण्ड 'धरा' है। अस्तु प्रकृत में प्रसङ्गोपात्त उस त्रिवृद्भाव की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसके सम्बन्ध से महापृथिवी के २१–३३–४८ स्तोमात्मक पृ०आ० द्यौः ये तीनों लोक (प्रत्येक लोक) त्रिवृत्त सम्पत्ति से युक्त होते हुए ९ (नवाक्षरा) बृहतीसम्पत् से युक्त हो जाते हैं। **'त्रयो वा इमे त्रिवृतालोकाः** इस निगम का यही तात्पर्य है कि, मनः–प्राण–वाक् के त्रिवृद्भाव से सम्बन्ध अग्निः–आपः–वाक् लक्षण शुक्रत्रयी भी त्रिवृद्भाव में परिणत हो रही है। ये तीनों शुक्र पञ्चीकृत, अतएव पञ्चात्मक महाभूतों की तरह त्रिवृद्भाव से त्रिवृत् बन रहे हैं। वाक्–आपः–गर्भित अग्निःशुक्र अग्नि है, अग्नि–वाक्–गर्भित आपःशुक्र आपः है एवं अग्निः–आपः गर्भित वाक्शुक्र वाक् है। शाक्वरपृष्ठात्मक वाक्शुक्र सर्वत्र सत्यात्मिक द्यौः है, वैराजपृष्ठात्मक आपःशुक्र सर्वत्र ऋतात्मक अन्तरिक्ष है एवं रथन्तरपृष्ठात्मक अग्निशुक्र सर्वत्र पिण्डात्मिका पृथिवी है। २१ स्तोमावच्छिन्ना रथन्तरपृष्ठात्मिका अप्–वाक् शुक्रगर्भिता अग्निशुक्रप्रधाना पृथिवी की पृथिवी में ९ पर्य्यन्त अग्निशुक्र है, यही पृथिवी में पृथिवी है, यही रथन्तरसामभुक्त है। १५ पर्य्यन्त आपः शुक्रः है, यही पृथिवी में अन्तरिक्ष है, यही वैरूपसामभुक्त है। २१ पर्य्यन्त वाक्शुक्र है, यही पृथिवी में द्यौः है, यही शाक्वरसामभुक्त है। यही पृथिवीरूप पहला आग्नेयशुक्र त्रैलोक्य है, यही कश्यपत्रिलोकी है। ३३ सोमावच्छिन्न वैरूपसामपृष्ठात्मक वागाग्निशुक्रगर्भित अप्शुक्रप्रधान पृथिवी के अन्तरिक्ष में पृथिवी है, यही रथन्तरसामभुक्त है। २२ पर्य्यन्त आपःशुक्र है, यही अन्तरिक्ष में अन्तरिक्ष है, यही वैरूपसामभुक्त है। ३३ पर्य्यन्त वाक्शुक्र है, यही अन्तरिक्ष में द्यौः है, यही शाक्वरसामभुक्त है। यही अन्तरिक्षरूप दूसरा आपोमय शुक्र त्रैलोक्य है, यही वैरूप त्रैलोक्य है, यही सागराम्बरात्रिलोकी है। ४८ स्तोमावच्छिन्न शाक्वर पृष्ठात्मक अग्न्यप् शुक्रगर्भित वाक्शुक्रप्रधान पृथिवी के द्युलोक में आरम्भ से २४ पर्य्यन्त अग्निःशुक्र है, यही द्युलोक में पृथिवी है, यही रथन्तर सामभुक्त है। ४४ पर्य्यन्त आपःशुक्र है, यही द्युलोक में अन्तरिक्ष है, यही वैरूपसामभुक्त है। ४८ पर्य्यन्त वाक्शुक्र है, यही द्युलोक में द्यौः है, यहीं शाक्वरसामभुक्त है। यही द्यौः रूप तीसरा वाङ्मयशुक्रत्रैलोक्य है, यही शाक्वर त्रैलोक्य है, यही विश्वम्भरात्रिलोकी है। रथन्तरत्रिलोकी के तीनों लोक अग्निप्रधान हैं, वैरूपत्रिलोकी के तीनों लोक अप्प्रधान हैं एवं शाक्वरत्रिलोकी के तीनों लोक वाक्प्रधान है। इस पार्थिवत्रैलोक्यत्रिलोकी संस्था में ३ पृथिवी लोक, ३ अन्तरिक्ष लोक एवं ३ द्युलोक हो जाते हैं। संकेत विद्या से पृथिवी माता है, द्यौ पिता है, जैसा कि **'द्यौष्पितः पृथिवीमातरध्रगग्ने०'** इत्यादि मन्त्र वर्णन से प्रमाणित है। महिमा पृथिवी की त्रिवृता अमृतशुक्रत्रयी से सम्बन्ध रखने वाली इसी त्रैलोक्यत्रिलोकी का स्पष्टीकरण करते हुए वेद भगवान कहते हैं—

तिस्रोमातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वमिदं वाचमविश्वमिन्वाम् ।।
(ऋक् सं० १।१६४।१०) ।

पूर्व की आतिवाहिक निमित्तनिरुक्ति (पृष्ठ सं० १३४) भी उक्त अनुगम मन्त्र उद्धृत हुआ है । वहाँ पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्य बल्शा से सम्बन्ध रखने वाले स्वयम्भूरादि पृथिव्यन्त व्याप्ता संयती–क्रन्दसी–रोदसी इन त्रिलोकियों की समष्टिरूप त्रैलोक्यत्रिलोकी के सप्तलोकात्मक नवलोकों के अभिप्राय से उक्त अनुगममन्त्र का समन्वय हुआ है । उन ९ लोकों में रोदसी की द्यौः क्रन्दसी की भूः है, क्रन्दसी की द्यौः संयती की भूः है । इस प्रकार ९ के ७ ही लोक रह जाते हैं । प्रकृत में वही मन्त्र अपने अनुगम भाव से केवल भूविवर्त्त से सम्बन्ध रखने वाले ९ शुक्रलोकों के समर्थन में प्रयुक्त हुआ है । ये ९ शुक्रलोक वास्तव में ९ ही लोक हैं । यहाँ उनकी तरह द्युलोक का भूलोकत्वेन अन्तर्भाव नहीं है, जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट हो जायगा । वहाँ **ऊर्ध्वस्तस्थौनेमवग्लापयन्ति**' से सत्यस्वयम्भू का ग्रहण था, यहाँ भूकेन्द्रस्थ प्रजापति का ग्रहण है । केन्द्रस्थान भी सामपरिधि की अपेक्षा ऊर्ध्व कहलाया है, अतएव यहाँ ऊर्ध्व से भूकेन्द्र का ग्रहण हुआ है । निम्नलिखित मन्त्र ब्राह्मण श्रुतियाँ भी इस शुक्रात्मिका त्रैलोक्यत्रिलोकी का समर्थन कर रही हैं ।

१—तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीरुत द्यून् त्रीणि व्रता विदथे अन्तरेषाम् ।
ऋतेनादित्या महिवो महित्वं तदर्य्यमन् वरुण मित्र चारु ।।

२—तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः* ।
गृत्सो राजा वरुणश्च एतं दिवि प्रेङ्खं हिरण्मयं शुभेकम् ।।

३—तिस्रो दिवस्तिस्त्रः पृथिवी स्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान् ।
त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहुस्त्वारक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्धि ।।

४—त्रीन्नाकांस्त्रीन् समुद्रांस्त्रीन् ब्रध्नांस्त्रीन् विष्टपान् ।
त्रीन् मातरिश्वनस्त्रीन् सूर्य्यान् गोप्तॄन् कल्पयामिते ।।

५—त्रिस्रो द्यावः सवितुर्द्वा उपस्थां एका यमस्य भुवने विराषाट् ।
आणिं न रथ्यममृताधि तस्थुरिह ब्रवीतु य उ तच्चिकेत ।।

६—"तिस्रो वा इमाः पृथिव्यः—इयमहैका,
द्वे अस्याः परे ।" (शत० ५।१।५।२१) ।

---

*षट्शुक्रविधानाः ।

पूर्व की आकाशनिमित्तनिरुक्ति में (पृ० १५५) में भी 'तिस्रोद्यावः सवितुर्द्वाउपस्थां०' इत्यादि मन्त्र उद्धृत हुआ है। वहाँ आकाश दृष्टि से तीन द्युलोकों का स्पष्टीकरण हुआ है। बतलाया गया है कि, ब्रह्मपथानुगत द्युलोक, देवपथानुगत द्युलोक, पितृपथानुगत द्युलोक भेद से तीन द्युलोक हैं। वाक्शुक्रत्रिलोकी का द्युलोक ब्रह्मपथ से सम्बद्ध है, आपःशुक्रत्रिलोकी का द्युलोक देवपथ से सम्बद्ध है एवं तीसरा पितृपथानुगत द्युलोक अग्निःशुक्रत्रिलोकी से सम्बन्ध रखता है। २१ पर सूर्य्य है। सूर्य्य से इस ओर का (पृथिव्यनुगत) त्रैलोक्य याम्य अग्नि सम्बन्ध से यम त्रैलोक्य है। २१ विंशस्थ सूर्य्य से ऊपर के ३३-४८ सम्बद्ध आपः-वाक्-रूप दो द्युलोक वास्तव में आदित्योपस्थ में प्रतिष्ठित हैं। याम्यत्रिलोकी का द्युलोक यमभुवन से सम्बन्ध रखता है।

पार्थिवत्रैलोक्यत्रिलोकी परिलेखः-

अग्निः, आपः, वाक्–शुक्रत्रयी की दृष्टि से पार्थिवत्रैलोक्यत्रिलोकी का समन्वय किया गया। अब एक भिन्न दृष्टि से इन तीनों शुक्रों का समन्वय किया जाता है। बतलाया गया है कि, भूपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित प्रजापति के ऊर्ध्व अर्द्धमण्डल प्राजापत्य देवदेवताओं का साम्राज्य है एवं अधोऽवस्थित अर्द्ध-मण्डल में प्राजापत्य असुरदेवताओं का साम्राज्य है—(देखिए पृ० सं० १८०)। हृदयस्थ यह प्रजापति 'अन्तर्य्यामी' नाम से प्रसिद्ध है। परात्पराधिष्ठित पञ्चकल अव्ययपुरुषानुगृहित पञ्चकल अक्षरपुरुष ही अन्तर्य्यामी है। भौतिक भूपिण्ड, प्राणमयभूमण्डल दोनों पक्षरानुगृहीत अश्वकलक्षरात्मक हैं। इस क्षरात्मक उभयविध भूविवर्त्त की प्रतिष्ठा हृद्य अक्षर प्रजापति है, जिसके '**ब्रह्म, विष्णु, इन्द्र, सोम, अग्नि**' ये पाँच विकास माने गए हैं। इन पाँचों में 'ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र' इन तीन अक्षरों की समष्टि '**हृदयम्**' लक्षण अन्तर्यामी है, सोमाग्नि की समष्टि '**पृष्ठम्**' लक्षण 'सूत्रात्मा' है। ब्रह्माक्षर प्राणक्षर से, विष्णवक्षर आपः-क्षर से, इन्द्राक्षर वाक्क्षर से अनुगृहीत है। अग्न्यक्षर अन्नादक्षर से, सोमाक्षर अन्नक्षर से अनुगृहीत है। चित्यभूपिण्ड अन्न–अन्नादक्षरानुगृहीत सोमाग्न्यक्षरमय, भूपिण्डावच्छिन्ना स्वः-भुवः-भूरात्मिका चित्यत्रिलोकी वाक्–आपः–प्राणक्षरानुगृहीत इन्द्र–विष्णु–ब्रह्माक्षरमयी। प्राणमय ब्रह्माक्षर के साथ अमृत वाक्शुक्र का, आपोमय विष्णवक्षर के साथ अमृत आपःशुक्र का, वाङ्मय इन्द्र के साथ अमृत अग्निःशुक्र का सम्बन्ध है। अग्नि–सोमाक्षरानुगत अन्नादान्नलक्षण चित्यमर्त्यभूपिण्ड तीसरे अग्निःशुक्र में ही अन्तर्भूत है। अतएव 'इन्द्र–अग्नि–सोम' तीनों की समष्टि त्रिनेत्र शिव नाम से व्यवहृत हुई है, जैसा कि '**आत्मविज्ञानोपनिषत्**' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। प्रकृत में कहना यही है कि, चित्यभूपिण्ड में पञ्चक्षरानुगृहीत पञ्चा-क्षरविवर्त्तों का अन्तर्यामी–सूत्रात्मारूप से उपयोग हो रहा है।

जैसा कि कहा गया है, अन्नादान्नमय भूपिण्ड का अग्निःशुक्र में अन्तर्भाव है। इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण आवश्यक होगा कि, मध्यस्थ इन्द्राक्षर का अन्तर्य्यामी से भी सम्बन्ध है एवं सूत्रात्मा से भी सम्बन्ध है। फलतः ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र तीनों की समष्टि अन्तर्यामी रूप से, इन्द्र, सोम, अग्नि तीनों की समष्टि सूत्रात्मरूप से समन्वित हो जाती है। प्राणमयब्रह्मा वाक्शुक्रमय है, आपोमय विष्णु आपःशुक्रमय है, वाङ्मय इन्द्र अग्निःशुक्रमय है, यही अमृतशुक्रत्रयी का उपभोग है। भूपिण्ड में केन्द्रात्मक स्वःस्थान, मध्यात्मक भुवःस्थान, पृष्ठात्मक भूःस्थान इन तीन (हृत—मध्य—ऊर्ध्व) पृष्ठों के साथ क्रमशः वाक्–आपः–अग्नि नामक तीन मर्त्यशुक्रों का सम्बन्ध बतलाया गया था। तीनों पृष्ठों में हृदयात्मक स्वः-पृष्ठ में त्रिमूर्त्ति अन्तर्य्यामी प्रतिष्ठित है। इस त्रिमूर्त्ति अन्तर्य्यामी के प्राणमयब्रह्मभाग से अमृतवाक्शुक्र का, आपोमय विष्णुभाग से अमृत आपशुक्र का एवं वाङ्मय इन्द्रभाग से अमृत अग्निःशुक्र का सम्बन्ध है। इस प्रकार हृदयावच्छेदेन, किंवा हृदयावच्छिन्न अन्तर्य्याम्यवच्छेदेन स्वःस्थानोपलक्षित हृदय में अमृताशुक्र-त्रयी का भोग सिद्ध हो जाता है। दूसरी निरूपिता मर्त्यशुक्रत्रयी इन्द्र–सोम–अग्निलक्षण सूत्रात्मा से सम्बन्ध है। स्वःस्थानानुगत इन्द्र का मर्त्यवाक्शुक्र से, भुवःस्थानानुगत सोम का मर्त्य आपःशुक्र से, एवं भूःस्थानानुगत अग्नि का मर्त्य अग्निःशुक्र से सम्बन्ध है। इस प्रकार पृष्ठावच्छेदेन, किंवा पृष्ठावच्छिन्न सूत्रात्मावच्छेदेन स्वः–भुवः–भूः स्थानोपलक्षित पिण्ड में मर्त्याशुक्रत्रयी का उपभोग सिद्ध हो जाता है। एवंरीत्या अमृताशुक्रत्रयी, मृर्त्याशुक्रत्रयी, सम्भूय शुक्रषट्क अन्तर्य्यामी–सूत्रात्म भेद से केवल चित्यभूपिण्ड में ही भुक्त हैं। चित्यभूपिण्डानुगता सूत्रात्मभुक्ता मर्त्याशुक्रत्रयी का मर्त्यधर्म्म से ऊर्ध्व वितान नहीं होता।

पार्थिव त्रैलोक्य त्रिलोकी परिलेखः——
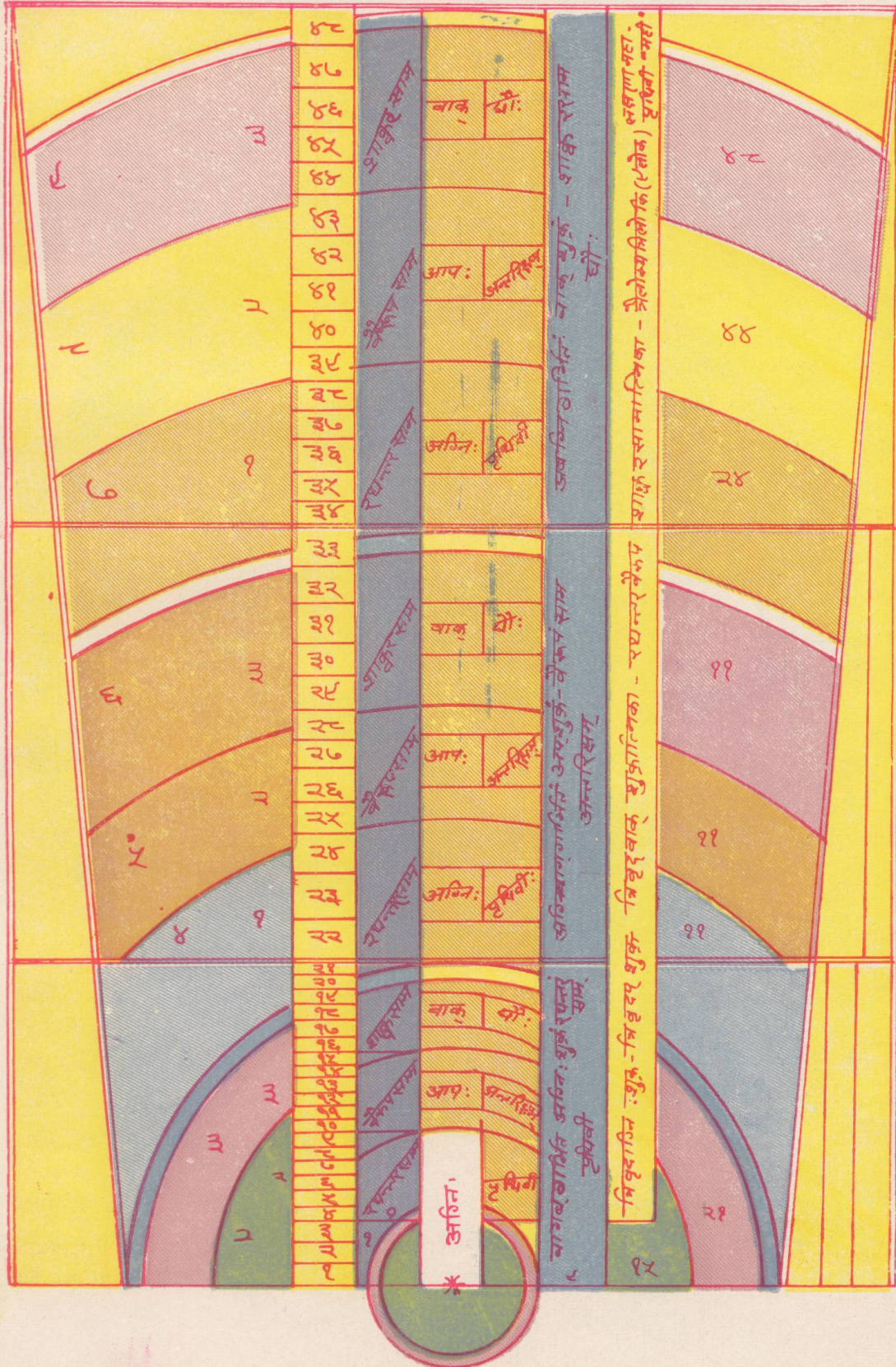
महापृथिवी में **'अग्निः, आपः, वाक्'** स्तर भेद से तीन सीमा हो जाती है। ये तीनों पृष्ठ सीमाएँ ही क्रमशः **'रथन्तर, वैरूप, शाक्वर'** (साम) नाम से व्यवहृत हुई हैं। २१ पर्यन्त अग्निशुक्र सीमा रथन्तर है, ३३ पर्यन्त आपः शुक्र सीमा वैरूप एवं ४८ पर्यन्त वाक्शुक्र सीमा शाक्वर है। इन तीनों में प्रत्येक में पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः इन तीन-तीन लोकों का भोग हो रहा है। इसके २१–३३–४८ स्तोमात्मक पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौः ये तीनों लोक त्रिवृत् सम्पत्ति से भुक्त होते हुए ९ (नवाक्षरा) बृहती सम्पत् से भुक्त हो रहे हैं।

षट्शुक्रात्मक चित्य भूपिण्ड परिलेखः—
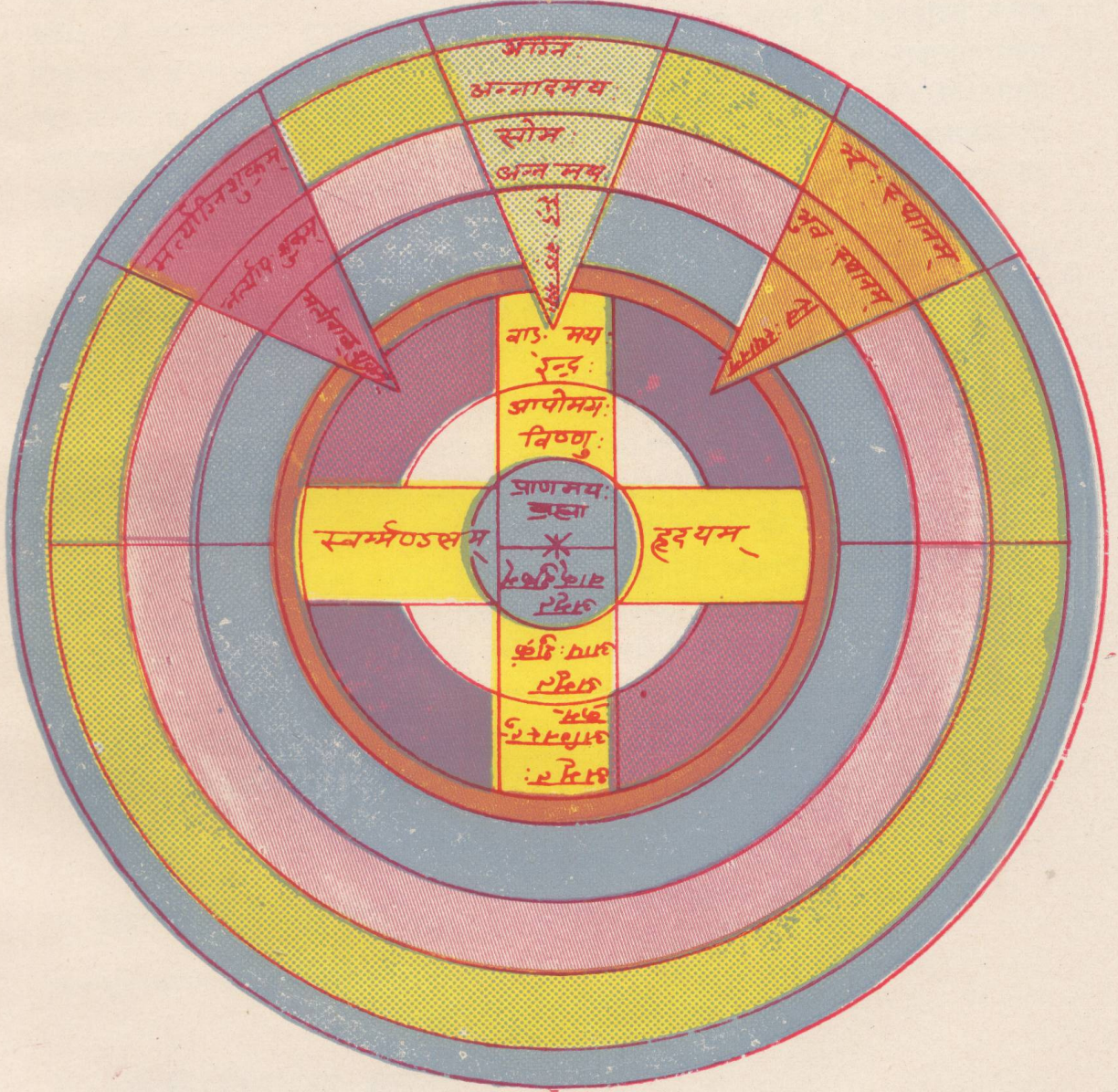
अन्तर्य्याम सम्बन्ध से प्राणमय ब्रह्मा, आपोमय विष्णु एवं वाङ्मय इन्द्र की समष्टि वाक्–आपः–अग्निरूपा अमृतशुक्रत्रयी नाम से तथा सूत्रात्मा सम्बन्ध से इन्द्र–सोम–अग्नि की समष्टि स्वः–भुवः–भूः रूपा मर्त्यशुक्रत्रयी रूप से प्रतिष्ठित हैं। मध्यस्थ इन्द्र का दोनों से सम्बन्ध होने के कारण षट्शुक्रात्मक चित्यभूपिण्ड में पञ्चाक्षर विवर्तों का ही अन्तर्यामी सूत्रात्मा से उपभोग रहा है।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय, 'मानवाश्रम', जयपुर।

अपितु भूपृष्ठ पर ही इसका अवसान हो जाता है। चित्यभूपिण्डानुगता अन्तर्य्यामीभुक्ता अमृताशुक्रत्रयी का ही अमृतधर्म्म से ऊर्ध्व वितान होता है। इसी के ऊर्ध्व वितान से त्रैलोक्यत्रिलोकीलक्षण 'मही' पृथिवी का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।
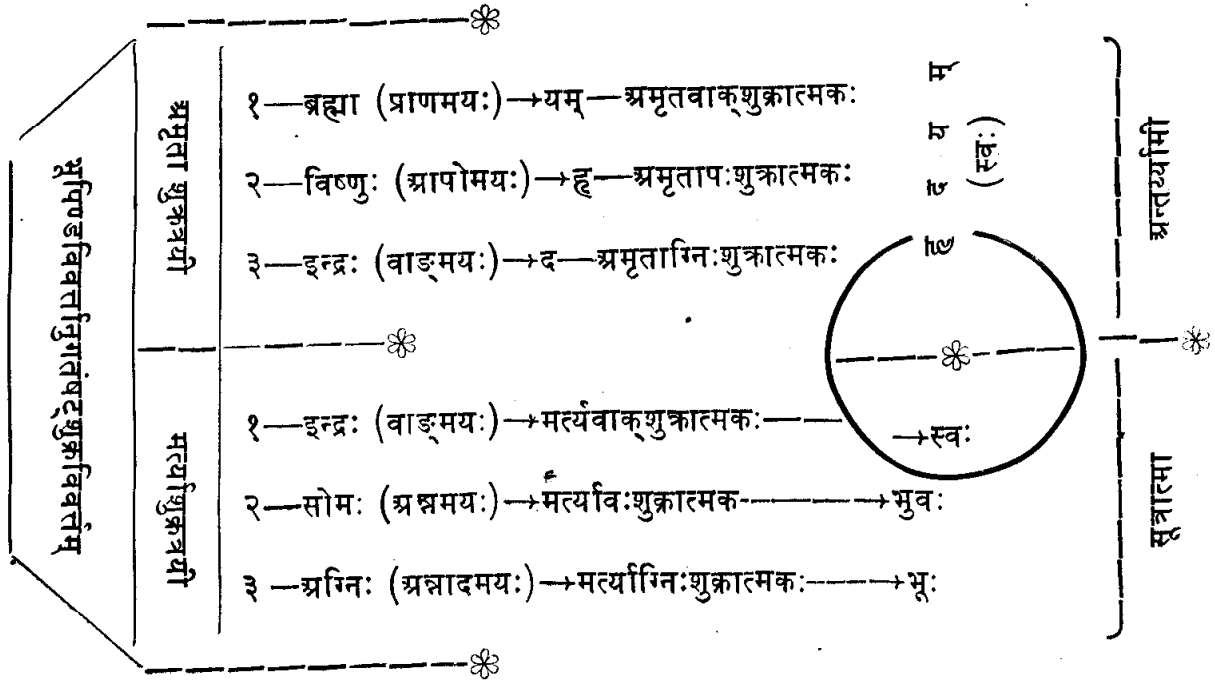
अन्तर्य्यामी से (हृदयावच्छिन्न अमृतशुक्रत्रयी से युक्त अनिरुक्त प्रजापति से) अनुगृहीत इन्द्राग्निषोममय मर्त्यशुक्रत्रयी से युक्त जिस षट्शुक्रात्मक भूपिण्ड का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, उस चित्यभूपिण्ड में हृदय तथा बाह्यपृष्ठ भेद से भुक्त ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम इन पाँच अमृताक्षरों पर दृष्टि डालिए। मर्त्य अन्न और अन्नाद की भुक्ति तो चित्यभूपिण्ड पर विश्रान्त है। अक्षरात्मक अग्नि और सोम दोनों का हृद्यअक्षरत्रयी के आधार पर ऊर्ध्व वितान होता है। हृदयस्थ अमृतवाक्शुक्रमय ब्रह्मा, अमृतआपःशुक्रमय विष्णु, अमृतअग्निःशुक्रमयइन्द्र, तीनों क्रमशः वाक्, लोक, वेद नाम की तीन साहस्रियों के जनक बनते हैं। विष्णु से सम्बद्ध आपःशुक्र के आधार पर हृद्यवाङ्मयब्रह्मा पर प्रतिष्ठित इन्द्राविष्णु की प्रतिस्पर्द्धा होती है। इन्द्र की स्पर्द्धा अग्नि से सम्बन्ध रखती है, विष्णु की स्पर्द्धा सोम से सम्बन्ध रखती है। इस स्पर्द्धा से केन्द्र से आरम्भ कर ४८ पर्य्यन्त वाक्साहस्री का वितान होता है, केन्द्र से आरम्भ कर ३३ पर्य्यन्त लोकसाहस्री का वितान होता है एवं केन्द्र से आरम्भ कर २१ पर्य्यन्त वेदसाहस्री का वितान होता है। अमृतापःशुक्राधारेण प्रक्रान्त इन्द्राविष्णू की प्रतिस्पर्द्धा से उत्पन्न इसी त्रिविधसाहस्री का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है—

उभा जिग्यथुर्नपराजयथे न पराजिग्ने कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वितदैरयेथाम्॥
किं तत् सहस्रमिति ? इमे लोकाः, इमे वेदाः, अथोवागिति ब्रूयात्।

वाक्साहस्री का हृद्य ब्रह्माक्षर से सम्बन्ध है। जहाँ तक (४८ पर्य्यन्त) वाक् है, वहाँ तक वाक्शुक्रमय हृद्य ब्रह्माक्षर का वितान है। यही वाक्साहस्री 'वषट्कार' नाम से प्रसिद्ध है। इस वाङ्मयवषट्कार के **'युग्मन्तिस्तोम'–'अयुग्मस्तोम'** भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। अभिप्लव, पृष्ठ्य, भेद से स्तोमतत्त्व दो भावों में विभक्त माना गया है। केन्द्र से महिमामण्डल की परिधिपर्य्यन्त सौररश्मिप्रसारवत् रश्मिरूप से चारों ओर वितत मनः–प्राणगर्भित वाङ्मय गौसाहस्री अभिप्लवस्तोम है। इस गौसाहस्रीरूप अभिप्लवस्तोम से ही ३६० अहोरात्रों का उदय होता है एवं अभिप्लवस्तोमात्मक ये ही अहोरात्र आगे जाकर षड्त्रिंशदक्षर बृहती छन्द के व्यूहन से बृहतीसहस्र (३६०००) रूप में परिणत होते हुए बृहतीसहस्रआयुः (३६००० अहोरात्र, १०० वर्ष) सूत्रों के प्रवर्त्तक बनते हैं। दूसरा पृष्ठ्यस्तोम है। भूकेन्द्र से चारों ओर मण्डलरूप से वितत वर्त्तुलपृष्ठ ही पृष्ठस्तोम है एवं इनमें उसी मनःप्राणगर्भिता वाङ्मयी गौसाहस्री का भोग होता है। गौसाहस्री के सम्बन्ध में इन सामात्मकपृष्ठस्तोमों के भी सहस्रमण्डल हो जाते हैं, यही सहस्रवर्त्मा सामवेद है। एक सहस्र गौतत्त्व की ३०–३० गौतत्त्वरूप से ३३ राशियाँ हो जाती हैं। ३०–३० गौप्राण की यही राशि **'अहर्गण'** नाम से व्यवहृत हुई है। ९९ गौप्राण के ३०–३० राशि के हिसाब से ३३ अहर्गण हो जाते हैं। १० गौप्राण शेष बच रहते हैं। १० गौप्राणात्मक यह स्वतन्त्र राशि ३४वां स्वतन्त्र अहर्गण कहलाया है, जिसका हृद्य उस प्रजापति (सर्वप्रजापति) से सम्बन्ध माना गया है, जो महिमारूप से ऊर्ध्व वितत होकर महिमापरिधि पर प्रतिष्ठित रहता है एवं जिसके गर्भ में सर्वविवर्त्त प्रतिष्ठित है। इसी सर्वप्रजापति को लक्ष्य में रख कर **'चतुस्त्रिंशः प्रजापतिः'** कहा गया है। ३३ अहर्गणों में से '१–२–३' इन तीन अहर्गणों की भुक्ति चित्यभूपिण्ड में हो जाती है। एक अहर्गण हृद्य ब्रह्माक्षर (अनिरुक्त प्रजापति) में भुक्त है, एक अहर्गण हृद्यविष्णक्षर में भुक्त है एवं एक अहर्गण हृद्य इन्द्राक्षर में भुक्त है। इस भुक्ति से भूमहिमारूप वाक्साहस्रीमण्डल में ३० अहर्गण बच रहते हैं। यदि हृद्य अहर्गणत्रयी का भी इस शेष ३० अहर्गण समष्टि में अन्तर्भाव मान लिया जाता है, तो वाक्साहस्रीलक्षण वषट्कार के ३३ अहर्गण हो जाते हैं। यही महिमामण्डल है।

त्रयस्त्रिंशद् अहर्गणात्मक इस महिमामण्डल के आरम्भ के १६ अहर्गणों में (३ हृद्यअहर्गण, १३ मण्डलानुगत अहर्गण, सम्भूय १६ अहर्गणों में) हृद्य इन्द्राक्षरानुगत अग्न्यक्षर का प्राधान्य है एवं ऊर्ध्व के १६ अहर्गणों में (१८वें अहर्गण से आरम्भ कर ३३वें अहर्गणपर्य्यन्त व्याप्त १६ अहर्गणों में) विष्णवक्षरानुगत सोमाक्षर का प्राधान्य है। त्रयस्त्रिंशदहर्गणात्मक इस महिमालक्षण वाङ्मण्डल में भुक्त १६–१६ अहर्गणात्मक अग्नि–सोममण्डलार्द्धों का केन्द्र १७वाँ अहर्गण बनता है। जिस प्रकार हृद्यतत्त्व अनिरुक्त प्रजापति कहलाया है, ३४वाँ अहर्गण सर्वप्रजापति से अनुगृहीत माना गया है, एवमेव ३३ अहर्गणात्मक महिमामण्डल के केन्द्रस्थानीय १७वें अहर्गण से युक्त वही प्रजापति **'उद्गीथ प्रजापतिः'** नाम से व्यवहृत हुआ है। इसी के लिए **'सप्तदशो वै प्रजापतिः'** कहा गया है। यही सप्तदशउद्गीथ प्रजापति पार्थिव सोमयज्ञ का स्वरूप सम्पादक बनता है, अतएव इसे यज्ञात्मा भी कहा गया है। यज्ञात्मलक्षण इस पार्थिव उद्गीथप्रजापति के चूंकि १७ अवयव है, अतएव प्राकृतिक यज्ञ के अनुरूप वितत मनुष्यकृत यज्ञ में सप्तदशानुगत प्राजापत्य सम्पत्ति संग्रह के लिए १७ अक्षरों का समन्वय होता है, जैसा कि निम्नलिखित लोकप्रचलित सूक्ति से स्पष्ट है—

१ २ ३ ४ १ २ ३ ४ १ २ १ २ ३ ४ ५
"ओ-श्रा-व-य"—"अ-स्तु-श्रौ-षट्"—"य-ज"—"ये-य-जा-म-हे"

"चतुर्भिश्च — चतुर्भिश्च — द्वाभ्यां — पञ्चभिरेव च।

१ २
हूयते च पुन–"वौ-षट्" / द्वाभ्यां तस्मै यज्ञात्मने नमः।।"

कहा गया है, कि हृद्य प्रतिष्ठालक्षण प्राणमय अमृतवाक्शुक्रप्रधान ब्रह्माक्षर के आधार पर प्रतिष्ठित गतिलक्षण वाङ्मय अमृताग्निशुक्रप्रधान इन्द्राक्षर तथा आगतिलक्षण आपोमय अमृतापःशुक्रप्रधान विष्णवक्षर इन दोनों हृद्य अक्षरों की पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा से वेदलोकवाक् नाम की तीन साहस्रियों का वितान होता है (पृष्ठ १८५) प्रसङ्गोपात्त इन तीनों साहस्रियों का भी समन्वय कर लीजिए। वेदसाहस्री का इन्द्राक्षर से, लोकसाहस्री का विष्णवक्षर से एवं वाक्साहस्री का ब्रह्माक्षर से प्रधान सम्बन्ध माना गया है। इन्द्राक्षरानुगता त्रयीवेदसाहस्री अमृताग्निःशुक्र के आधार पर प्रतिष्ठित है, विष्णवक्षरानुगता चतुर्लोकसाहस्री अमृतापःशुक्र के आधार पर प्रतिष्ठित है एवं ब्रह्माक्षरानुगता 'परमेव्योमन्' लक्षणा वाक्साहस्री अमृतवाक् शुक्र के आधार पर प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में इन्द्रप्रधाना वेदसाहस्री अग्निःशुक्रमयी है, विष्णुप्रधाना लोकसाहस्री आपःशुक्रमयी है एवं वाक्साहस्री वाक्शुक्रमयी है। केन्द्र से २१वें अहर्गणपर्य्यन्त वेदसाहस्री व्याप्त है, केन्द्र से ३३वें अहर्गण पर्य्यन्त लोकसाहस्री व्याप्त है एवं केन्द्र से ४८वें अहर्गणपर्य्यन्त वाक्साहस्री व्याप्त है। वाक्साहस्री के गर्भ में लोक–वेदसाहस्रियाँ प्रतिष्ठित हैं, लोकसाहस्री के गर्भ में वेदसाहस्री प्रतिष्ठित है। यही वेदसाहस्री सत्यात्मिका वह प्रतिष्ठा है, जिसके आधार पर अग्निषोमात्मक वितान यज्ञ एवं वितान यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले ३३ यज्ञिय देवता प्रतिष्ठित हैं।

१—वाक्साहस्री→वाक्शुक्रानुगता ब्रह्माक्षरानुगृहीता ४८ पर्य्यन्तं व्याप्ता (द्युलोकात्मिका)

२—लोकसाहस्री→आपःशुक्रानुगता विष्णवक्षरानुगृहीता ३३ पर्य्यन्तं व्याप्ता (अन्तरिक्षात्मिका)

३—वेदसाहस्री→अग्निःशुक्रानुगता इन्द्राक्षरानुगृहीता २१ पर्य्यन्तं व्याप्ता (पृथिव्यात्मिका)

तीनों में से पहले उस वेदसाहस्री का विश्लेषण कीजिए, जो कर्म्मात्मा की मूल प्रतिष्ठा मानी गई है। सोमात्मक अथर्वगर्भिता ऋग्–यजु–साममयी–अग्न्यात्मिकात्रयी ही वेदसाहस्री है। अग्न्यनुगता यही पार्थिव वेदत्रयी यज्ञवितान सम्बन्ध से '**यज्ञमात्रिकवेद**' नाम से व्यवहृत हुई है। भूपिण्डकेन्द्र में मूलरूप से प्रतिष्ठित रहने वाले सोमाक्षर सहयोगी अग्न्यक्षर का इन्द्राक्षर की प्रतिस्पर्द्धा से ऊर्ध्व वितान होता है। इन्द्राक्षर प्रतिस्पर्द्धा से ऊर्ध्व वितत अग्न्यक्षर ही अग्नि का जागरण है एवं यह अग्नि जागरण ही यजुर्गर्भित ऋक्–साम वितान की मूल प्रतिष्ठा है, जैसा कि निम्नलिखित मन्त्र वर्णन से प्रमाणित है—

"अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते—
अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह—
तवाहमस्मि सख्ये न्योका ।।"

त्रयस्त्रिंशदहर्गणात्मक (३३) बहिर्मण्डल के आरम्भ के १६वें अहर्गणपर्य्यन्त अग्न्यक्षर का वितान है एवं ३३ पर्य्यन्त सोमाक्षर का वितान है। दूसरे शब्दों में केन्द्र से १६ पर्य्यन्त अग्नितत्त्व का प्राधान्य है, एवं केन्द्र से ३३ पर्य्यन्त व्याप्त सोमतत्त्व (१८ से ३३ पर्य्यन्त) प्रधान बन रहा है। इस दृष्टि से १६ पर्य्यन्त अग्निसत्ता तथा ३३ पर्य्यन्त सोमसत्ता सिद्ध हो जाती है। इन दोनों के केन्द्रभूत १७वें अहर्गण में दोनों का याज्ञिक सम्बन्ध होता है अतएव यह सप्तदशस्थान 'आहवनीय' कहलाया है। दाह्यसोमाहुति से प्रज्वलित दाहकअग्नि २१ पर्य्यन्त वितत हो जाता है। यही अग्नि–षोमात्मक यज्ञ है, यही 'वामन विष्णु' है, जिसके लिए **'यज्ञो वै विष्णुः'** **'विष्णुर्वैयज्ञः'** इत्यादि निगम विहित हैं। केन्द्र से २१ पर्य्यन्त व्याप्त रहने वाली अग्निविक्रान्ति ही यज्ञात्मक विष्णु की विक्रान्ति है। केन्द्र से ९ पर्य्यन्त यज्ञाग्निलक्षण विष्णु की प्रथम विक्रान्ति है। १० से १५ पर्य्यन्त विष्णु की द्वितीय विक्रान्ति है, यही अन्तरिक्षानुगता विक्रान्ति है। १६ से २१ पर्य्यन्त विष्णु की तृतीय विक्रान्ति है, यही द्युलोकानुगता विक्रान्ति है। इस प्रकार ९–१५–२१ इन तीन विक्रान्तियों से यज्ञविष्णु ने अग्निःशुक्रात्मिका स्तौम्यत्रिलोकी पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर रक्खा है, जिसके स्पष्टीकरण के लिए पुराणोक्त सुप्रसिद्ध **'वामनोपाख्यान'** द्रष्टव्य है, जिसका कि शतपथविज्ञान-भाष्य के **'वेदिनिर्म्माणब्राह्मण'** में विशद वैज्ञानिक निरूपण हुआ है–(देखिए शत०वि०भा० १ वर्ष)। केन्द्र से २१ पर्य्यन्त व्याप्त अग्नितत्त्व के ९–१५–२१ भेद से घन–तरल–विरल ये तीन अवस्थाभेद हो जाते हैं। त्रिवृत् (९) स्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेश में प्रतिष्ठित घनाग्नि **'अग्नि'** है, जिसके ध्रुवादि आठ विवर्त्त हैं। यही पार्थिव अग्नि ऋक्साहस्री की विकासभूमि है। पञ्चदश (१५) स्तोमावच्छिन्न आन्तरिक्ष्य प्रदेश में प्रतिष्ठित तरलाग्नि **'वायु'** है, जिसके विरूपाक्षादि ११ विवर्त्त हैं। यही आन्तरिक्ष्य वायु यजुः-साहस्री की विकासभूमि है। एकविंश (२१) स्तोमावच्छिन्न दिव्य प्रदेश में प्रतिष्ठित विरलाग्नि **'आदित्य'** है, जिसके इन्द्रादि १२ विवर्त्त हैं। आग्नेय ८ वसु, वायव्य ११ रुद्र, ऐन्द्र १२ आदित्य, २ सान्ध्यप्राण ये ३३ यज्ञिय देवता उसी हृद्यमनु के आधार पर वितत हैं। मनुबन्धनावच्छिन्न इन्हीं यज्ञिय देवताओं को अग्निःशुक्रप्राधान्य से 'सर्वदेवता' कहा गया है। निम्नलिखित मन्त्र इन्हीं देवताओं का विश्लेषण कर रहा है—

"इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च ।
मनोर्देवा यज्ञियासः ।" (ऋक् सं० ८।३०।२)।

वस्वनुगत पार्थिव अग्नि में रुद्रानुगत आन्तरिक्ष्य वायु, आदित्यानुगत दिव्य इन्द्र दोनों की भुक्ति से अग्नि–वायु–अदित्यात्मक, अग्निप्रधान जिस योगजतत्त्व का प्रादुर्भाव होता है, वही अर्थशक्तिप्रधानतत्त्व 'विराट्' कहलाया है। रुद्रानुगत आन्तरिक्ष्य वायु में वस्वनुगत पार्थिव अग्नि, आदित्यानुगत दिव्य इन्द्र, दोनों की भुक्ति से वायु–अग्नि–आदित्यात्मक, वायुप्रधान जिस योगजतत्त्व का प्रादुर्भाव होता है, वही क्रियाशक्तिप्रधानतत्त्व **'हिरण्यगर्भ'** कहलाया है। आदित्यानुगत दिव्य इन्द्र में वस्वनुगत पार्थिव अग्नि, रुद्रानुगत आन्तरिक्ष्य वायु, दोनों की भुक्ति से इन्द्र–अग्नि–वाय्वात्मक, इन्द्र प्रधान जिस योगजतत्त्व का प्रादुर्भाव होता है, वही ज्ञानशक्ति प्रधानतत्त्व **'सर्वज्ञ'** कहलाया है। इस प्रकार अग्नि–वायु–आदित्य तीनों के योनि–रेतोभावों से तीनों के यज्ञसम्बन्ध से तीन स्वरूप आविर्भूत हो जाते हैं। विराट्–अग्नि, हिरण्यगर्भ-वायु, सर्वज्ञइन्द्र इन तीनों की क्रमशः ९–१५–२१ अहर्गणों में प्रधानता है। तीनों की समष्टि ही **'ईश्वरीय देवसत्य'** है, जिसका कठोपनिषद्विज्ञानभाष्यादि में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। यही **'साक्षीसुपर्ण'** है। सुप्रसिद्ध भोक्ता सुपर्ण इसी साक्षी का अंश है। विराटंश वैश्वानर, हिरण्यगर्भांश तैजस, सर्वज्ञांश प्राज्ञ, तीनों की समष्टि ही कर्म्मात्मा है। २१ स्तोमावच्छिन्न ईश्वरीय देवसत्य से सम्बद्ध तद्रूप भोक्तासुपर्ण की अन्तिम यज्ञगति २१ सोम ही माना गया है। यज्ञकर्म्मों से २१ तक ही इसका गमन सम्भव है। चयनयज्ञ ही यज्ञकाण्ड में एक ऐसा यज्ञ है, जो २१वें अहर्गण में प्रतिष्ठित और अमृतभाग से कर्म्मात्मा का सम्बन्ध कराता हुआ अपुनारवर्त्तक बनता है। इसी आधार पर—**"नामृतत्त्वस्य त्वाशास्ति, ऋते चयनात्"** निगम प्रतिष्ठित है, यह स्मरण रखना चाहिए कि, २१ से बाहर तो इस चयनयज्ञ से भी गमन सम्भव नहीं है। क्योंकि अग्नियज्ञ है एवं २१ पर अग्निःशुक्रसीमा समाप्त है।

त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न, घनाग्नियुक्त, विराट्प्रतिष्ठालक्षण, पृथिव्यनुगत अग्निःशुक्र ऋक्साहस्री का प्रभव है, तदनुगत पार्थिव अग्नि ही **'पवमान'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसका गायत्रछन्दस्क प्रातःसवन से सम्बन्ध माना गया है। पञ्चदश स्तोमावच्छिन्न, तरलाग्नियुक्त, हिरण्यगर्भप्रतिष्ठालक्षण, अन्तरिक्षानुगत अग्निःशुक्र यजुःसाहस्री का प्रभव है, तदनुगत अन्तरिक्ष्य अग्नि (वायु) ही **'पावक'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसका त्रैष्टुभछन्दस्क माध्यन्दिन सवन से सम्बन्ध माना गया है। एकविंश स्तोमावच्छिन्न, विरलाग्नियुक्त, सर्वज्ञप्रतिष्ठालक्षण, द्युलोकानुगत अग्निःशुक्र सामसाहस्री का प्रभव है, तदनुगत दिव्य अग्नि (आदित्य) ही **'शुचि'** नाम से प्रसिद्ध है, जिसका जागतछन्दस्क सायंसवन से सम्बन्ध माना गया है। त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंशस्तोमात्मिका, घन–तरल–विरलाग्नियुक्ता, विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ प्रतिष्ठालक्षण, पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्युलोकानुगत अग्निःशुक्रमयी ऋक्–यजुः–सामसाहस्री ही इन्द्रानुगता पहली वेदसाहस्री है वेद-साहस्री लक्षण, सवनत्रयोपपन्ना–स्तौम्यत्रैलोक्यात्मिका यही महापृथिवी क्रमशः वामनत्रिलोकी, अदिति-त्रिलोकी, वितानत्रिलोकी, यज्ञत्रिलोकी, कूर्म्मत्रिलोकी आदि नामों से व्यवहृत हुई है। ब्राह्मणग्रन्थ प्रति-पादित सुप्रसिद्ध कर्म्मकाण्ड का इसी स्तौमत्रिलोकी से सम्बन्ध है। **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'**—**'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'** इत्यादि फलश्रुतियाँ इसी यज्ञत्रिलोकी से सम्बद्ध हैं। यही अग्निःशुक्र की विकासभूमिका है। जिसका **'अग्निग्रन्थ'** (चयनविद्या) में विश्लेषण हुआ है।

वेदसाहस्त्री ऐन्द्री—

वेद साहस्री-ऐन्द्री परिलेखः—

उक्त परिलेख में केन्द्र से २१ स्तोम पर्यन्त व्याप्त अग्नितत्त्व के ९–१५–२१ भेद से **घन**, **तरल**, **विरल** ये तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। इनमें त्रिवृत् (९) स्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेश में घनाग्नि '**अग्नि**' है। यही पार्थिव अग्नि शुक्र ही '**ऋक्साहस्री**' का प्रभव है। इसका गायत्र छन्दस्क '**प्रातःसवन**' से सम्बन्ध माना गया है। पञ्चदश (१५) स्तोमावच्छिन्न **आन्तरिक्ष्य प्रदेश** में प्रतिष्ठित तरलाग्नि '**वायु**' है। यही वायु अन्तरिक्षानुगत अग्निशुक्र **यजुसाहस्री** की विकास भूमि है। इसका त्रैष्टुप् छन्दस्क **माध्यन्दिन सवन** से सम्बन्ध माना गया है। एकविंश (२१) स्तोमावच्छिन्न **द्यौः** (दिव्य) प्रदेश में प्रतिष्ठित विरलाग्नि '**आदित्य**' है। द्युलोकानुगत अग्निशुक्र सामसाहस्री का प्रभव है। जिसका जागतछन्दस्क **सायंसवन** से सम्बन्ध है। इस प्रकार **ऋक्**, **यजु**, **साम** साहस्री ही इन्द्रानुगत वेदसाहस्री है।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय, 'मानवाश्रम', जयपुर।

स्तौम्यत्रिलोकीरूपा पृथिवी में अग्नि–वायु–आदित्यरूप से अग्निःशुक्र का भोग ही प्रस्तुत दृष्टिकोण का आधार है। पूर्व में (१८४ पृ०) ९ पर्य्यन्त अग्निःशुक्र की, १५ पर्य्यन्त आपःशुक्र की एवं २१ पर्य्यन्त वाक्शुक्र की व्याप्ति बतलाते हुए यह स्पष्ट किया गया था कि, एकविंशस्तोमावच्छिन्ना पृथिवी में भुक्त अग्नि–आपः–वाक् तीनों शुक्र अग्निप्रधान हैं। इसी अग्निःशुक्रप्राधान्य के आधार पर शुक्रत्रयात्मक पृथिवीलोक को अग्निःशुक्रमय मान लिया गया है एवं प्रदर्शित परिलेख (१९० पृ०) द्वारा इसी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण हुआ है। अब क्रमप्राप्त आपःशुक्र से सम्बन्ध रखने वाले सागराम्बरापृथिवीलक्षण त्रैलोक्यात्मक दूसरे अन्तरिक्ष लोक से सम्बन्ध रखने वाले दृष्टिकोण की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। इस सम्बन्ध में भी आरम्भ में ही यह स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए कि, भूकेन्द्र से आरम्भ कर ११वें अहर्गण पर्य्यन्त अग्निःशुक्र का एवं ३३ पर्य्यन्त वाक्शुक्र का साम्राज्य है। इन तीनों में प्रधानता चूंकि आपःशुक्र की है, अतएव जैसे स्तौम्यपृथिव्यनुगता शुक्रत्रयी अग्न्यात्मिका मानी गई है, एवमेव यह अन्तरिक्षानुगता शुक्रत्रयी भी आपःशुक्रात्मिका ही मान ली गई है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो जायगा।

आपःशुक्र का प्रधानतः अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है एवं जिस प्रकार पृथिवी के साथ गायत्रीछन्द का सम्बन्ध माना जाता है, तथैव अन्तरिक्ष का त्रिष्टुप्छन्द से सम्बन्ध माना गया है। यह छन्द एकादशाक्षर (११) है अतएव तदनुगत आन्तरिक्ष्य आपःशुक्र की व्याप्ति एकादश स्तोमसंख्या पर विश्राम करती है। बतलाया गया है कि, भूकेन्द्र से ३३ पर्य्यन्त आपःशुक्र व्याप्त है। त्रिवृद्भाव सम्बन्ध से इस मण्डल के भी ११–११–११ रूप से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। एकादशस्तोमावच्छिन्न उपक्रम स्थानीय आपःशुक्र के आधार पर 'मर' नामक मर्त्य पार्थिव आपः प्रतिष्ठित हैं। केन्द्र से २२वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त आपःशुक्र के आधार पर **'मरीचि'** नामक अन्तरिक्ष्य आप प्रतिष्ठित हैं एवं केन्द्र से ३३ पर्य्यन्त व्याप्त आपःशुक्र के आधार पर '**अम्भः**' नामक दिव्य आपः प्रतिष्ठित हैं। प्रथम स्थान पृथिवीलोक है, मध्यम स्थान अन्तरिक्षलोक है, उत्तमस्थान द्युलोक है। प्रथमस्थानावच्छिन्न आपःशुक्र अग्निशुक्रगर्भित है, द्वितीयस्थानावच्छिन्न आपःशुक्र आपःशुक्रगर्भित है, उत्तमस्थानावच्छिन्न आपःशुक्र वाक्शुक्रगर्भित है। इस आपःशुक्रत्रयी के गर्भ में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आपः ये चार लोकभुक्त हैं। यही **'लोकसाहस्री'** है। अप्तत्त्व का विष्णवक्षर से सम्बन्ध है। केन्द्रस्थ विष्णु सोमात्मक अप्तत्त्व के आधार पर ३३वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त होता है। फलतः जिस प्रकार वेदसाहस्री का इन्द्राक्षर से स्वाभाविक सम्बन्ध है एवमेव लोकसाहस्री का विष्णवक्षर से स्वाभाविक सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। आपःशुक्रमयी यही त्रिलोकी 'सागराम्बरा है, यही अन्तरिक्ष है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है। आपःशुक्र के आधार पर वितत पार्थिव मर अप्तत्त्व घनावस्थापन्न है, यही **'आपः'** है। आपशुक्र के आधार पर वितत आन्तरिक्ष्य मरीचि अप्तत्त्व तरलावस्थापन्न है, यही **'वायु'** है। आपःशुक्र के आधार पर वितत दिव्य अम्भः अप्तत्त्व विरलावस्थापन्न है, यही **'सोमः'** है। इस प्रकार जैसे घनादि अवस्थात्रयी से अग्नि की अग्नि–वायु–आदित्य ये तीन अवस्था हो जाती हैं एवमेव घनादि अवस्थात्रयी से अप्तत्त्व की भी आपः–वायुः–सोमः ये तीन अवस्था हो जाती हैं।

लोकसाहस्री वैष्णवी—

(वाक्) ३—त्रयस्त्रिंशस्तोमः (३३)→सोमः (अम्भः)→द्यौः
(आपः) २—द्वाविंशस्तोमः (२२)→वायुः (मरीचिः)→अन्तरिक्षम् } →**अन्तरिक्षम् (आपःशुक्रात्मक)**
(अग्निः १—एकादशस्तोमः (११)→आपः (मरः)→पृथिवी

तीसरी क्रमप्राप्त वाक्साहस्री के सम्बन्ध में वक्तव्यांश केवल यही शेष रह जाता है कि, केन्द्रस्थ ब्रह्माक्षर से सम्बन्ध रखता हुआ अमृतवाक्शुक्र छन्दोमास्तोम द्वारा तीन संस्थाओं में विभक्त होता हुआ केन्द्र से अन्तिम परिधि स्थानीय ४८वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त हो जाता है। केन्द्र से आरम्भ २४वें अहर्गण पर्य्यन्त गायत्रछन्दस्का **आग्नेयीवाक्** का प्राधान्य है, यहीं वाङ्मय अग्निःशुक्र का उपभोग है। केन्द्र से आरम्भ कर ४४वें अहर्गण पर्य्यन्त त्रैष्टुभछन्दस्का **ऐन्द्रीवाक्** का प्राधान्य है, यहीं वाङ्मय आपःशुक्र का उपभोग होता है। केन्द्र से आरम्भ कर ४८वें अहर्गणपर्य्यन्त जागतछन्दस्का वैश्वदेवीवाक् का प्राधान्य है, जिसके सम्बन्ध से यह तृतीया त्रिलोकी विश्वम्भरा कहलाई है। गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती तीनों छन्द क्रमशः २४–४४–४८ अक्षरात्मक हैं एवं तीनों से क्रमशः अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेव नामक प्राणदेवता छन्दित हैं। सच्छन्दस्क इस प्राण देवतात्रयी से वाक्शुक्र के तीनों विवर्त्त चूंकि मित (सीमित) हैं अतएव वाक्शुक्रमय २४–४४–४८ स्तोमों को 'छन्दोमाः' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है। इनमें अहर्गणों की संख्या समभावापन्न है अतएव इन्हें **'युग्मन्तिस्तोम'** भी कहा जाता है। २४–४४–४८ के संकलन से ११६ (एक सौ सोलह) संख्या हो जाती हैं। प्राकृतिक नित्य छन्दोमा स्तोम के अनुरूप वितत पुरुषप्रयत्नसाध्य वैध छन्दोमायज्ञ से ११६ वर्षात्मक आयुःसूत्र की अवाप्ति मानी गई है।

गायत्रस्तोमावच्छिन्न, चतुर्विंशति–अहर्गणात्मक, आग्नेयीवाक् से अनुगृहीत, अग्निशुक्रगर्भित वाक्-शुक्रात्मक प्रदेश ही पृथिवीलोक है। त्रैष्टुभस्तोमावच्छिन्न, चतुश्चत्वारिंशदहर्गणात्मक ऐन्द्रीवाक् से अनुगृहीत, आपःशुक्रगर्भित वाक्शुक्रात्मक प्रदेश अन्तरिक्षलोक है। जागतस्तोमावच्छिन्न अष्टाचत्वारिंशदहर्गणात्मक वैश्वदेवीवाक् से अनुगृहीत, वाक्शुक्रगर्भित वाक्शुक्रात्मक प्रदेश ही द्युलोक है। यही विश्वम्भरा नाम की तृतीया त्रिलोकी है। आग्नेयीवाक् **गौरिवीतावाक्** से, ऐन्द्रीवाक **आम्भृणीवाक्** से एवं वैश्वादेवी-वाक् **सत्यावाक्** से, अनुगृहीत है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो जाता है निम्नलिखित मन्त्र विश्वम्भरा त्रिलोकी लक्षणाब्रह्माक्षराविनाभूता इसी वाक्साहस्री स्पष्टीकरण कर रहा है—

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावतीवाक्॥

(ऋक् १०।११४।८)।

भूकेन्द्र से आरम्भ कर ११वें अहर्गण पर्यन्त **अग्निशुक्र**, २२ अहर्गण पर्यन्त **आपःशुक्र** व ३३ अहर्गण पर्यन्त **वाक्शुक्र** का साम्राज्य है। यहाँ पर आपःशुक्र के आधार पर **'मर'** नामक मर्त्य पार्थिव आपः प्रतिष्ठित है। आपःशुक्र के आधार पर **'मरीचि'** नामक आन्तरिक्ष्य आपः एवं ३३ पर्यन्त व्याप्त आपःशुक्र (वाक्शुक्र) के आर पर **'अम्भ'** नामक दिव्य आपः प्रतिष्ठित है। प्रथम स्थान **पृथिवीलोक,** मध्यम स्थान **अन्तरिक्षलोक** एवं उत्तम स्थान **द्युलोक** है। इस प्रकार इस आपः-शुक्रत्रयी के गर्भ में पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ व आपः ये चार लोक भुक्त हैं। यही **लोकसाहस्त्री** है।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय, 'मानवाश्रम', जयपुर।

वाक्साहस्री परिलेखः—
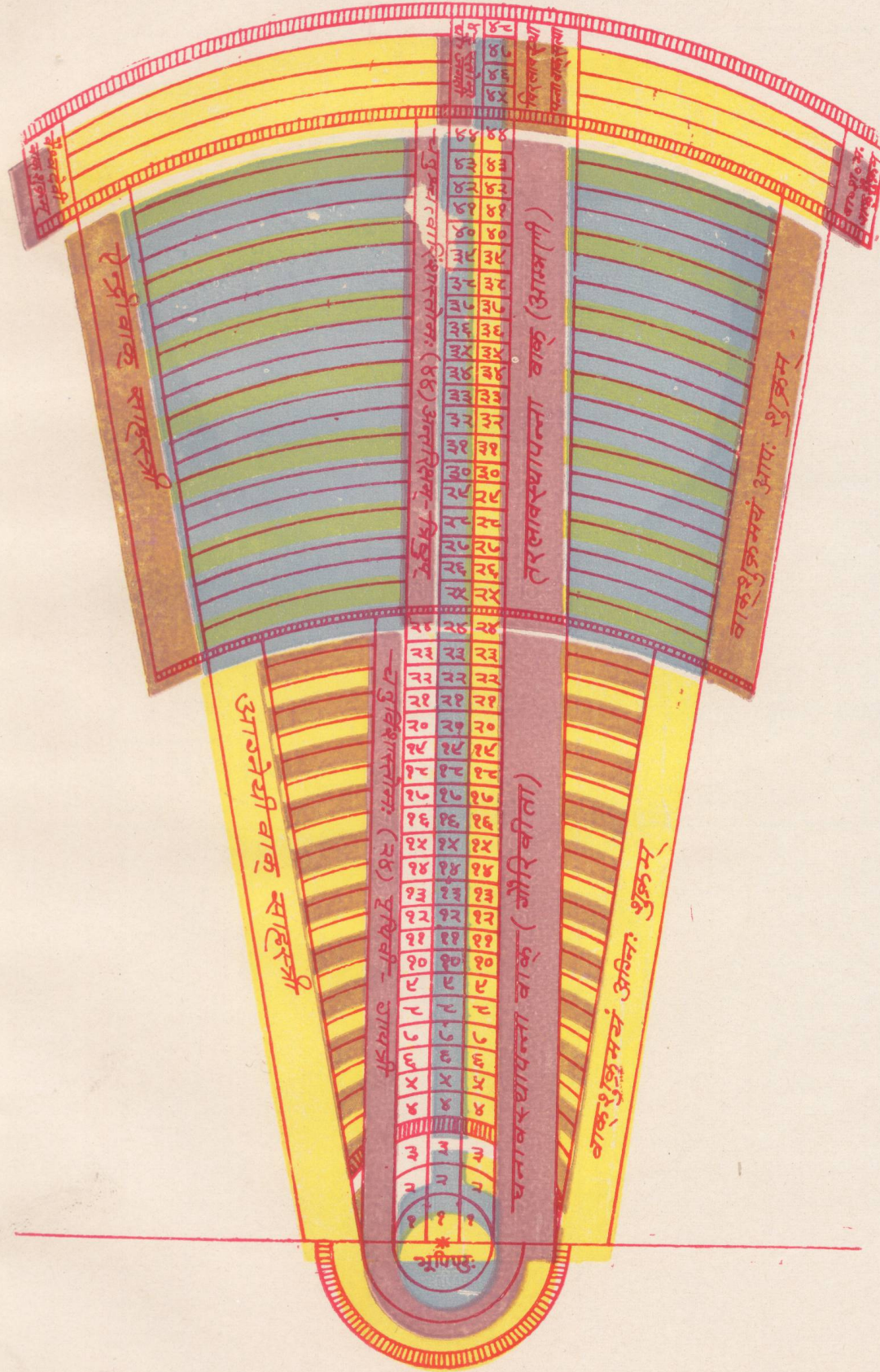
केन्द्रस्थ ब्रह्माक्षर से सम्बन्ध रखता हुआ अमृतवाक्शुक्र छन्दोमास्तोम द्वारा तीन संस्थाओं में विभक्त, केन्द्र से अन्तिम परिधि ४८वें अहर्गण तक व्याप्त हो जाता है। केन्द्र से २४ अहर्गण पर्यन्त आग्नेयीवाक् का प्राधान्य है, यहीं पर वाङ्मय अग्निःशुक्र का उपभोग होता है। ४४वें अहर्गण पर्यन्त ऐन्द्रीवाक् का प्राधान्य है, यहीं पर आपःशुक्र का उपभोग होता है। इसी प्रकार ४८वें अहर्गण पर्यन्त वैश्वदेवीवाक् का प्राधान्य है। जिसके सम्बन्ध से यह तृतीया त्रिलोकी विश्वम्भरा कहलाई है।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय, 'मानवाश्रम', जयपुर।

सर्वसंग्रहः—

४८ (४)→वाक् (सत्या)→शाक्वरसाम→द्यौः
४४ (२०)→आपः (आम्भृणी)→वैरूपसाम→अन्तरिक्षम्
२४ (२४)→अग्निः (गौरिवीता)→रथन्तरसाम→पृथिवी
} →वाक् (द्यौः—विश्वम्भरात्रिलोकी)

३३ (११)→वाक् (सोमः)→शाक्वरसाम→द्यौः
२२ (११)→आपः (वायुः)→वैरूपसाम→अन्तरिक्षम्
११ (११)→अग्निः (आपः)→रथन्तरसाम→पृथिवी
} →आपः (अन्तरिक्षं—सागराम्बरात्रि०)

२१ (६)→वाक् (आदित्यः)→शाक्वरसाम→द्यौः
१५ (६)→आपः (वायुः)→वैरूपसाम→अन्तरिक्षम्
६ (६)→अग्निः (अग्निः)→रथन्तरसाम→पृथिवी
} →अग्निः (पृथिवी—स्तौमत्रिलोकी)
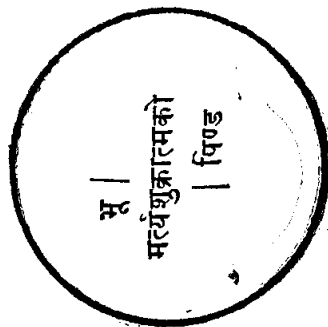
शुक्रत्रयी से सम्बन्ध रखने वाले त्रैलोक्य–त्रिलोकीरूप पार्थिवलोकविवर्त्त का स्पष्टीकरण किए बिना देवस्वर्गस्वरूप विश्लेषण असम्भव था, अतएव प्रसङ्गोपात्त उसका दिग्दर्शन कराना आवश्यक समझा गया। भूपिण्ड से सम्बद्ध भूमहिमा में '२१–३३–४८' सोमभेद से तीन त्रिवृत्–लोकों का भोग बतलाया गया है। इन तीनों त्रिवृत्पार्थिवलोकों में से वह पार्थिवलोक माना जायगा, जिसमें सौरसम्वत्सर ज्योति का उपभोग हो रहा होगा। प्रकरणारम्भ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, सौरज्योतिर्म्मय नियत प्रदेश ही स्वर्गलोक है एवं भूपिण्ड से उत्क्रान्त कर्म्मात्मा का इस लोक में गमन करना ही देवस्वर्गगति है। महिमापृथिवी का जो भाग सौरसम्वत्सरमण्डल में भुक्त रहता है, वही पार्थिवप्रदेश (जिसे सौरज्योतिर्भुक्ति से सौरप्रदेश भी कहा जा सकता है) स्वर्गलोक है। यही नियतप्रदेश अथर्वपरिभाषानुसार **'स्कम्भ'** नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसका दो शब्दों में विश्लेषण कर देना अनावश्यक न माना जायगा।

"**यथाग्निगर्भापृथिवी तथा द्यौरिन्द्रेणगर्भिणी**" इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार भूपिण्ड अग्निगर्भित है (देखिए शत० ब्रा० १४।६।४।२१) भूकेन्द्र से २४ अंश उत्तर, २४ अंश दक्षिण, इस ४८ अंश के परिसर में अग्निष्टोम (अग्निस्तम्भ) प्रज्ज्वलित है। यहाँ से ऊर्ध्व वितत यह अग्निस्तम्भ सौरसम्वत्सरमण्डलपर्य्यन्त व्याप्त हो रहा है। सौरसम्वत्सरमण्डल के जिस नियत ज्योतिर्म्मयप्रदेश से यह पार्थिव अग्निस्तम्भ समतुलित है, वह सौरसम्वत्सरमण्डल **'नवाहयज्ञ'** नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव १७वें अहर्गण पर हमने अग्नी–सोम का यजन सम्बन्ध बतलाया है। इस १७वें अहर्गण से आरम्भ कर २५वें अहर्गणपर्य्यन्त ९ अहर्गण में सौर इन्द्र तथा पार्थिव अग्निज्योति दोनों का समन्वय हो रहा है। इन ९ अहर्गणों के सम्बन्ध से ही यह ऐन्द्राग्नयज्ञ 'नवाहयज्ञ' कहलाया है। इस नवाहयज्ञ में १७/१ — १८/२ — १९/३ — २०/४ — २१/५ — २२/६ — २३/७ — २४/८ — २५/९ इन ९ अहर्गणों का भोग हो रहा है। इस नवाहयज्ञ के केन्द्र में पृथिवी का ११वाँ अहर्गण है) सूर्य्य प्रतिष्ठित है। इसी आधार पर—**'एकविंशो वा इत आदित्यः'** कहा गया है। इस नवाहयज्ञमण्डल में सौरज्योति का पूर्ण साम्राज्य रहता है अतएव पुराणपरिभाषा में यह यज्ञमूर्त्ति विष्णु 'शुक्लाम्बरधर, श्वेतद्वीपनिवासी, अपत्नीक, सत्यनारायण भगवान' नाम से उपवर्णित है, जैसा कि गीताभूमिकान्तर्गत **'भक्तियोगपरीक्षा'** पूर्वखण्ड में विस्तार से प्रतिपादित है। यही नवाहयज्ञ 'स्कम्भ' है। स्तम्भ ही स्कम्भ नाम से व्यवहृत हुआ है। यही सम्वत्सरात्मक ज्योतिर्म्मय ऐन्द्राग्नस्कम्भ देवस्वर्ग है, जिसमें ३ विष्टप्स्वर्ग एवं ७ देवस्वर्गभुक्त हैं।

नवाहयज्ञ के ९ अहर्गणों में से १७वाँ अहर्गण **'आहवनीयस्वर्ग'** है, इसी को महर्षि कठ ने **'नाचिकेतस्वर्ग'** नाम से व्यवहृत किया है, जैसा कि **कठोपनिषद्विज्ञानभाष्य** के स्वर्ग्याग्नि प्रकरण में विस्तार से प्रतिपादित है। ज्योतिष्टोमापरपर्य्यायक सोमयाग से यही स्वर्ग प्राप्त होता है। २१वें अहर्गण पर सूर्य्य प्रतिष्ठित है। केन्द्रावच्छेदेन यही प्रदेश (हृत्प्रदेश) **'नाकस्वर्ग'** कहलाया है। उक्त स्कम्भ की प्रतिष्ठा (केन्द्र) यही नाकस्वर्ग है, जो कि ज्योतिर्नय में **'कदम्ब'** नाम से भी व्यवहृत हुआ है। यही विज्ञानभाषा में **'ब्रध्नस्यविष्टप्'** कहलाया है। २५वाँ अहर्गण सौम्यविद्युत् (आत्मलक्षण चिद्विद्युत्) से युक्त है। यही

नवाहयज्ञमण्डल परिलेखः—
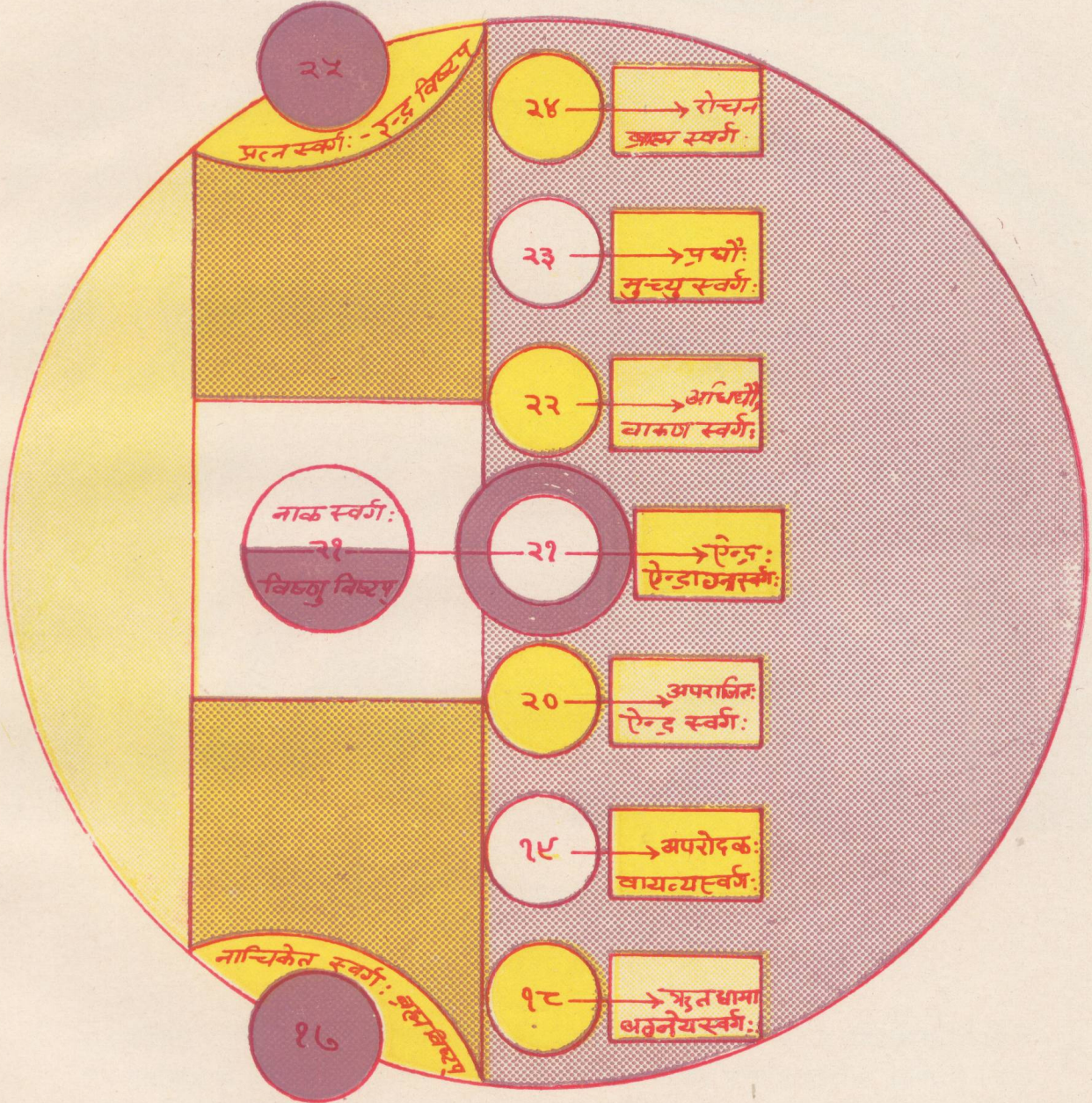
सौर सम्वत्सरमण्डल के जिस नियत ज्योतिर्म्मय प्रदेश से पार्थिव अग्निस्तम्भ समतुलित है, वह सौर सम्वत्सरमण्डल 'नवाहयज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। इस नवाहयज्ञ में "१७-१८-१९-२०-२१-२२-२३-२४-२५" इन ९ अहर्गणों का भोग हो रहा है। इस नवाहयज्ञ के केन्द्र (पृथिवी का २१वाँ अहर्गण) में सूर्य्य प्रतिष्ठित है। इस सम्वत्सरात्मक ज्योतिर्म्मय ऐन्द्राग्नस्कम्भ देवस्वर्ग में ३ (१७–२१–२५) त्रिविष्टप् स्वर्ग व ७ (१८–१९–२०–२१–२२–२३–२४) देवस्वर्ग हैं।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय, 'मानवाश्रम', जयपुर।

वेद साहस्री-ऐन्द्री परिलेखः—

भूपिण्डः

उक्त परिलेख में केन्द्र से २१ स्तोम पर्यन्त व्याप्त अग्नितत्त्व के ९–१५–२१ भेद से **घन**, **तरल**, **विरल** ये तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। इनमें त्रिवृत् (९) स्तोमावच्छिन्न पार्थिव प्रदेश में घनाग्नि '**अग्नि**' है। यही पार्थिव अग्नि शुक्र ही '**ऋक्साहस्री**' का प्रभव है। इसका गायत्र छन्दस्क '**प्रातःसवन**' से सम्बन्ध माना गया है। पञ्चदश (१५) स्तोमावच्छिन्न **आन्तरिक्ष्य प्रदेश** में प्रतिष्ठित तरलाग्नि '**वायु**' है। यही वायु अन्तरिक्षानुगत अग्निशुक्र **यजुसाहस्री** की विकास भूमि है। इसका त्रैष्टुप् छन्दस्क **माध्यन्दिन सवन** से सम्बन्ध माना गया है। एकविंश (२१) स्तोमावच्छिन्न **द्यौः** (दिव्य) प्रदेश में प्रतिष्ठित विरलाग्नि '**आदित्य**' है। द्युलोकानुगत अग्निशुक्र सामसाहस्री का प्रभव है। जिसका जागतछन्दस्क **सायंसवन** से सम्बन्ध है। इस प्रकार

ऋक्, **यजु**, **साम** साहस्री ही इन्द्रानुगत वेदसाहस्री है।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय, 'मानवाश्रम', जयपुर।

'प्रत्नस्वर्ग' नाम से प्रसिद्ध है। याज्ञिक परिभाषा में यही **'अविवाक्यमहः'**—**'महाव्रतम्'** इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। इस प्रकार स्कम्भात्मक ९ अहर्गणों में से उपक्रमस्थानीय सप्तदश (१७) मध्यमस्थानीय एकविंश (२१), उपसंहारस्थानीय पञ्चविंश (२५) ये तीनों क्रमशः 'नाचिकेतस्वर्ग, नाकस्वर्ग, प्रत्नस्वर्ग' नामों से व्यवहृत हुए हैं। नाचिकेतस्वर्ग **'ब्रह्मविष्टप्'** है, नाकस्वर्ग **'विष्णुविष्टप्'** है, प्रत्नस्वर्ग **'इन्द्रविष्टप्'** है। तीनों की समष्टि के लिए ही **'त्रिविष्टप्स्वर्ग'** नाम से व्यवहृत हुआ है।

(१) २५→प्रत्नस्वर्गः (वैद्युतः—इन्द्रविष्टप्)——→अपिवाक्यमहः

(२) २१→नाकस्वर्गः (ऐन्द्रः—विष्णुविष्टप्)——→व्रध्नस्यविष्टप् } →**त्रिविष्टप्स्वर्ग**

(३) १७→नाचिकेतस्वर्गः (आग्नेयः—ब्रह्मविष्टप्)——→आहवनीयः

उक्त तीन विष्टप्स्वर्गों के अतिरिक्त सात देवस्वर्ग हैं। 'देवस्वर्ग' शब्द से सामान्यतः इस सप्तक का ही ग्रहण किया जाता है। $\frac{१८}{१}$—$\frac{१९}{२}$—$\frac{२०}{३}$—$\frac{२१}{४}$—$\frac{२२}{५}$—$\frac{२३}{६}$—$\frac{२४}{७}$ नवाहयज्ञ में भुक्त ये सात अहर्गणात्मक ज्योतिः स्थान ही **'सप्त वै देवस्वर्गाः'** हैं। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि २१ स्थान का त्रिविष्टप्स्वर्ग में भी अन्तर्भाव है एवं सप्तदेवस्वर्ग में भी अन्तर्भाव है। विष्टप्स्वर्गात्मक २१ प्रदेश से सूर्य्य केन्द्र अभिप्रेत है एवं सप्तस्वर्गभुक्त २१ प्रदेश से सौरपार्थिवज्योतिर्भुक्त प्रदेश मात्र अभिप्रेत है। इस प्रकार १७ से २५ पर्य्यन्त वितत ज्योतिर्म्मय नवाहयज्ञात्म स्कम्भ में ३ विष्टप्स्वर्गभुक्त हैं एवं ७ देवस्वर्गभुक्त हैं। ९ अहर्गणों में $\frac{१८}{१}$—$\frac{१९}{२}$—$\frac{२०}{३}$ ये तीन अहर्गणात्मक साममण्डल (स्वरतत्त्वात्मक-मध्यस्थ सूर्य्य सम्बन्ध से) **'प्राक्स्वरसाम'** कहलाए हैं एवं $\frac{२२}{१}$—$\frac{२३}{२}$—$\frac{२४}{३}$ ये तीन मण्डल **'उत्तरस्वर-साम'** कहलाए हैं। ये ही स्वरसाम सूर्य्यग्रहण के प्रवर्त्तक बनते हैं, जैसा कि **'वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्'** निबन्ध में विस्तार से प्रतिपादित है। निष्कर्ष यही हुआ कि, स्कम्भ ही स्वर्गलोक है। यह यही पुण्यस्कम्भ (धर्म्मस्तम्भ) है, जिसके आधार पर निराधार छायापृथिवी प्रतिष्ठित हैं। निम्नलिखित परिलेख से नवाहयज्ञमण्डलात्मक स्वर्गस्वरूप गतार्थ बन रहा है—

'देवस्वर्ग' कहाँ है ? सौर सम्वत्सर का कौनसा नियत प्रदेश स्वर्ग कहलाया है ? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के साथ देवस्वर्गनिरुक्ति विश्राम ले रही है। 'नवाहयज्ञ' सम्बन्ध से देवस्वर्ग ९ भी माने जा सकते हैं, यदि त्रिविष्टप्स्वर्ग दृष्टि से संख्या का संकलन किया जाता है, तो देवस्वर्ग १० भी माने जा सकते हैं। २४–२३–२२ एवं २०–१९–१८ इन ६ प्रागुत्तरस्वरसामों को भी स्वर्ग कहा जा सकता है। मध्यस्थ सूर्य्य भी स्वर्ग माना जा सकता है। सूर्य्यप्रतिष्ठारूप स्वरतत्त्व को भी स्वर्ग कहा जा सकता है। महापृथिवी के १७वें अहर्गण से आरम्भ कर २५वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त ज्योतितत्त्व भी स्वर्ग माना जा सकता एवं इस महिमापृथिवी की दृष्टि से यह भी कहा जा सकता कि, "पृथिवी पर देवस्वर्ग प्रतिष्ठित हैं।" निम्नलिखित श्रौतवचन दृष्टिकोण भेदभिन्ना स्वर्ग की इन्हीं परिभाषाओं का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

"स यदाह स्वरोऽसीति–सोमं वा एतदाह। एष ह वै सूर्य्यो (ज्योतिः) भूत्वाऽमुस्मिंल्लोके स्वरति। तद्यत् स्वरति, तस्मात् स्वरः। तत् स्वरस्य स्वरत्वम्।" (गो०ब्रा०पू० ५।१४)।

"य आदित्यः, स्वर एव सः।" (जै०उ० ३।३३।१)।

"इमान् वै लोकान् स्वरसामभिरस्पृण्वन् । तत् स्वरसाम्नां स्वरसामत्वम्"
(ऐ०ब्रा० ४।१६) ।

"एतर्हि वा अत्रय आदित्यं तमसो ऽ स्पृण्वन् । तद्यत्–अस्पृण्वन्, तस्मात् स्वरसामानः ।" (कौ०ब्रा० २४।३) ।

"स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यं तमसाऽविध्यत् । तं देवाः स्वरैरस्पृण्वन् । यत् स्वरसामानो भवन्ति, आदितस्य स्पृत्यै ।" (तां०ब्रा० ४।५।२) ।

"त्रयः स्वरसामानः–विश्वजित्, महाव्रतः अतिरात्रश्च ।" (ष०ब्रा० ३।१२) ।

"स्वर्गो वै लोकः स्वरसाम ।" (कौ०ब्रा० १२।५) ।

"उपरीव सुवर्गो (स्वर्गो) लोकः ।" (तै०ब्रा० ३।१।१।५) ।

"परो वा अस्माल्लोकात् स्वर्गोलोकः ।" (ऐ०ब्रा० ६।२०) ।

"प्रतिकूलमिव हीतः स्वर्गोलोकः ।" (तां०ब्रा० ६।७।१०) ।

"एकविंशो वा इतः स्वर्गोलोकः ।" (तै०ब्रा० ३।१२।५।७) ।

"यावद्वै सहस्राङ्गाव उत्तराधरा इत्याहुः, तावदस्मात् लोकात् स्वर्गो लोक इति । तस्मादाहुः–सहस्रयाजी वा इमान् लोकान् प्राप्नोति ।"
(तां०ब्रा० १६।८।६) ।

"स्वर्गो वै लोकः सूर्य्यो ज्योतिरुत्तमम् ।" (शत०ब्रा० १२।६।२।८) ।

"स्वर्गो वै लोको ब्रध्नस्यविष्टप् ।" (ऐ०ब्रा० ४।४) ।

"स्वर्गो वै लोको नाकः ।" (शत० ६।३।३।१४) ।

"अथ यत् परं भाः (सूर्य्यस्य), प्रजापतिर्वा, स स्वर्गो लोकः ।"
(शत० १।६।३।१०)

"स्वरिति सामभ्योऽक्षरत् । स स्वर्गोलोकोऽभवत् ।" (ष०ब्रा० १।५)।

"स्वर्गो वै लोक आहवनीयः ।" (तै०ब्रा० १।६।३।६) ।

"बृहती (विष्वत्) वै स्वर्गोलोकः ।" (शत० १०।५।४।६) ।

"मध्येह सम्वत्सरस्य स्वर्गोलोकः ।" (शत० ६।७।४।११) ।

"स्वर्ग्या वा एते स्तोमाः, यत् ज्योतिर्भवति ।" (तां०ब्रा० १६।३।७) ।

"एतेन वा इन्द्रः सप्त स्वर्गांल्लोकानरोहत् ।" (ऐ०ब्रा० ५।१०) ।

"नव स्वर्गा लोकाः ।" (ऐ०ब्रा० ४।१६) ।

"दश स्वर्गा लोकाः ।" (गो०ब्रा०उ० ६।२) ।

"सप्त वै देवलोकाः ।" (ऐ०ब्रा २।१७) ।

"उत्तरो वै देवलोकः" (शत० १२।७।३।७) ।

"स्वर्गो लोकः पृष्ठानि ।" (तां०ब्रा० १६।१५।६) ।

"स्वर्गो वै लोको यज्ञः ।" (कौ०ब्रा० १४।१)

"नवाहो वै सम्वत्सरस्य प्रतिमा ।" (ष०ब्रा० ३।१२) ।

विद्यासमुच्चित–यज्ञतपोदानलक्षण पुण्यकर्म्म ही तत्तद्देवस्वर्गावाप्ति का कारण बनता है। इस विद्यात्मककर्म्म से कर्म्मात्मा देवस्वर्गसाधक आध्यात्मिक स्वर्गपथ से उत्क्रान्त होता हुआ देवस्वर्गगति का अनुगामी बनता है। जैसा कि—**"दश पुरुषे स्वर्गनरकाणि, तान्येनं स्वर्गं गतानि स्वर्गं गमयन्ति, नरकं गतानि नरके गमयन्ति"** (जै०उ०ब्रा० ४।२५।६)—**"ये हि जनाः पुण्यकृतः स्वर्गं लोकं यान्ति, तेषामेतानि नक्षत्राणि ज्योतींषि"** (शत० ६।५।४।८)—**"विद्यया देवलोको (जय्यः)"** (शत० १४।४।३।६) इत्यादि श्रौतनिगमों से प्रमाणित है। महिमापृथिवी से सम्बन्ध रखने वाले नवाहयज्ञात्मक ज्योतिर्लक्षण इस देव-स्वर्ग को मनुष्य अपने चर्म्मचक्षु से देखने में सर्वथा असमर्थ है। योगजदृष्टि ही तत्प्रत्यक्ष का कारण है, अथवा तो फिर वह पार्थिव अश्व ही इस स्वर्गलोक का प्रत्यक्ष कर रहा है, जो भूपिण्ड से संलग्न होकर ज्योतिःरूप से द्युलोक पर्य्यन्त व्याप्त है। इसी भाव को लक्ष्य में रखते हुए ऋषि ने कहा है—

त्रिविष्टप् मण्डल परिलेखः—
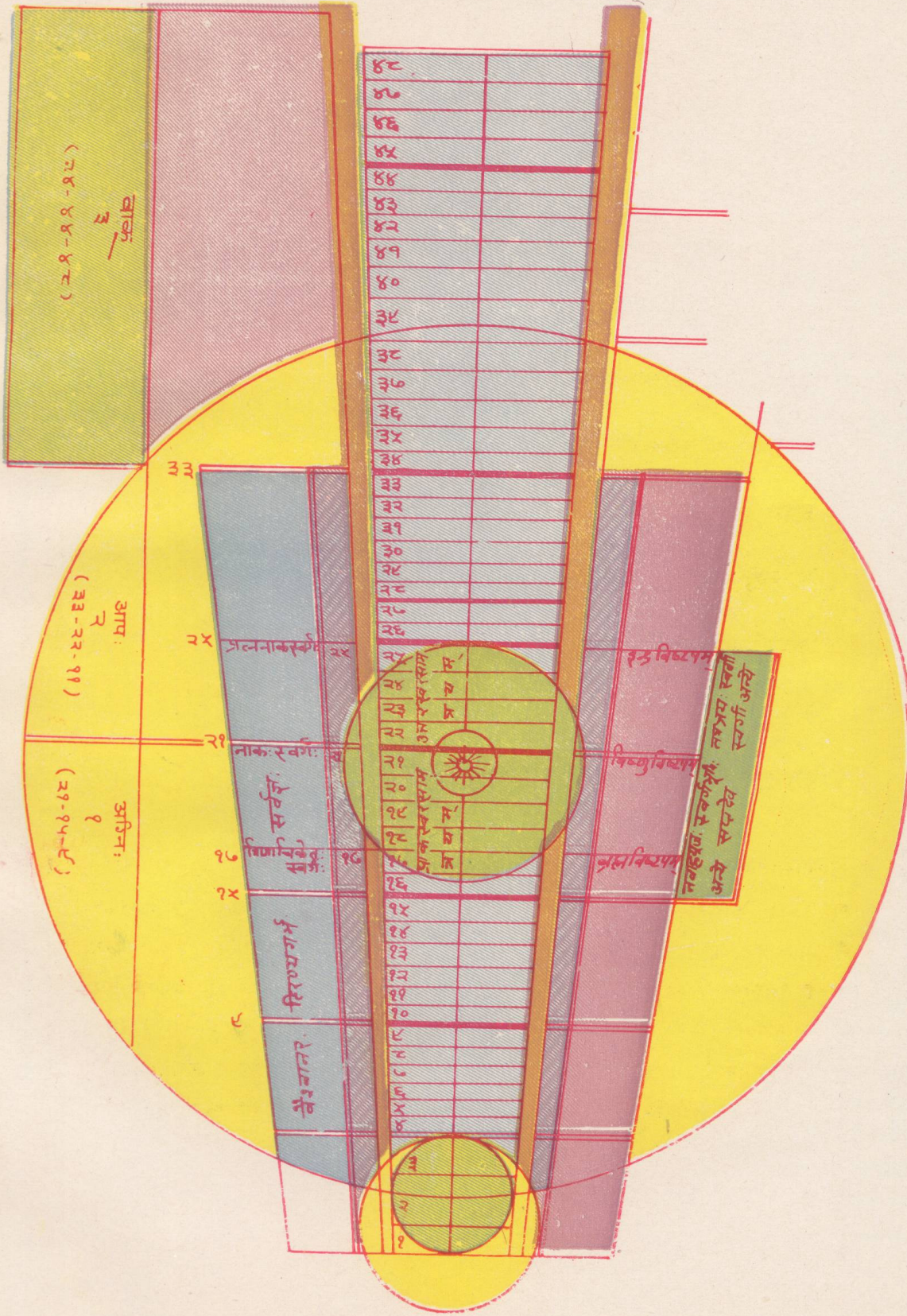
१७वें अहर्गण से २५वें अहर्गण पर्यन्त ९ अहर्गणों में सौर इन्द्र तथा पार्थिव अग्निज्योति, दोनों का समन्वय हो रहा है। यही ऐन्द्राग्न यज्ञ **'नवाहयज्ञ'** कहलाता है। इसके केन्द्र में २१वें अहर्गण पर सूर्य प्रतिष्ठित है। इसमें (नवाहयज्ञ में) ३ विष्टप्स्वर्ग व ७ देवस्वर्ग भुक्त हैं। इनमें १७वाँ अहर्गण 'आवहनीय स्वर्ग' है, इसे ही **'नाचिकेतस्वर्ग'** कहा जाता है। २१वें अहर्गण पर **'नरकस्वर्ग'** है। २५वें अहर्गण पर **'प्रत्नस्वर्ग'** प्रतिष्ठित है। नाचिकेत स्वर्ग **'ब्रह्मविष्टप्'**, नरकस्वर्ग **'विष्णुवष्टप्'** व प्रत्नस्वर्ग **इन्द्रविष्टप्** कहलाते हैं।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय, 'मानवाश्रम', जयपुर।

वाक्साहस्रीमण्डल परिलेखः—

४२ अहर्गणात्मक वाक्साहस्री मण्डल में २१–३३–४८ स्तोमत्रयी पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ भेद से तीन लोक में प्रतिष्ठित है। २१ तक के स्तोमों में पृथिवीलोक पार्थिव अग्नि-रूप में ९–१५–२१ भेद से तीन लोक (अग्नि) में प्रतिष्ठित है। ३३ स्तोमावच्छिन्न **अन्तरिक्षलोक** में ११–२२–३३ भेद से तीन लोक (आपः) प्रतिष्ठित हैं एवं ४८ स्तोमावच्छिन्न **द्युलोक** में २४–४४–४८ भेद से तीन लोक (वाक्) प्रतिष्ठित हैं। इसमें १७ से २५ तक के ९ अहर्गणों का प्रदेश **देवस्वर्ग** प्रदेश है। इसी के केन्द्र में (२१ स्तोम पर) सूर्य प्रतिष्ठित रहता है।

(चित्र का बाकी भाग अगले पृष्ठ पर)

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय, 'मानवाश्रम', जयपुर ।

पितृस्वर्गत्रयी—परिलेखः—
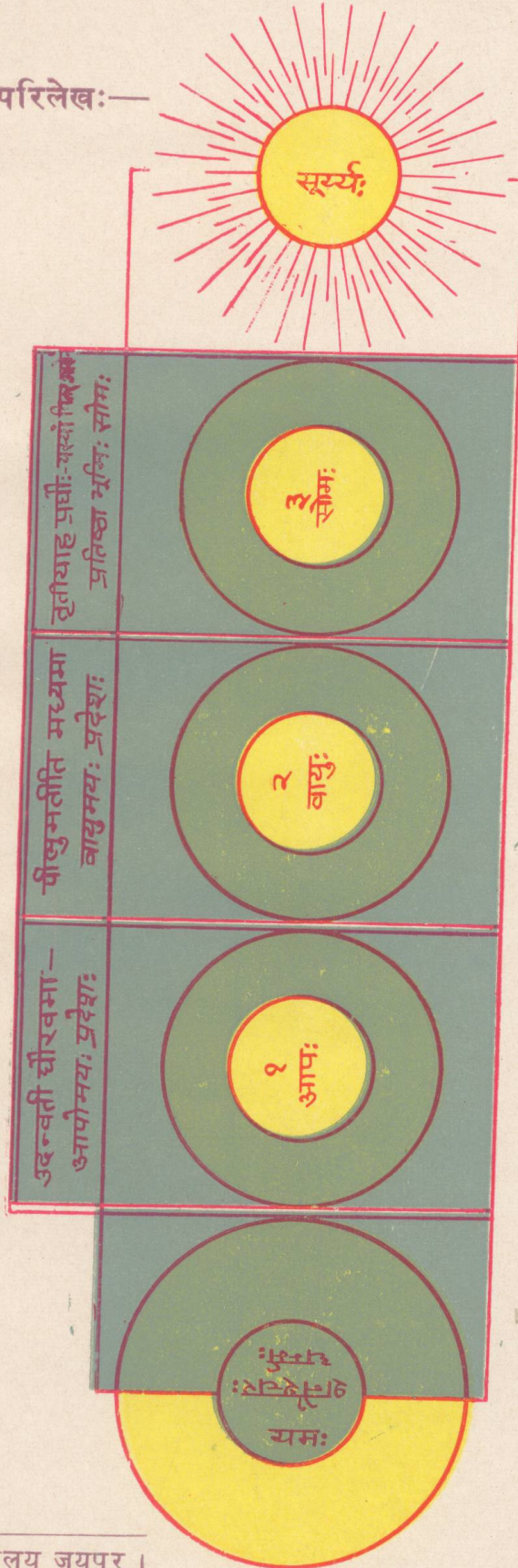
अथर्व वेद 18/1/54, 59
(18/2/7, 47, 48)

शनिमण्डल का अर्द्धमण्डल जो कि सौरज्योतिर्भाग से मुक्त रहता हुआ सूर्य्य विरुद्ध दिक् में प्रतिष्ठित रहता है। यही शनिमण्डल **यम** कहलाता है। इस प्रकाशमण्डल में एक नियत सीमापर्य्यन्त अप्तत्त्व (आपः) का साम्राज्य है, यही **उदन्वती** नाम की द्यु है कुछ स्थान में वायुतत्त्व का साम्राज्य है, यही **पीलुमती** नाम की द्यु है। सर्वान्त में सोमतत्त्व का साम्राज्य है, यह सौम्य पितरों की प्रतिष्ठा भूमि है। यही **प्रद्यौ** नामकी द्यु है उत्क्रान्त कर्म्मात्मा पहले उदवन्ती में जाता है, अनन्तर पीलुमती तथा सर्वान्त में प्रद्यौ में जाकर यावत् कर्म्मसंस्कार भुक्ति पर्य्यन्त प्रतिष्ठित हो जाता है।

"न वै मनुष्यः स्वर्गं लोकमञ्जसा वेद । अश्वो वै स्वर्गं लोकमञ्जसा वेद ।
(शत० १३।२।३।१)

४८ अहर्गणात्मक वाक्साहस्री–मण्डल में २१–३३–४८ भेद से पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ ये तीन लोक प्रतिष्ठित हैं। २१ स्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक में ६–१५–२१ भेद से तीन लोक प्रतिष्ठित हैं। ३३ स्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्षलोक में ११–२२–३३ भेद से तीन लोक प्रतिष्ठित हैं एवं ४८ स्तोमावच्छिन्न द्युलोक में २४–४४–४८ भेद से तीन लोक प्रतिष्ठित हैं। जैसा कि पूर्व में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। इन ४८ अहर्गणों से ३ अहर्गण तो हृद्यदेवत्रयी के सम्बन्ध से भूपिण्ड में भुक्त हैं। शेष ४५ अहर्गण महिमामण्डल में भुक्त हैं। इन ४५ तक के ६ अहर्गणों का प्रदेश ही 'देवस्वर्ग' प्रदेश है जिसके केन्द्र में सूर्य्य प्रतिष्ठित है एवं यही देवस्वर्गनिरुक्ति की संक्षिप्त वैज्ञानिक मीमांसा हैं।

पितृस्वर्गनिरुक्तिः—

विद्यासमुच्चितप्रवृत्तिकर्म्मनिमित्तसाध्या विशिष्ट सद्गतिलक्षणा देवस्वर्गगति से सम्बन्ध रखने वाले 'सप्तदेवस्वर्ग' के स्वरूप निरुपणानन्तर विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्मनिमित्तसाध्या सामान्यसद्गतिलक्षणा पितृस्वर्गगति से सम्बन्ध रखने वाले पितृस्वर्ग-स्वरूप की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। स्तौम्यत्रिलोकीरूपा महापृथिवी के द्युलोक स्थानीय एकविंश अहर्गण पर प्रतिष्ठित स्वज्योतिर्घन सूर्य्य के चारों ओर तदुपग्रहभूत बुध, शुक्र, भूपिण्ड, मङ्गल, देवसेना, बृहस्पति, शनि नामक ग्रह परिक्रमा लगा रहे हैं। इन उपग्रहों में शनि सर्वान्त में प्रतिष्ठित है। शनिग्रह के चारों ओर कटकाकार एक वृत्त प्रतिष्ठित है। यही कटकवृत्त पुराणपरिभाषा में **'वैतरणी नदी'** कहलाया है। इस शनिमण्डल का वह अर्द्धमण्डल, जो सौरज्योतिर्भाग से युक्त रहता हैं—**'धर्म्मराज'** कहलाया है एवं शनिमण्डल का वह अर्द्धमण्डल जो सूर्य्यविरुद्धदिक् में प्रतिष्ठित रहता हुआ तमोमय है—**'यमराज'** कहलाया है। ज्योतिर्युक्त अर्द्धशनिमण्डल धर्म्मराज है, तमोयुक्त अर्द्धशनिमण्डल यमराज है। वही शनिमण्डलयम है। इसी आधार पर पुराण ने एक ही व्यक्ति के ये दो आधिकारिक नाम माने हैं।

दक्षिणदिक्स्थ शनिमण्डल का ज्योतिर्म्मय स्थान ही 'पितृस्वर्ग' है। इस प्रकाशमण्डल में एक नियत सीमापर्य्यन्त अप्तत्त्व का साम्राज्य है, यही **'उदन्वती'** नाम की द्यु है। कुछ स्थान में वायुतत्त्व का साम्राज्य है, यही **'पीलुमती'** नाम की द्यु है एवं सर्वान्त में सोमतत्त्व का साम्राज्य है, यही सौम्यपितरों की प्रतिष्ठाभूमि है **'प्रद्यो'** नाम की द्यु है। उत्क्रान्त कर्म्मात्मा पहले उदन्वती में जाता है, अनन्तर पीलुमती में जाता है, सर्वान्त में प्रद्यौ जाकर यावत्कर्म्मसंस्कार भुक्तिपर्य्यन्त प्रतिष्ठित हो जाता है। कर्म्मभोग समाप्त होने पर पूर्वप्रदर्शित अवरोह–पथ से पुनः मर्त्यलोक का अनुगामी बन जाता है।

विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्मानुयायी प्रेतात्मा दक्षिणस्थ ४२ अंशात्मक पितृयाण मार्ग चान्द्रज्योति का आश्रय लेता हुआ पितृस्वर्गगति का अधिकारी बनता है। सौरज्योति के द्वारा बलाधान करने के लिए तत्प्राणयुक्तप्रक्त गौपशु का प्रेतनिमित्तकदान आवश्यक माना गया है। अप्तत्त्वात्मिका वैतरणी का

सन्तरण इसी गौप्राण से होता है, जैसा कि आगे स्पष्ट होने वाला है। निम्नलिखित मन्त्र त्रिधाविभक्त इसी पितृस्वर्ग का स्पष्टीकरण कर रहा है—

"उदन्वती द्योखमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते॥

ख—दुर्गतिलक्षणा संसृतिगतिः (क्रमगतिः)

संसृतिगतिलक्षणा क्रमगति के सद्गति, दुर्गति, योनिगति भेद से तीन विवर्त्त बतलाये गए हैं। (पृ०सं० १६८) इनमें से देवस्वर्ग, पितृस्वर्ग भेदभिन्ना संसृतिगतिलक्षण सद्गतिद्वयी का स्वरूप बतलाया गया। अब क्रमप्राप्त संसृतिगतिलक्षण क्रमगति के दूसरे **'दुर्गति'** विवर्त्त की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसके अवान्तर ८४ भेद माने गए हैं। दुःखपूर्वक गमनयोग्या एवं दुःखस्थान प्राप्ति निमित्तभूता यह दुर्गति ही **'नरकगति'** नाम से व्यवहृत हुई है। **'अपि च सप्त'** इस व्यास सिद्धान्त के अनुसार देवस्वर्गवत् इस दुर्गतिलक्षण नरकस्थान के भी अवान्तर ७ ही विवर्त्त माने गए हैं। संसृतिलक्षण सद्गति के सामान्यसद्गतिलक्षणा पितृस्वर्गगति की भाँति इस सप्तावयव नरकगति का भी पितृयाणमार्ग से ही सम्बन्ध है। दोनों में अन्तर केवल यही है कि, पितृस्वर्गगति में चान्द्रआतपपथ गमनमार्ग बनता है एवं नरकगति में चान्द्रछायापथ गमनमार्ग बनता है, जैसा कि पूर्व परिच्छेदों में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है।

देवस्वर्गनिरुक्ति में हमने ज्योति को आत्मानन्द का कारण बतलाया था। सिद्ध है कि, तमोभाग अवश्यमेव आत्मक्लेश का कारण है पितृस्वर्गनिरुक्ति में प्रतिपादित शनिमण्डल का सूर्य्यविरुद्ध दिगनुगत तमोमय भाग ही नरकस्थान है। अवश्यमेव ज्योतिर्म्मय आत्मा का चन्द्रछायापथ द्वारा इस तमोलोक में जाना अत्यधिक क्लेश का कारण है। इसी दुःखभाव के कारण यह नरकगति दुर्गति कहलाई है। पितृयाणमार्ग से सम्बन्ध रखने वाली इस नरकगति के (नरक स्थान के) चान्द्रसम्वत्सर के सम्बन्ध से आगे जाकर ८४ अवान्तर भेद हो जाते हैं। जिस प्रकार देवयानमार्ग का अधिष्ठाता सूर्य्य है, एवमेव पितृयाणमार्ग का मूलाधार चन्द्रमा माना गया है। चन्द्रमा का अष्टविंशति नक्षत्रों के साथ भोग हो रहा है एवं नक्षत्रावच्छिन्न चन्द्रमा का सौरमण्डल के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सौरमण्डल में गायत्र्यादि—जगत्यन्त ७ पूर्वापरवृत्तों (अहोरात्रवृत्तों) का समावेश है। इन सात वृत्तों के सम्बन्ध से सौरनाड़ीवृत्त सात भागों में विभक्त हो रहा है। सप्तधा विभक्त इन्हीं सप्त सूर्य्यनाड़ियों का स्वरूप बतलाती हुई मन्त्र—ब्राह्मण श्रुति कहती है—

"यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविस्मानवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्धामारोहन्तं स जनास इन्द्रः।" (ऋक् सं० २।१।२।१)

"स एष (आदित्यः) सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविस्मान्।" (जै०उ० १।२८।२)।

उक्त सौर–नाड़ीसप्तक का चन्द्रमा से सम्बन्ध होता है। सप्तक द्वारा चान्द्रछायापथ के आरम्भ में ७ विवर्त्त हो जाते हैं। आगे जाकर २८ नक्षत्रों के सम्बन्ध से यह चान्द्रसप्तक चतुर्गुणित होता हुआ २८ विवर्त्त भावों में परिणत हो जाता है। त्रिवृत्भाव सम्बन्ध से २८ विवर्त्त अन्ततोगत्वा ८४ विवर्त्तभावों में परिणत हो जाते हैं। पुराणशास्त्र ने इन ८४ नरकों के दो व्यवस्था–क्रम स्वीकार किए हैं। ७–२१–८४ यह एक क्रम है। ७, २८, ८४ यह एक क्रम है, सप्तक का त्रिगुणित रूप २१ है, २१ का चतुर्गुणित रूप ८४ है। सप्तक का चतुर्गुणित रूप २८ है, २८ का त्रिगुणितरूप ८४ है। दोनों मत यथास्थान निर्विरोध प्रतिष्ठित हैं, केवल निरूपणीया शैली में भेद है जैसा कि प्रस्तुत सन्दर्भ से स्पष्ट हो जाता है।

पितृस्वर्गनिरुक्ति में कहा गया है कि बुधादि ग्रह बृहतीमध्यारूढ सूर्य्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं। इन ग्रहों के परिभ्रमण मार्ग ही पुराण में **'अष्टौ दिव्य नागाः'** नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रकृत में केवल चन्द्रपरिभ्रमण मार्गात्मक दिव्य नाग की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। मङ्गल तथा चन्द्रमा इन दोनों ग्रहों की गति बड़ी विलक्षण है। दोनों ग्रह एक रेखा पर सममार्ग न बना कर विषमरूप से परिभ्रममाण हैं। चन्द्रमा एक मास में (सावनमानानुसार २८ अहोरात्रात्मक एक चान्द्रमास में) भूपिण्ड के चारों ओर एक परिक्रमा लगा लेता है। इस अनुपात से चान्द्र सम्वत्सर के ३३३ (तीन सौ तैंतीस) अहोरात्र हो जाते हैं। आज खगोलीय जिस नियत बिन्दु से चन्द्रमा अपनी गति आरम्भ करता है, मास–वर्ष की क्या कथा, २८वें सम्वत्सर में चन्द्रमा पुनः उसी नियत बिन्दु पर आता है। उपक्रम बिन्दु इस २८ वर्ष परिभ्रमण मार्गात्मक दिव्यनाग का पुच्छभाग है, उपसंहार बिन्दु मुखभाग है। २८ सम्वत्सर पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखने वाला यही चान्द्र दिव्यनाग है। इस दिव्यनाग में उच्चावचभाव से चन्द्रमा की अनन्तगतियाँ प्रतिष्ठित हैं। इन सब गतियों का स्थूलमान के आधार पर 'अवर–मध्यम–उत्तम' भेद से तीन गतियों में अन्तर्भाव मान लिया गया है। चन्द्रमा कभी तो भूपिण्ड के अत्यन्त सन्निकट रहता है, यही इसकी अवरगति है कभी भूपिण्ड से सर्वथा विदूर चला जाता है, यही उत्तम गति है एवं कभी मध्यगति का आश्रय लेता है।

जब चन्द्रमा भूपिण्ड के समीप रहता है, तब चन्द्रमा का विष्कम्भ (व्यास) तो ७ सप्तांगुलमित रहता है एवं सूर्य्य विष्कम्भ षडंगुल (६) मित रहता है। इस गतिकाल में चान्द्रच्छायालक्षण स्वर्भानु के सम्बन्ध से जो सूर्य्यग्रहण होता है, वह **'खग्रास'** कहलाया है। सूर्य्यावरण के साथ-साथ एकांगुल परिमाण से सौर 'ख' (आकाश) प्रदेश का भी ग्रास हो जाता है। जब चन्द्रमा मध्यमगति का आश्रय लेता है, तो सूर्य–चन्द्रमा, दोनों का व्यास षडंगुल–षडंगुल रूप से समतुलित हो जाता है। यही **'सर्वग्रास'** नामक सूर्य्यग्रहण है। जब चन्द्रमा भूपिण्ड से विदूर जाता हुआ उत्तम गति का आश्रय ले लेता है, उस समय चन्द्रव्यास षडंगुल हो जाता है, सूर्य्यव्यास सप्तांगुल रहता है। इस समय का ग्रहण सप्तांगुल सूर्य्य के मध्यस्थ षडंगुल प्रदेश को कटकाकार से आवृत कर लेता है अतएव यह ग्रहण **'कटकग्रास'** कहलाया है। इस प्रकार नागगतित्रय सम्बन्ध से, दूसरे शब्दों में चान्द्रगतित्रयी के तारतम्य से चन्द्रच्छाययोपपन्न सूर्य्यग्रहण तीन प्रकार का हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—
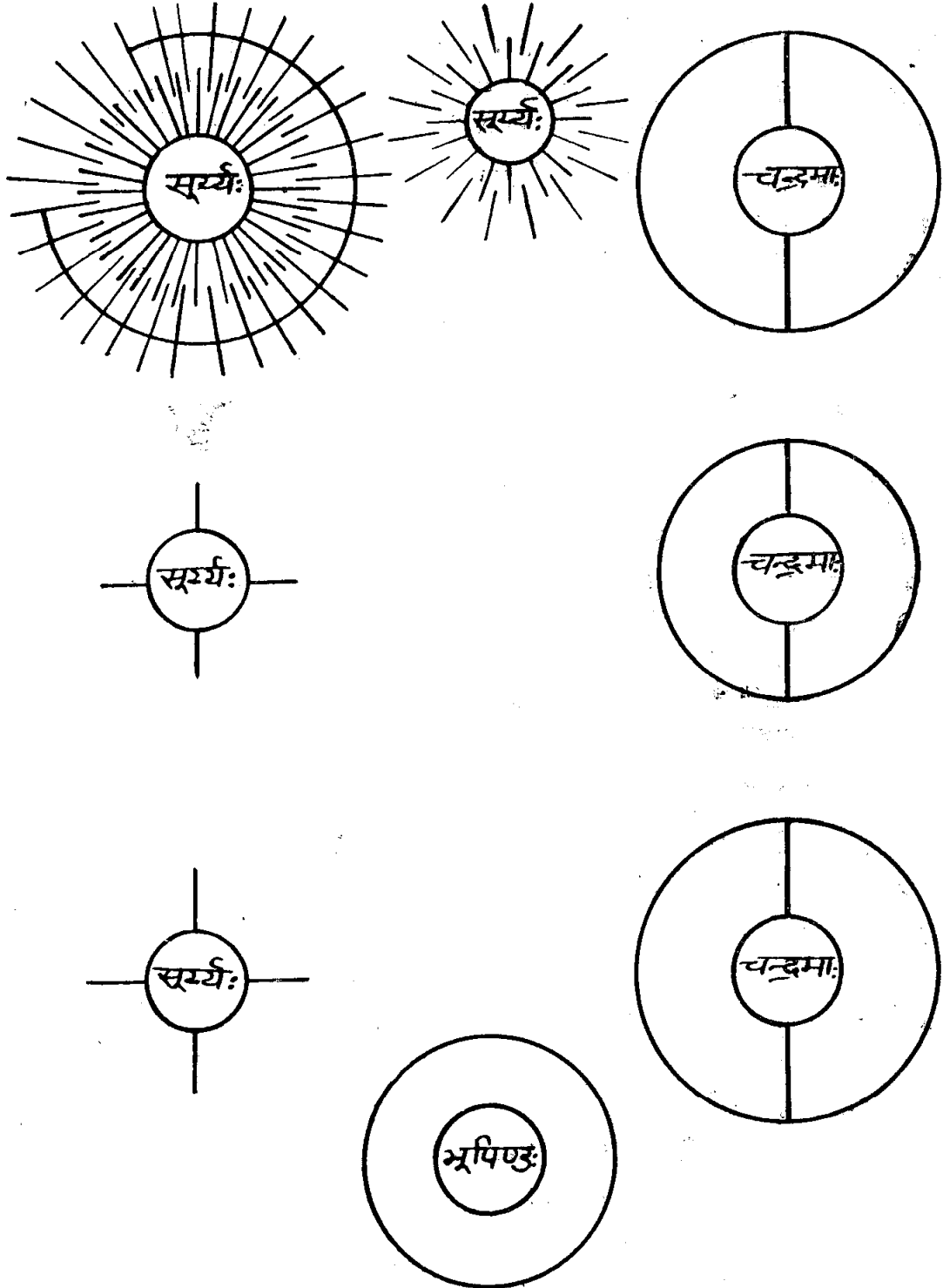
ग्रहणत्रयी–विवर्त्त से प्रकृत में यही वक्तव्य है कि, चन्द्रमा की गति तीन भागों में विभक्त है। इन तीन गतियों के कारण नक्षत्रसंस्था का स्वरूप भी भावत्रयरूप में परिणत हो जाता है। जब चन्द्रमा अवरमार्ग का अनुगमन करता है, तब २८ सौ नक्षत्रों की स्थिति, प्राणसंचार क्रम, प्राणादान क्रम, आत्मा-

दिव्यनाग (ग्रहों का परिभ्रमण मार्ग) से चन्द्रमा की अनन्तगतियाँ प्रतिष्ठित हैं। इन सब गतियों का स्थूलमान के आधार पर अवरा-मध्यमा-उत्तमा भेद से तीन गतियों में अन्तर्भाव माना जाता है। पृथिवी से चन्द्रमा कभी पास, कभी दूर, कभी सर्वथा दूर चला जाता है। इन्हीं गतियों को क्रमशः अवरागति-मध्यमागति-उत्तमागति कहा जाता है।
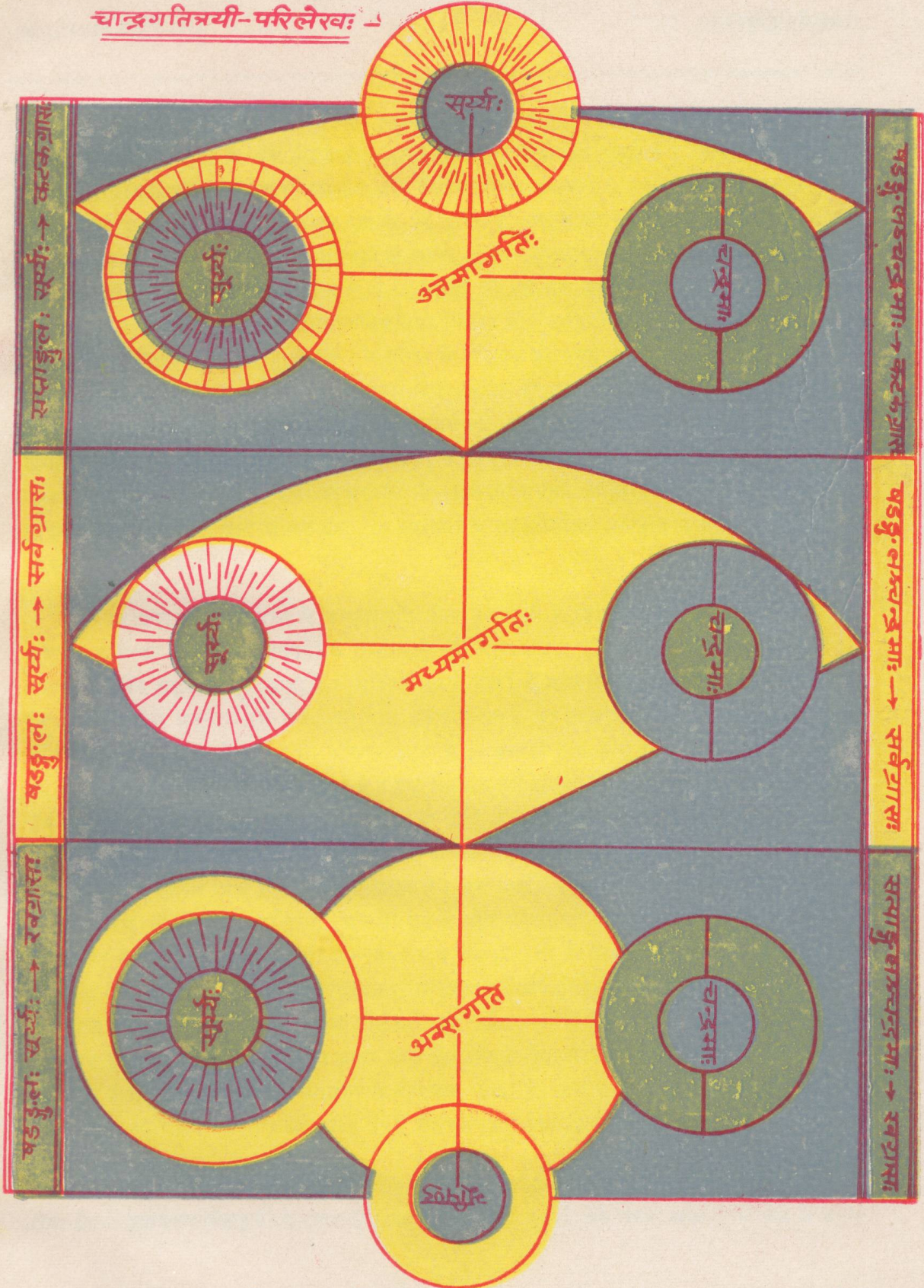
श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय जयपुर।

विसर्गक्रम, सब कुछ बिशेष भाव में परिणत रहता है। मध्यममार्गाश्रय से नक्षत्रसंस्था में अन्य ही बिशेष भावों का समावेश रहता है एवं उत्तममार्गानुगमन से भिन्न ही स्थिति रहती है। इस प्रकार चन्द्रगति-त्रैविध्य से अष्टाविंशतिनक्षत्रात्मक भचक्र के तीन बिशेष स्वरूप हो जाते हैं। चन्द्रमा के साथ सूर्य्य सप्त-नाड़ियों का सम्बन्ध रहता है। चन्द्रचक्र भेद से यह सूर्य्यनाड़ी सप्तक भी तीन भागों में विभक्त हो जाता है। इस प्रकार सात नाड़ियों के त्रिगुणभाव से समष्ट्यात्मक चन्द्रचक्र में २१ नाड़ीविवर्त्त हो जाते हैं। नक्षत्र २८ हैं। सूर्य्यनाड़ीसप्तक के योग से ७–७ नक्षत्रों का एक-एक खण्ड हो जाता है, समष्टया ४ खण्ड हो जाते हैं। प्रत्येक सप्तक के साथ एकविंशतिधा विभक्त सौर नाड़ियों का सम्बन्ध हो जाता है। इस प्रकार २१ नाड़ियाँ चतुर्गुणित होती हुई ८४ संख्या में परिणत हो जाती है। इन ८४ विवर्त्तों के सम्बन्ध से सर्वेश्वरमण्डल मुक्त नरकस्थान भी ८४ भागों में ही बिभक्त हो जाता है। यही पुराण का एक दृष्टिकोण है। इस क्रम में सूर्य्यनाड़ीसप्तक का पहले चान्द्रमार्गत्रयी से सम्बन्ध हुआ है। अनन्तर २८ नक्षत्रों से सम्बन्ध हुआ है। विभिन्न पौराणिक दृष्टिकोणों के अनुसार पहले सूर्य्यनाड़ीसप्तक का २८ नक्षत्रों से सम्बन्ध हुआ है। सात-सात नक्षत्रों के सम्बन्ध में सूर्य्यनाड़ीसप्तक चतुर्गुण बनता हुआ २८ संख्या में परिणत हो जाता है। आगे जाकर इन २८ नाड़ियों के चान्द्रमार्गत्रयी सम्बन्ध से त्रिगुणभाव द्वारा ८४ विवर्त्त हो जाते हैं।

जिस प्रकार गतित्रैविध्य से चान्द्रस्थिति तीन संस्थाओं में विभक्त होती है, एवमेव "अमावस्या, अष्टका, पूर्णिमा" इन तीन मासपर्वों के सम्बन्ध से भी चान्द्रमण्डल की तथा चान्द्रमण्डलसम्बन्ध नक्षत्र-मण्डल की तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। भूपिण्ड, सूर्य्य, दोनों के मध्य में जब चन्द्रमा आता है, तो '**दर्शः-सूर्य्येन्दुसङ्गमः**' के अनुसार उस समय दर्शतिथि (अमावास्या) का साम्राज्य रहता है। इस समय नक्षत्र-संस्था का स्वरूप भिन्न ही प्रकार में परिणत रहता है। चन्द्रमा तथा सूर्य्य दोनों के मध्य में जब भूपिण्ड आ जाता है, तो पूर्णिमा का उदय होता है। इस समय नक्षत्र संस्था अपना विशेष ही स्वरूप रखती है। जब चन्द्रमा भूपिण्डकेन्द्र के समसम्मुख आ जाता है, दूसरे शब्दों में जब चन्द्रमा याम्योत्तर (दक्षिणोत्तर) रूप से भूपिण्ड केन्द्र से समतुलित हो जाता है, तो अष्टकातिथि (अष्टमी) का उदय होता है। इस समय नक्षत्रसंस्था का स्वरूप भिन्न ही प्रकार का रहता है। इस प्रकार २८ वर्षात्मक महामण्डल की भाँति इस मासिकमण्डल में भी अमा, पूर्णिमा, अष्टमी भेद से तीन मण्डल हो जाते हैं। इन तीनों के सम्बन्ध से नरकप्रदेश के भी ७–२१–८४ अथवा ७–२८–८४ ये भेद हो जाते हैं, जिनका सुपर्णपुराण (गरुड़पुराण) में विस्तार से विश्लेषण हुआ है। तत्तदसदसत्कर्म्मसंस्कार विशेष ही इन नरकगतियों के निमित्त बनते हैं। पुत्र द्वारा प्रेतात्मा के निमित्त होने वाले नीलवृषोत्सर्ग, गौदान आदि कर्म्मों से नरकगत्यारूढ प्रेतात्मा में बलाधान होता है एवं पुत्रगत श्रद्धासूत्र द्वारा प्राप्त इस बल से प्रेतात्मा उस याम्ययातना के सहने में समर्थ हो जाता है। गौदानादिकर्म्म से प्रेतात्मा में बलाधान होता है, इस सम्बन्ध में श्रौतप्रमाण की जिज्ञासा रखने वालों का ध्यान निम्नलिखित श्रौत वचन की ओर आकर्षित किया जाता है।

यज्ञकर्म्म में दक्षिणादान आवश्यक माना गया है। बिना दक्षिणादान के यज्ञ निष्फल हो जाता है, जैसा कि—'**हतयज्ञमदक्षिणम्**' से स्पष्ट है। वह दक्षिणाद्रव्य सुवर्ण, गौ, वस्त्र, अश्व आदि भेद से अनेक-

विधि है। इस दक्षिणादान कर्म्म से यज्ञकर्त्ता यजमान के मानुषात्मा (कर्म्मात्मा) का द्युलोक से सम्बन्ध हो जाता है। यज्ञकर्म्म से उत्पन्न दिव्यप्राणातिशयात्मक दैवात्मा मानुषात्मा से बद्ध होता हुआ 'त्रिणाचिकेत' नामक सप्तदश ऋतधामा नामक आग्नेय स्वर्ग में प्रतिष्ठित हो जाता है। द्युलोकपर्य्यन्त वितत मानुषात्मानुगत दिव्यात्मा में बलाधान करने के लिए ही यज्ञकर्त्ता यजमान श्रद्धापूर्वक कुलीन–पूर्णाङ्ग–विद्वान ऋत्विक् ब्राह्मणों को दक्षिणा प्रदान करता है। दक्षिणाद्रव्यगत दक्षिणा प्राण श्रद्धासूत्र द्वारा देवलोकस्थ यजमान के दैवात्मा में अवश्य ही प्रतिष्ठित होता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखते हुए भगवान याज्ञवल्क्य ने कहा है—

"अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्यं दक्षिणानि जुहोति। स दशाहोमीये वाससि हिरण्यं प्रबध्य (घृते) अवधाय जुहोति। 'देवलोके मे ऽप्यसत्' इति वै यजते, यो यजते। सो ऽस्यैष यज्ञो। [यज्ञातिशयरूपो दैवात्मा] देवलोकमेवाभिप्रैति। तदनूची दक्षिणा, यां ददाति, सैति। दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः।"

"गौपशु सौरपशु है। फलतः गौदान से अवश्यमेव आत्मा में आत्मानुरूप सौरप्राणबल का आधान होता है" इस रहस्य का विस्पष्ट निरूपण करती हुई श्रुती कहती है—

**"सौरीभ्यां ऋग्भ्यां जुहोति। तमसा वा असौलोकोऽन्तर्हितः।
स एतेन ज्योतिषा तमोपहत्य स्वर्गं लोकमुपसंक्रामति।"**

"गौदान आत्मप्राण में बलाधान करता हुआ आत्मप्राण का त्राण करता है", निम्नलिखित वचन भी इसी सिद्धान्त का समर्थन कर रहा है—

"अथ गौः। प्राणमेव.एतया आत्मनस्त्रायते प्राणो हि गौः, अन्नं हि गौः, अन्नं हि प्राणः।" (शत० ४।३।४।२५)।

देवकर्मात्मक यज्ञ में यदि गौदानादि से स्वर्गलोकस्थ यज्ञात्मा में बलाधान सर्वसम्मत है, यदि यज्ञिय दक्षिणाप्राण का श्रद्धासूत्र द्वारा द्युलोकस्थ दैवात्मा में गमन श्रुति समर्थित है, तो पितृयज्ञ में विधीयमान दक्षिणा का नरकलोकस्थ प्रेतात्मा में बलाधान करना कथमपि शङ्कास्पद नहीं माना जा सकता।

ग—योनिगतिलक्षणासंसृतिगति [क्रमगतिः]

संसृतिगतिलक्षण क्रमगति नाम के दूसरे गतिविवर्त्त में तीसरी योनिगतिलक्षणसंसृतिगति है। दो शब्दों में इसका भी उल्लेख दिया जाता है। इस योनिगति के चतुरशीतिलक्ष (८४००००० चौरासी लाख)

विवर्त्त माने गये हैं। इस योनिगति की मूलप्रतिष्ठा महानात्मा है, जैसा कि आत्मविज्ञानोपनिषदन्तर्गत **'महदात्मविज्ञानोपनिषत्'** में विस्तार से बतलाया जा चुका है। पितृसहःपिण्डमूर्त्ति, प्रजातन्तुवितान प्रवर्त्तक, सौम्यगुणक, शुक्रस्थित यह महानात्मादि—**"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्"** के अनुसार **'योनि'** नाम से व्यहृत हुआ है। इसी महद्योनि में बीजरूप से स्वार्जित धनात्मक अष्टाविंशति (२८) **पितृप्राण, ऋणात्मक** षट्पञ्चाशत् (५६) पितृप्राण, सम्भूय चतुरशीति (८४) पितृप्राण प्रतिष्ठित हैं, जैसा **कि सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदन्तर्गत 'प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्'** में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

शुक्रात्मक महानात्मा के शुक्र पदार्थ का क्या स्वरूप है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में पूर्व की देवस्वर्ग-निरुक्ति में 'वाक्–आपः–अग्निः' रूप से तीन तत्त्वों का विश्लेषण करते हुए यह बतलाया गया है कि, इन तीन शुक्रों के, किंवा अवस्थात्रयात्मक शुक्र के सम्बन्ध से 'वेद–लोक–वाक्' नाम की तीन साहस्रियों **का उद्भव** होता है। इन तीनों का क्रमशः देवता, असुर, पितर इन तीन आग्नेय–आप्य–सौम्य प्राणों से **घनिष्ठ सम्बन्ध** है। अग्निःशुक्र वेदसाहस्री का आधार है, यही आग्नेय देवताओं की विकासभूमि है। **आपःशुक्र** लोकसाहस्री का आधार है, यही आप्य असुरों की विकासभूमि है एवं वाक्शुक्र वाक्साहस्री का आधार है, यही सौम्य पितरों की विकासभूमि है। इसी वाक्शुक्र के सम्बन्ध से सौम्यपितरों के लिए **'पितरोवाक्यमिच्छन्ति'** वचन प्रसिद्ध है।

तीसरे वाक्शुक्र से सम्बन्ध रखने वाली वाक्साहस्री का **'सहस्रधामहिमानः सहस्रम्'** (ऋक् सं० १०।११४।८) रूप से सहस्रात्मक सहस्रमहिमारूप से वितान होता है। एक सहस्र का शतसंख्यात्मक पूर्ण **वितान ही सहस्र** का सहस्रवितान है। इस शतवितानात्मक सहस्रवितान एक सहस्र वाग्धाराओं के एक-**लक्ष विवर्त्त** हो जाते हैं। शुक्रात्मक चतुरशीति (८४) पितृप्राणसहःपिण्डों का लक्षात्मक **वाग्भाव** से **सम्बन्ध** होता है। समष्टिभोग के अतिरिक्त व्यष्टिरूप से प्रत्येक पितृप्राण के साथ स्वतन्त्ररूप से भी भोग **हो रहा है। फलतः** ८४ पितृप्राणों के चतुरशीतिलक्ष विवर्त्त हो जाते हैं। इस प्रकार वाक्साहस्री के सम्बन्ध **से शुक्रात्मक महल्लक्षण योनिभाव** ८४ लक्षात्मक बन रहे हैं। अण्डज, पिण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज भेद से **ये** ८४ **लाख योनियाँ** निम्नलिखित रूप से विभक्त हैं—

१—अण्डजयोनयः—→२१०००००

२—पिण्डजयोनयः—→२१०००००

३—स्वेदजयोनयः—→२१०००००

४—उद्भिज्जयोनयः—→२१०००००

योनिगतयः:—→८४०००००

सूर्य्य द्वारा ही चिदात्मा (जीव) महद्योनि में गर्भ धारण करता है। दूसरे शब्दों में सौरचिदंश जीवात्मा है, चान्द्रमहान् इसकी योनि है। चान्द्रगतित्रय सम्बन्ध से सौरनाड़ीविवर्त्त ८४ भागों में विभक्त है, जैसा कि पूर्व में बतलाया गया है। चतुर्द्धाविभक्त एकविंशति भेद से नाक्षत्रिक ८४ भेद हो जाते हैं। प्रत्येक एकविंशति (एकविंशति का प्रत्येक पर्व) उसी लक्षात्मकवाग्भाव से अनुगृहीत हैं। इस दृष्टि से भी चतुरशीतिलक्षयोनिभावों का समन्वय हो रहा है। इन सब योनिभावों का **'स्तम्ब'** सर्ग से आरम्भ कर **'ब्रह्म'** सर्ग पर्य्यन्त वितत चतुर्दशविध (१४) भूतसर्ग में अन्तर्भाव मान लिया गया है। इसी आधार पर यत्र-तत्र पुराणों में चतुर्द्दश योनिभावों का भी उपबृंहण उपलब्ध होता है। स्वस्वकर्म्मानुसार कर्म्मात्मा तत्तन्महद्योनिगतियों का अनुगमन करता रहता है। निम्नलिखित वचन इसी योनिगति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

अष्टौ सत्त्वविशालास्तमोविशालस्तु पञ्चाधः ।
मध्ये रजो विशालो मानुष एकः प्रवर्त्तते सर्गः ।।१।।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्ता याश्चतुर्द्दशयोनयः ।।
ते चतुर्द्दशलोकास्तानन्वात्मा विचरत्ययम् ।।२।।
ते जीवलोकाः संसारलोकाः कर्म्मनिबन्धनाः ।।
उच्चावचाः सुखं दुःखं तेषु चात्मा भुनक्ति हि ।।३।। (दे०नि०) ।
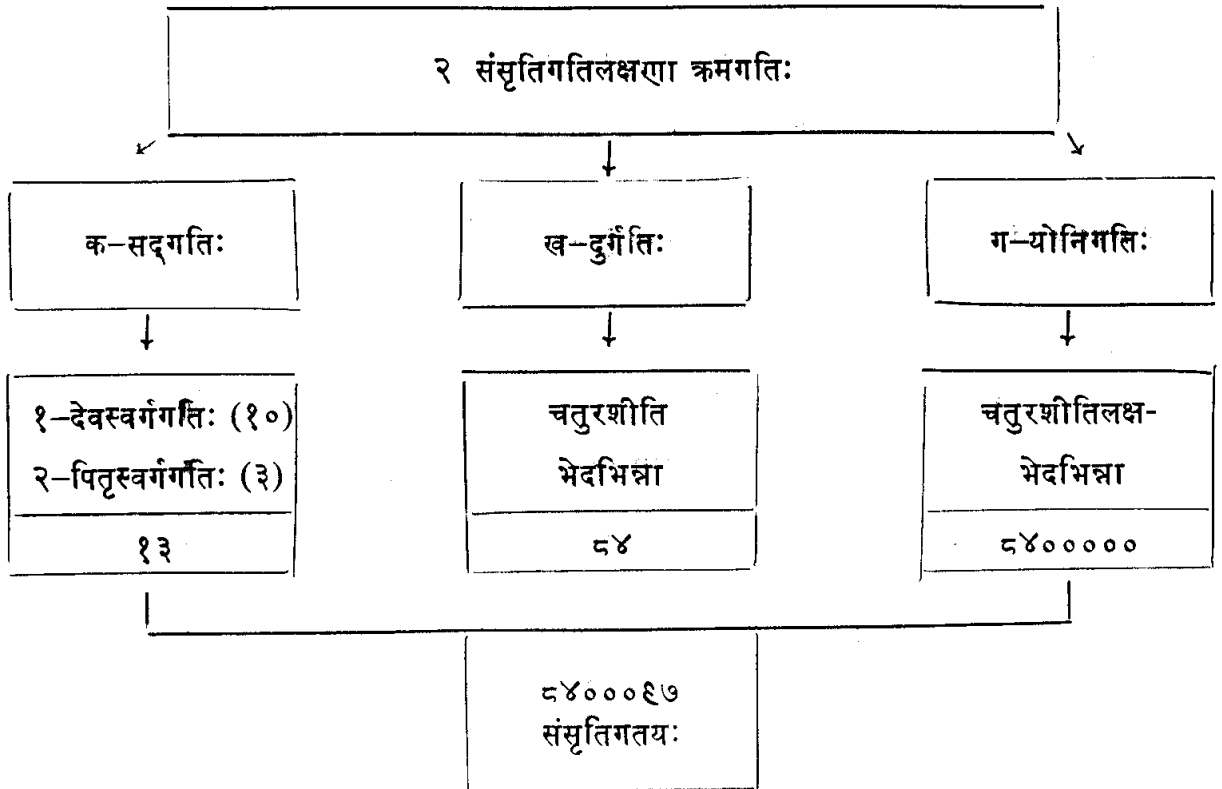
संसृतिगतिलक्षणा क्रमगति के '**सद्गति, दुर्गति, योनिगति**' ये तीन मुख्य विवर्त्त हैं। इनमें सद्गति **नामक** संसृतिगति के विशिष्ट सद्गतिलक्षणा **देवस्वर्गगति**, सामान्यसद्गतिलक्षणा **पितृस्वर्गगति**, ये दो **अवान्तर** भेद हैं। देवस्वर्गगति के ३ विष्टप्स्वर्गगति, ७ देवस्वर्गगति भेद से १० भागों में विभक्त है, **पितृस्वर्गगति** 'उदन्वती–पीलुमती–प्रद्यौ' भेद से तीन भागों में विभक्त है। इस प्रकार सम्भूय सद्गतिलक्षणा **संसृतिगति** के १३ भेद हो जाते हैं। दूसरी दुर्गतिलक्षणा संसृतिगति के ८४ भेद हैं। तीसरी योनिगति-लक्षणा संसृतिगति के चतुरशीतिलक्ष भेद, प्रकारान्तर से १४ भेद हैं। सम्भूय संसृतिगतिलक्षणा भागत्रय-**विभक्ता** क्रमगति के ८४००९७ विवर्त्त हो जाते हैं। जैसा कि पूर्व परिलेख से स्पष्ट है—

३—मुक्तिगतिलक्षणाक्रमगतिः

'क'कारात्मिका नित्यगति, 'ख'कारात्मिका क्रमगति, 'ग'कारात्मिका अगतिगति तीनों में से अहरहर्गति, सम्वत्सरगतिलक्षणा द्विविधा ककारात्मिका नित्यगति का सर्वप्रथम विश्लेषण किया गया। अनन्तर **क्रमप्राप्त** खकारात्मिका क्रमगति के **१–पञ्चत्वगति**, २–संसृतिगति, ३–मुक्तिगति इन तीन विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराते हुए सर्वप्रथम आत्मपञ्चत्वगति, देवपञ्चत्वगति, भूतपञ्चत्वगति इन तीन पञ्चत्वगतिरूपा खकारात्मिका क्रमगतियों का विश्लेषण किया गया। आगे जाकर क्रमप्राप्त संसृतिगतिलक्षणा क्रमगति के **सद्गति**, दुर्गति, योनिगति (क–ख–ग रूप से) भावों का क्रमशः विश्लेषण किया गया। अब क्रमप्राप्त खकारात्मिका क्रमगति के तीसरे मुक्तिगति विवर्त्त की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

कर्म्मात्मा शुभाशुभकर्म्मसंस्कारानुसार स्वर्ग–नरकादि तत्तच्छुभाशुभ लोक विशेषों में यावत्संस्कार-मुक्ति पर्य्यन्त प्रतिष्ठित रहता हुआ कर्म्मसंस्कारक्षयानन्तर पुनः भूपिण्ड योनिविशेषों में जन्म धारण कर लेता है। कर्म्मानुगत यह जन्म–मृत्यु प्रवाह—"**जातस्य हि ध्रुवं मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च**" के अनुसार **अनवरत प्रक्रान्त है**। यही गति 'संसृतिगति' (संसरणशीला संसारगति) कहलाई है। इस गति में जन्म–मृत्यु चक्र से छुटकारा पाना असम्भव है। यही गति '**कर्म्माश्वत्थगति**' कहलाई है। दूसरी एक क्रमगति ऐसी भी मानी गई है, जिसका '**ब्रह्माश्वत्थ**' से सम्बन्ध है। ब्रह्माश्वत्थ से सम्बन्ध रखने वाली क्रमगति '**ब्रह्मगति**' है एवं कर्म्माश्वत्थ से सम्बन्ध रखने वाली संसृतिगतिलक्षण क्रमगति '**कर्म्मगति**' है। कर्म्मगति में पुनः पुनरावर्त्तन है, ब्रह्मगति में अपुनरावर्त्तन है। अपुनरावर्त्तनलक्षणा ब्रह्माश्वत्थानुगता ब्रह्मगतिलक्षणा यह क्रमगति ही '**मुक्तिगति**' कहलाई है। मुक्तिगतिसाधक लोक ही मुक्तिलोक, ब्रह्मलोक, ब्रह्मधाम, परम-**धाम, अशीर्कमहिम**, कामप्र, अपुनर्मार इत्यादि नामों से व्यवहृत हुए हैं। "**स वेदैतत् परमं ब्रह्मधाम**" (**मुण्डक**० उ० ३।२।१) के अनुसार २१ विंशस्थ सूर्य्य से ऊपर का अमृतात्मक ब्रह्माश्वत्थ भाग ही '**ब्रह्मधाम**' नाम से प्रसिद्ध है। जब तक कर्म्मात्मा २१ विंशत्यहर्गणात्मक पार्थिवमण्डलाकर्षण से आकर्षित रहता है, तब तक यह मृत्युपाश से विमुक्त नहीं हो सकता है। सूर्य्य से अधः प्रदेश में अवस्थित कर्म्मात्मा अवश्यमेव कर्म्मगतिलक्षणा संसृतिगति का अनुगामी बना रहता है। सूर्य्योर्ध्वस्थानात्मक ब्रह्मधाम में षोडशीब्रह्म अपने अमृतभाग से विकसित रहता है। यही चिद्ब्रह्म सूर्य्य द्वारा सूर्य्य से नीचे अवस्थित चान्द्रगर्भित पार्थिव महद्योनि में गर्भ धारण का जीवसंज्ञा में परिणत होता है। "**यत्किञ्चार्वाचीनमादि-**

त्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार सूर्य्य से नीचे व्याप्त मृत्युभाव के प्राबल्य से अमृतधर्म्मा व चिदंश (कर्म्मात्मा—जीवात्मा) मृत्युधर्म्म से आक्रान्त हो जाता है। फलतः जब तक कर्म्मात्मा कर्म्मप्रधान इस मर्त्य पार्थिवलोकाकर्षण से विमुक्त होकर सूर्य्यभेदी नहीं बन जाता, तब तक मृत्युपाश विमोचन खपुष्प बना रहता है। इस मृत्युपाश से विमुक्त होने का एकमात्र उपाय है, कर्म्मसंस्कारासक्ति से त्राण पाना। इसका एकमात्र उपाय है, निवृत्तिदृष्टि से निष्काम कर्म्मानुगमन। तभी उस मुक्तिसाधक परमधाम की अवाप्ति सम्भव है, जो कि मुक्तिधाम वाल्लभमत में **गोलोकधाम** कहलाया है, सामवेद में जो '**गोसव**' नाम से प्रसिद्ध है, जिसे याज्ञिय लोक '**पञ्चदशाह यज्ञ**' कहा करते हैं, जो २२वें अहर्गण से ३६वें अहर्गणपर्य्यन्त १५ अहर्गणों में व्याप्त है, जहाँ पारमेष्ठ्य गौतत्त्व के साथ यज्ञमूर्त्ति गोविन्द नित्यसंश्लिष्ट हैं। अवश्य ही क्रमशः ऊर्ध्वगमन करता हुआ कर्म्मात्मा सूर्य्य द्वारा इस लोक में पहुँच कर रजोमय पार्थिव लोकाकर्षण से विमुक्त होकर विरज बनता हुआ—'**न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते**"। इसी मुक्तिगति-लक्षणा क्रमगति का स्पष्टीकरण करते हुए वेदभगवान कहते हैं—

"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्द्धते कर्म्मणा नो कनीयान्।
तस्यैवस्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्म्मणा पापकेन॥

तस्मादेवंविच्छान्तो, दान्त, उपरत, स्तितिक्षुः, समाहितो भूत्वा ऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति। सर्वमात्मानं पश्यति, नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तरति, नैनं पाप्मा तपति, सर्वं पाप्मानं तपति। विपापो, विरजो, ऽविचिकित्सो ब्राह्मणोभवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राट्।" (बृ०आ०उ० ४।४।२३)।

"तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्य्यां चरन्तः।
सूर्य्य द्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा*॥"

(मुण्डक १।२।११)।

अपरामुक्तिः

मुक्तिगतिलक्षणा इस क्रमगति (क्रममुक्ति) के '**परामुक्ति, अपरामुक्ति**' भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं। पहले 'अपरामुक्ति' की ही मीमांसा कर लीजिए। जिस मुक्तिमार्ग में जीवात्मा ईश्वरबलाधान से मृत्युपाशच्छेद करता हुआ पाप—पुण्य दोनों का विधूनन कर निर्धूत किल्विष (विपाप) बनता हुआ अपने विशुद्ध आत्मरूप (चिल्लक्षण जीवरूप) से ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित रहता है, वही इसकी अपरामुक्ति है। इसमें जीव का जीवत्व सुरक्षित रहता है। इस अपरामुक्ति के '**सालोक्य, सामिप्य, सारूप्य, सायुज्य**' भेद

***यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम (अव्ययधाम)।**

से चार विवर्त्त हैं। ब्रह्मलोक में पहुँच जाना सालोक्य है, ब्रह्मसान्निध्य प्राप्त कर लेना सामीप्य है, ब्रह्मवत् सर्वशक्तिघन बन जाना सारूप्य है एवं ब्रह्म के साथ अपने आत्मा का अभेद समझना सायुज्य है। इन चारों परामुक्तियों का श्रौतग्रन्थों में कामप्र, अशोकमहिम इन दो मुक्तिभावों में अन्तर्भाव माना गया है। एकविंशस्थ सूर्य्य से ऊपर पहुँचने पर २४वें अहर्गण पर्य्यन्त जीवात्मा में कामना का सम्बन्ध रहता है, साथ ही यह कामना अव्यर्थ होती है। इस प्रदेश में जीवात्मा की-'**यं यं कामं कामयते, तं तमाप्नोति**'-'**यथाकामो भवति, यथाचारः**' स्थिति हो जाती है। सालोक्य–सामीप्य भावों का इस अहर्गणत्रयात्मक कामप्रलोक में अन्तर्भाव है। इसी कामप्र स्थिति को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत् सुखं स्वः पदास्पदम्॥

२५वें अहर्गण से आरम्भ कर (जो कि स्थान 'प्रत्नस्वर्ग' नाम से प्रसिद्ध है) ३६वें पर्य्यन्त के प्रदेश में पहुँच कर जीवात्मा क्रमशः सारूप्य–सायुज्यभाव को प्राप्त होता हुआ कामना से एकान्ततः अतिमुक्त हो जाता है। कामप्रलोक में कामनोत्पत्तिरूप शोक का अभाव था, यहाँ कामनोत्पत्ति का भी विलयन है। यहाँ यह केवल स्वात्ममहिमा में लीन रहता है। दूसरे शब्दों में आत्मकाम, आत्मरति, आत्मक्रीड़ बनता हुआ निष्काम बना रहता है। अतएव इस लोक को '**अशोकमहिम**' नाम से व्यवहृत किया गया है। यही यत्र-तत्र '**आनन्दम्**' नाम से भी प्रसिद्ध है। यद्यपि यहाँ अद्वैत सम्पत्ति साक्षात्रूप से उपलब्ध नहीं होती, तथापि अद्वैतमहिमानुभूति अवश्य प्राप्त हो जाती है। यही क्रममुक्तिलक्षणा अपरामुक्ति का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

जिस प्रकार विद्यासमुच्चित यज्ञ–तपो–दान लक्षणप्रवृत्तिरूप विशिष्ट सत्कर्म्म से देवस्वर्गावाप्ति होती है, विद्यानिरपेक्ष इष्ट–आपूर्त्त–दत्त लक्षण प्रवृत्तिरूप सामान्य सत्कर्म्म से पितृस्वर्गावाप्ति होती है, एवमेव भक्तियोग उक्त अपरामुक्ति-प्राप्ति का कारण माना गया है। सगुण-निर्गुण ब्रह्म भेद से यह भक्ति-योग सकाम, निष्काम भेद से दो भागों में विभक्त है। देवताभक्ति लक्षण सगुणब्रह्मोपासनारूप भक्तियोग सकामभक्तियोग है एवं इससे सालोक्य–सामीप्यलक्षण कामप्रलोकावाप्तिरूपा अपरामुक्ति प्राप्त होती है। देवाधारभूत अव्ययभक्तिलक्षण निर्गुणब्रह्मोपासनारूप भक्तियोग, निष्काम भक्तियोग है एवं इससे सारूप्य–सायुज्यलक्षणा अशोकमहिमलोकावाप्तिरूपा अपरामुक्ति प्राप्त होती है। यही निष्काम भक्तियोग दूसरे शब्दों में निष्कामकर्म्मयोग कहलाया है एवं गीता शब्दों में यही 'राजयोग' नाम से व्यवहृत हुआ है। निष्कर्षतः कर्म्मकाण्ड स्वर्गावाप्ति का प्रवर्त्तक है एवं उपासनाकाण्ड अपरामुक्तिचतुष्टयी का साधक है।

पञ्चदशाहर्गोसवयज्ञात्मिका—अपुनर्मर्त्यलोकात्मिका अपरामुक्तिचतुष्टयी

४	३६ (१५)	
	३५ (१४)	
	३४ (१३)	
	३३ (१२)	→४ सायुज्यमुक्तिः
	३२ (११)	
	३१ (१०)	
३	३० (९)	
	२९ (८)	
	२८ (७)	
	२७ (६)	→३ सारूप्यमुक्तिः
	२६ (५)	
	२५ (४)	
२	२४ (३)	
	२३ (२)	→२ सामीप्यमुक्तिः
१	२२ (१)	→१ सालोक्यमुक्तिः

(४ सायुज्यमुक्तिः, ३ सारूप्यमुक्तिः) →निष्कामभक्तिसाध्या अशोकमहिमलोकावाप्तिरूपा अपरामुक्तिः

(२ सामीप्यमुक्तिः, १ सालोक्यमुक्तिः) →सकामभक्तिसाध्या कामप्रलोकावाप्तिरूपा अपरामुक्तिः

सायुज्य—सारूप्यलक्षणा अशोकमहिमलोकावाप्तिरूपा अपरामुक्तिद्वयी—

अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टो अनुवित्तो मयैव ।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गंलोक इत ऊर्ध्वं विमुक्ताः ।।
तस्मिञ्छुक्लनीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च ।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्तैजसश्च ।।

सारूप्य–सालोक्यलक्षणा कामप्रलोकावाप्तिरूपा अपरामुक्तिद्वयी—

"तस्यैतस्य परस्तात् कामप्रो लोकः । अमृतं वै कामप्रम् । अमृतमेवास्य (सूर्य्यस्य) परस्तात् । तद्यत् तदमृतं–एतत् तत्–यदेतदर्चिर्दीप्यते ।"

(शत०ब्रा० १०।२।६।४) ।

परामुक्तिः

मुक्तिगतिलक्षणा क्रमगति का दूसरा विवर्त्त परामुक्तिलक्षणा क्रमगति है । निष्कामकर्म्मयोगलक्षण वही ज्ञानयोग (ज्ञानकाण्ड) ही इस परामुक्ति का प्रवर्त्तक बनता है, जिसे गीता के शब्दों में ज्ञानलक्षण बुद्धियोग कहा जा सकता है । उपासनाकाण्डात्मक राजयोग (ऐश्वर्य्यलक्षण बुद्धियोग) में जीव का जीवत्व सुरक्षित रहता है । परन्तु ज्ञानकाण्डात्मक इस ज्ञानयोग में जीव का जीवत्व विलीन हो जाता है, अद्वैत-सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है । यही उपासनासाध्य अपरामुक्ति की अपेक्षा ज्ञानसाध्या इस मुक्ति का परत्व (उत्कृष्टत्व) है । अतएव इसे परामुक्ति कहना अन्वर्थ बनता है । ३६ से ऊपर ४८ पर्य्यन्त व्याप्त ब्रह्माश्वत्थ में विशुद्ध उस ब्रह्मतत्त्व का साम्राज्य है, जिसे वाङ्मय परमाकाश कहा गया है । इस आकाशमहिमा में पहुँच कर नाम रूप से एकान्ततः विमुक्त होता हुआ जीवात्मा निरुपाधिकरूप से आकाशमहिमा में विलीन हो जाता है । यही ज्ञानियों की परामुक्ति है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में अभिनय हुआ है—

"यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।।
एवं मुनेर्विजानत आत्माभवति गौतम ।।" (कठोपनिषत् २।१।१५) ।

क्रममुक्तिरूपा इस परामुक्ति के **क्षीणोदर्क, भूमोदर्क** भेद से दो विवर्त्त माने गए हैं । क्षीणोदर्क नामक परामुक्ति '**कैवल्यमुक्ति**' कहलाई है एवं भूमोदर्कलक्षणा परामुक्ति '**निर्वाणमुक्ति**' नाम से प्रसिद्ध हुई है । इन दोनों परामुक्तियों का क्रमशः कायक्लेशात्मक ज्ञानमार्ग तथा योगमार्ग से सम्बन्ध है । सर्वकर्म्म-परित्यागलक्षण ज्ञानयोगमार्ग में वित्त–पुत्र–लोकेषणात्रयी का परित्याग करते हुए अन्ततोगत्वा इन्द्रिय–मन–बुद्धि आदि समस्त आध्यात्मिक प्रपञ्चों का परित्याग अपेक्षित है । इस बाह्यपरिग्रह के ऐकान्तिक परित्याग से सर्वान्त में केवल विशुद्ध आत्मा बच रहता है, यही कैवल्यलक्षणा क्षीणोदर्करूपा ज्ञानयोग-साध्या परामुक्ति है, जिसका निम्नलिखित रूप से स्पष्टीकरण हुआ है—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्य्येण ।। (कठ २।३।१७) ।

"न कर्म्मणा न प्रजयाधनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ।।१।।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः ।।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।।२।।

अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णव नाशनम् ।।
तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं पदमश्नुते ।।३।। (कैवल्योपनिषत् ३,४,२४) ।

"सैवकैवल्यमुक्तिः । अतएव ब्रह्मलोकस्था अपि ब्रह्ममुखाद्वेदान्तश्रवणादि कृत्वा ते न सह कैवल्यं लभन्ते । अतः सर्वेषां कैवल्यमुक्तिर्ज्ञानमार्गेणोक्ता, न कर्म्म-सांख्य योगो–पासनादिभिरित्युपनिषत् ।" (मुक्तियोपनिषत् १।६) ।

वे ज्ञानयोगानुयायी, जो लोककल्याणार्थ संसारमर्य्यादा का अनुगमन करते हुए ध्यानयोग के अनुगामी बने रहते हैं, योगी कहलाए हैं । ऐसे योगयुक्तात्मा विदेह पुरुष निर्वाणपद के अधिकारी बनते हैं । इनकी सर्वत्र आत्मबुद्धि हो जाती है । किसी का परित्याग न कर **'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्'** के अनुसार यच्चयावत् बाह्यपरिग्रहों में आत्मभूमा की भावना रखते हुए विशुद्धसत्वा ये योगी ही भूमोदर्कमुक्ति के अनन्य अधिकारी माने गए हैं । योगमार्गानुगता भूमोदर्कलक्षणा इसी परामुक्ति का विश्लेषण करती हुई श्रुति कहती है—

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।
ज्ञानं केचिद्वदन्त्यत्र केवलं, तन्न सिद्धये ।।१।।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भोः ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्म्मणि ।।२।।

तस्मात्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञेयं ज्ञानैकसाधनम् ।।३।।

ज्ञान के साथ-साथ लोकसंग्रह दृष्टि से कर्म्मानुगमन तथा योगमार्गानुगमन ही इस मुक्ति का द्वार है । इस प्रकार ज्ञान तथा योग भेद से क्रममुक्तिलक्षणा परामुक्ति के दो विवर्त्त हो जाते हैं ।

१—ज्ञानमार्गसाध्या क्रममुक्तिलक्षणा परामुक्तिः→क्षीणोदर्कमुक्तिः—कैवल्यम्

२—योगमार्गसाध्या क्रममुक्तिलक्षणा परामुक्तिः→भूमोदर्कमुक्तिः—निर्वाणम्

३—अगतिगतिर्लक्षणा–आत्मगतिः—

नित्यगति एवं क्रमगति से सम्बन्ध रखने वाले गतिविवर्त्तों का स्पष्टीकरण किया गया। अब क्रम प्राप्त तीसरी ग'कारात्मिका 'अगतिगति' लक्षणागति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। इस अगतिगति के निम्नलिखित तीन प्रधान विवर्त्त माने गये हैं—

क—समवलयलक्षणा परमोत्तमागतिः (आगतिः)

ख—जायस्वम्रियस्वभावलक्षणा इहलोकगतिः (आगतिः)

ग—अन्धंतमोलक्षणा परमाधमागतिः (अगतिः)

क—समवलयरूपा–अगतिगतिः

तीनों में से क्रमप्राप्त पहले समवलयगतिरूपा आगति को ही लक्ष्य बनाए। वह **उत्तमगति, जिसमें ब्रह्मपथ,** देवपथ, पितृपथ, यमपथ आदि किसी मार्ग का अनुगमन न करना पड़े, अपितु **इसी भूपिण्ड पर रहते हुए इसी** पाञ्चभौतिक शरीर से सर्वव्यापक ब्रह्मतत्त्व में आत्मा का अत्रैव विलयन ही जाय, **'समवलय-मुक्ति' है**। चूंकि इस गति में ऊर्ध्वगमन नहीं करना पड़ता, अतएव इसे अवश्य ही 'अगति' रूपा **गति कहा** जा सकता। क्रमगतिलक्षणा कैवल्य–निर्वाणात्मिका परामुक्ति में गमनरूपा क्लान्ति आंशिकरूप **से विद्यमान** रहती है। परन्तु इस समवलयभाव में उसका भी अभाव है। अतएव इसे 'परमोत्तमागति' कहना **अन्वर्थ** बनता है। **'न तस्य प्राणाउत्क्रामन्ति, इहैव समवलीयन्ते'** ही इसका स्पष्टीकरण है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्चया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ।। (कठ १।३।१२)।

इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार आत्मतत्त्व सम्पूर्णभूतों में समानरूप से निगूढ है अतएव वह **'गूढोत्मा'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। यदि भूतात्मासमष्टिरूप ब्रह्म के विशुद्ध आत्मभाव में समवलय है, तो क्षीर्णोदर्क समवलय है। यदिविशिष्ट में समवलय है, तो भूमोदर्क समवलय है। वैराग्यबुद्धियोगलक्षण सुप्रसिद्ध समत्व-योग ही इस समवलयमुक्ति का प्रवर्त्तक है, जिसका गीताविज्ञानभाष्य में विस्तार से उपबृंहण हुआ है। सर्वभूतहितरति, नित्य अद्रोह, उत्थाप्याकांक्षा का एकान्ततः परित्याग, वर्णाश्रमानुगत शास्त्रीय कर्म्मों का तथा लोकसंग्राहक कर्म्मों का असङ्गबुद्धि से अनुगमन, इत्यादि लक्षणाबुद्धियोगनिष्ठा ही इस सर्वश्रेष्ठविदेह भाव की मूलप्रतिष्ठा है। इस मार्ग में 'अत्रैवब्रह्म समश्नुते।' इसी समवलय का स्पष्टीकरण करते हुए श्रुति ने कहा है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामायेऽस्यहृदिश्रिताः ।।
अथ मर्त्योऽमृतोभवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते ।।१।।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति, एतावदनुशासनम् ।।२।। (कठ२।३।१४-१५)।

१—क्षीणोदर्कसमवलयमुक्तिः	→	अगतिर्लक्षणा परामुक्तिः (परमोत्तमा)। (विदेहमुक्तिः, सद्योमुक्तिः)
२—भूमोदर्कसमवलयमुक्तिः		

—❀—

ख—इहलोकगतिरूपा अगतिः—

कृमि-कीट आदि योनियों में प्रविष्ट कर्म्मात्मा यहीं जन्मधारण करता रहता है, यहीं मृत्युभाव का अनुगमन करता रहता है। इसका लोकान्तर में गमन नही होता। अगतिरूपा (लोकान्तर अगतिरूपा) इसी निकृष्टगति का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

"अथैतयोः पथोर्न कतरेण च, तानीमानि क्षुद्राण्यसकृतावर्त्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व. म्रियस्व—इति। एतत् तृतीयं स्थानम्। तेनासौलोको न सम्पूर्य्यते। तस्माज्जुगुप्सेत। तदेष श्लोकः—

स्तेनो हिरण्यस्य. सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन्।
ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चावरं सौः।"

स्तेयकर्म्म करने वाला, धूर्त्तता-छल-मिथ्याभाषण-असद्वृत्तानुगमन द्वारा अर्थोपार्जन करने वाला, अभक्ष्य-अपेय का भक्षण पान करने वाला गुरुतल्पग, द्विजातिहन्ता एवं ऐसे कुकर्मों के सहवास में रहने वाला इसी निकृष्टगति का अनुगामी बनता है।

ग—अन्धं तमोलक्षणा अगतिः—

जो मनुष्य अपने आत्मा का घात कर लेते हैं। विषपान, क्षुरि का प्रयोग, गलपाश बन्धन आदि के द्वारा अपने आत्मा को शरीर से पृथक् कर देते हैं, उन आत्मघातियों का गमन अपश्य होता है परन्तु कहा है? सुनिए—

असूर्य्यानाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृत्ता।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनोजनाः॥ (ई० ३)।

आत्मा ज्योतिर्म्मय है, ज्योति ही इसका जीवन है, जैसा कि स्वर्गगति प्रकरण में पञ्चज्योति का स्वरूप बतलाते हुए स्पष्ट किया जा चुका है। आत्मा का प्रभव 'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार ज्योतिर्म्मय सूर्य्य माना गया है। इस ज्योतिर्म्मय सूर्य्यांशभूत ज्योतिर्म्मय आत्मा को शरीर से पृथक् कर देना प्रकाशात्मक सूर्य्यलोक से विरोध करना है अतएव यह आत्मा सूर्य्य की ओर न जाकर सूर्य्य से विरुद्ध उस दिशा की ओर अनुगमन करता है जहाँ सौर प्रकाश का सर्वथा अभाव है। लोक का आलोक (प्रकाश) से सम्बन्ध है, आलोक का सूर्य्य (सौरज्योति) से सम्बन्ध है अतएव जहाँ तक सौर आलोक (प्रकाश) रहता है, वहीं तक लोकसत्ता मानी गई है। इस आलोक के बाहर निषिद्ध अन्धकारमय अलोक है। अलोक तथा आलोकमय लोक, दोनों की सीमा ही 'लोकालोक' (लोक-अलोक) नाम से प्रसिद्ध हैं। आत्मघाती इसी स्थान का पात्र बनता है।

समवलय मुक्ति का अधिकारी विदेहमुक्त पुरुष कहीं न जाकर यहीं चिज्ज्योति में विलीन हो जाता है। इधर यह आत्मघाती जाता अवश्य है परन्तु आयुलयान्त वापस नहीं लौटता, यही इस गति का अगति-भाव है। नरकगामी पुनः जन्म धारण कर लेता है, मध्यगत्यनुयायी यहीं मर कर पुनः-पुनः जन्म लिया करता है परन्तु यह आत्मघाती तो सदा के लिए अन्धलोक में विलीन हो जाता है। तभी तो इसे परमा-अधोगति कहना अन्वर्थ बनता है। इसी आधार पर तो आत्महत्या सब से बड़ा पाप माना गया है, जिसकी विशद वैज्ञानिक व्याख्या ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य में द्रष्टव्य है। समवलय में भी ऊर्ध्व गमन नहीं, इस परम अधोगति में भी ऊर्ध्वगमन नहीं। दोनों इस दृष्टि से समतुलित है। एक (समवलय) अगति परमोत्तमा है, एक (असूर्य्य) अगति परमाधमा है।

—※—
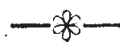
जिन गतिभावों का अब तक विश्लेषण हुआ है, उन सब की मूलप्रतिष्ठा कर्म्म ही माना गया है, जैसा कि प्रकरणारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है। अपरामुक्तिलक्षण ब्रह्मगति, सप्तदेवस्वर्गगतिलक्षणा देवगति, पितृगतिलक्षणा पितृगति, चतुरशीतिनरकलक्षणा, यमगति ये चार गतियाँ ही प्रक्रान्त परिभाषा-नुसार क्रमशः 'ब्रह्मपथ, देवपथ, पितृपथ, यमपथ' हैं। इन चारों लोकात्मक पथों का, गति-आधारभूत कर्म्माश्वत्थ था, कर्म्माश्वत्थ प्रतिष्ठारूप ब्रह्माश्वत्थ का आगे के परिलेखों से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

१—विद्यासमुच्चितकर्म्मानुगतः—सौरज्योतिर्म्मयः—नवाहयज्ञप्रदेशः——→**देवयानः पन्थाः** ।

२—विद्यानिरपेक्षकर्म्मानुगतः—तमोमयः—शनिमण्डलप्रदेशः——→**पितृयाणः पन्थाः** ।

४ | १ विद्यासमुच्चितप्रवृत्तिकर्म्मानुगतः—सौरज्योतिर्म्मयः—'**स्तप्तोमप्रदेशः**'——→देवयानान्तर्गतो '**देवपथः**' [1] (देवस्वर्गगतिनिमित्तभूतः)

३ | २ विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्मानुगताः—चान्द्रज्योतिर्म्मयः—'**प्रद्यौःप्रदेशः**'——→पितृयाणान्तर्गतः—'**पितृपथः**' [2] (पितृस्वर्गगतिनिमित्तभूतः) ।

२ |
१-विद्यासापेक्षनिवृत्तिसत्कर्म्मानुगतः
२-विद्यानिरपेक्षनिवृत्तिसत्कर्म्मानुगतः
३-लौकिकनिवृत्तिसत्कर्म्मानुगतः
} ज्ञानज्योतिर्लक्षणः—'**पञ्चदशाहयज्ञप्रदेशः**'——→देवयानान्तर्गतो—'**ब्रह्मपथः**' [3] (क्रममुक्तिगतिनिमित्तभूतः)

१ |
१-लौकिकनिरर्थककर्म्मानुगतः
२-लौकिकविरुद्धकर्म्मानुगतः
३-लौकिकस्वार्थकर्म्मानुगतः
} →अज्ञानमयः—सूर्य्यविरुद्धदिगनुगतः तपोमयः—**शनिप्रदेशः**→पितृयाणान्तर्गतो—'**यमपथः**' [4] (नरकगतिनिमित्तभूतः) ।

ब्रह्माश्वत्थ ईश्वरः ॥

ऊर्ध्वमूल मधः शाख मश्वत्थं प्राहुरव्ययम्॥ छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेदस वेदवित् ॥
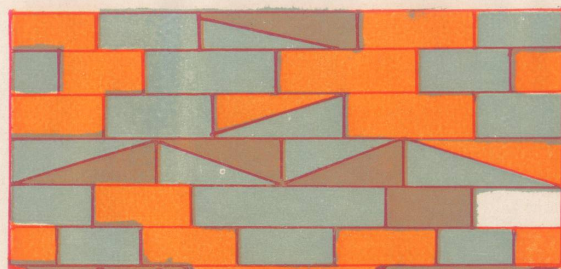
यस्मात् परं नाऽपरमस्ति किञ्चित्–
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक--
अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्याऽमृतोदिवि
ऊर्ध्वमूलोऽर्वाकशाख एषोऽश्वत्थः सनातनः

तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति कश्चन ?
प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे । इन्द्रः शिरः ।
द्यौ रुत्तरहनुः पृथिव्यधर हनुः ।
अग्निर्ललाटम्, यमः कृकाटम् । सोमोराजा मस्तिष्कः।
(अथर्व० ६।७।१)

१ सत्यं स्वयंभूः
२ तपः ......
३ जनः परमेष्ठी
४ महः ......
५ स्वः सूर्य्यः
६ भुवः ......
७ भूः पृथिवी
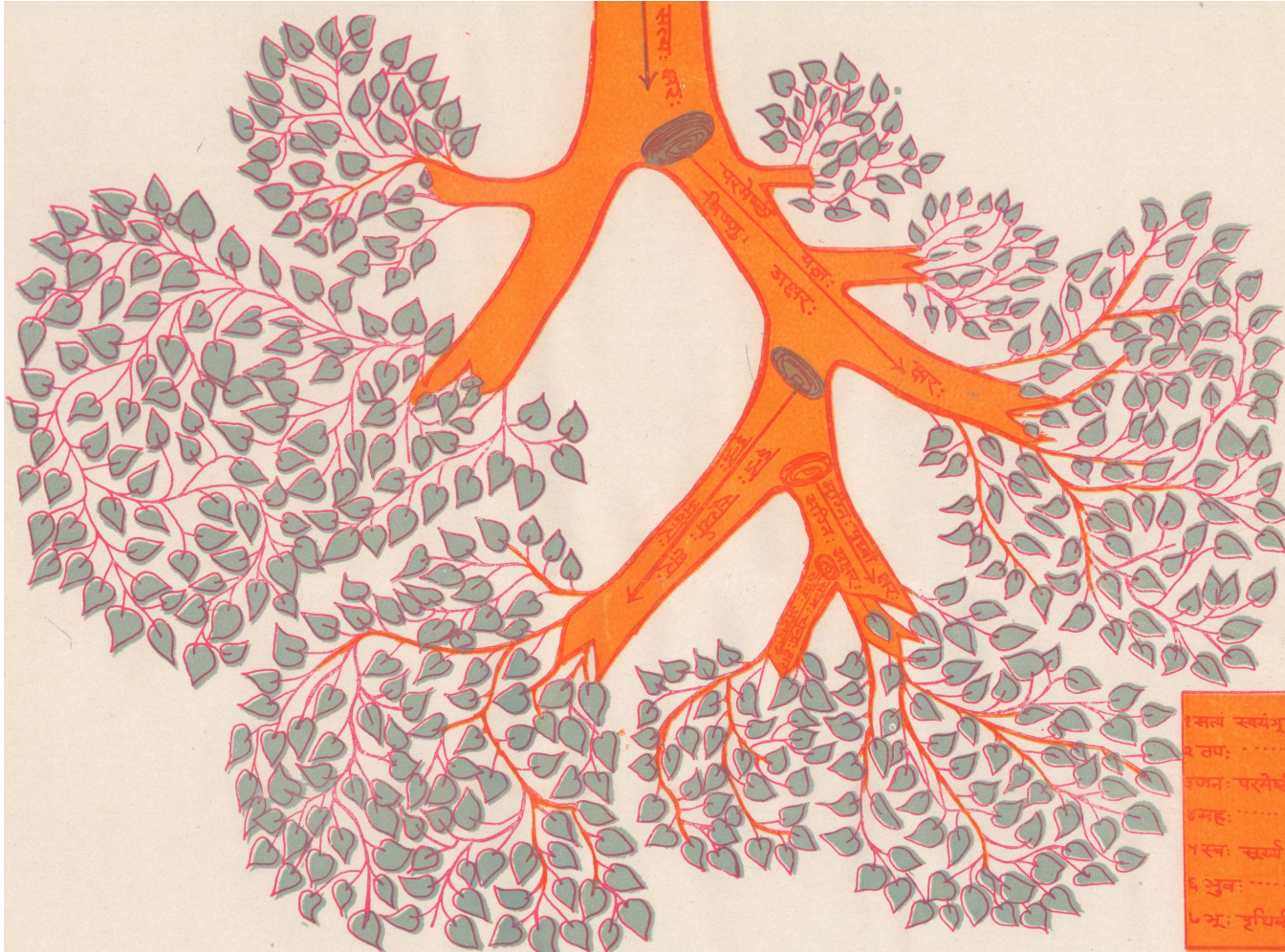
विश्वातीत परात्पर चैतन्यतत्त्व ही स्वयम्भू, प्रजापति, सत्य, क्षर तथा अक्षर ब्रह्मा के द्वारा परमेष्ठी यज्ञ एवं विष्णु-अक्षर तत्त्वों से संक्रमित होता हुआ अग्नि, पृथिवी, इन्द्र, सूर्य आदि क्षर–अक्षर तत्त्वों में परिणत हो जाता है यही ईश्वररूप ऊर्ध्वमूल ब्रह्माश्वत्थ है ।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय, 'मानवाश्रम', जयपुर ।

कर्म्माश्वत्थ
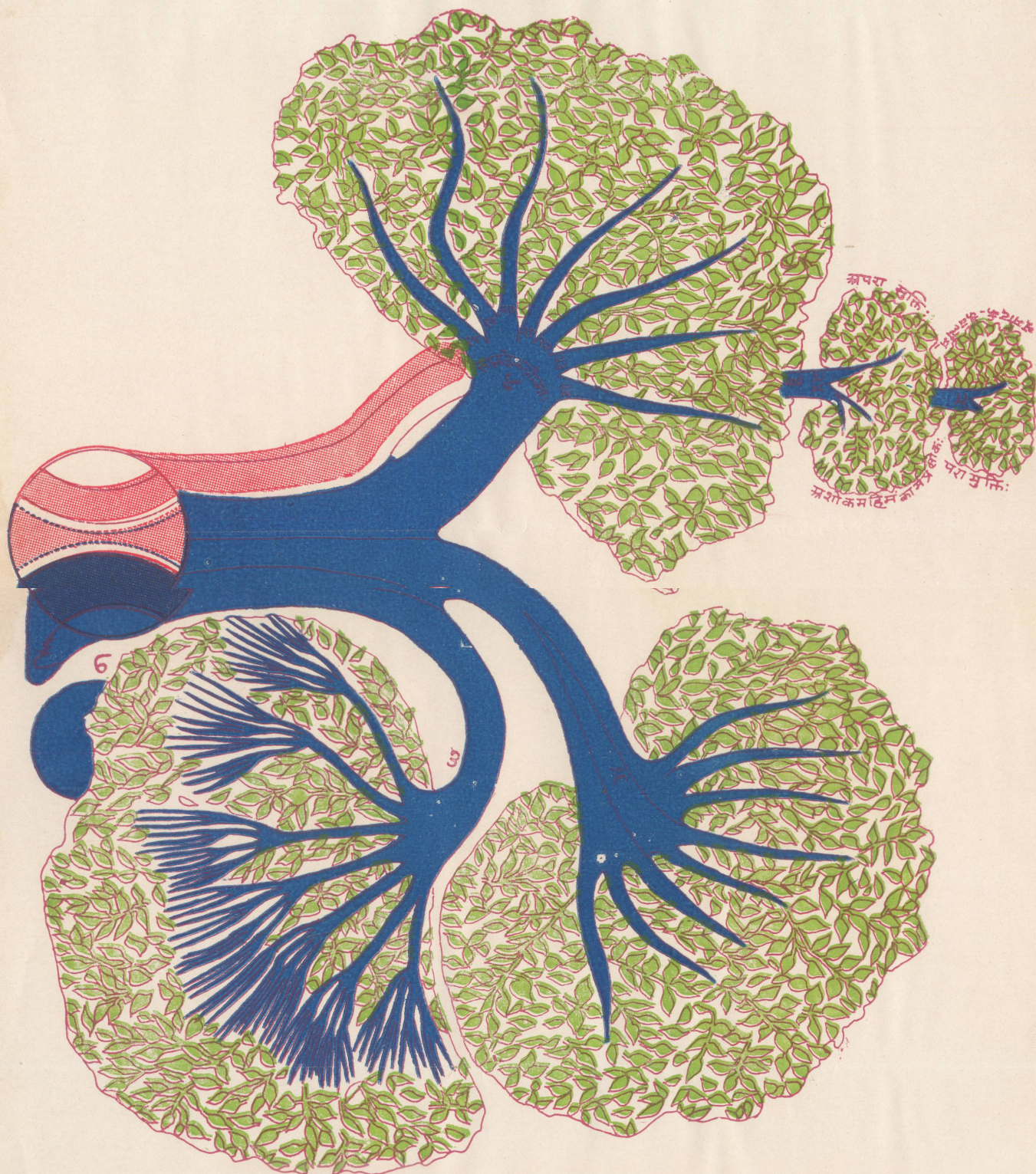
कर्म्मात्मा शुभाशुभ कर्म्मसंस्कारानुसार स्वर्ग–नरकादि लोक विशेषों में यावत् संस्कार मुक्ति पर्य्यन्त प्रतिष्ठित रहता हुआ कर्म्मसंस्कार क्षयानन्तर पुनः भूपिण्ड पर योनि विशेषों में जन्म धारण कर लेता है। इस कर्म्मगति में पुनः–पुनरावर्त्तन है। यही गति 'संसृतिगति' (संसरणशीला संसारगति) कहलाई है। इस गति में जन्म–मृत्यु चक्र से छुटकारा पाना असम्भव है। यही गति वेद विज्ञान में **'कर्म्माश्वत्थगति'** कहलाई है अर्थात् कर्म्माश्वत्थ से सम्बन्ध रखने वाली संसृतिगतिलक्षण क्रमगति ही 'कर्म्मगति' है।

श्रीबालचन्द्र यन्त्रालय, 'मानवाश्रम', जयपुर।

आत्मगतिविवर्त्तभावाः
नित्यगतिः
क्रमगतिः
अगतिगतिः
अहरहर्गति
सम्वत्सरगतिः
समवलयम्
इहलोकगतिः
लोकालोकगतिः
पञ्चत्वगतिः
संसृतिगतिः
मुक्तिगतिः
क्षीणोदर्कसमवलयम्
भूमोदर्कसमवलयम्
आत्मपञ्चतत्वम्
देवपञ्चतत्वम्
भूतपञ्चतत्वम्
सद्गतिः
दुर्गतिः
योनिगतिः
परामुक्तिः
अपरामुक्तिः
८४
देवस्वर्गगतिः
पितृस्वर्गगतिः
सालोक्यम्
सामीप्यम्
सारूप्यम्
सायुज्यम्
क्षीणोदर्ककैवल्यम्
भूमोदर्कनिर्वाणम्
१ २ ३ ४ ५ ६ ७
(१८) (१९) (२०) (२१) (२२) (२३) (२४)
अण्डजगतिः २१००००००
पिण्डजगतिः २१००००००
स्वेदजगतिः २१००००००
उद्भिज्जगतिः २१००००००
उदन्वती पीलुमती प्रद्यौः
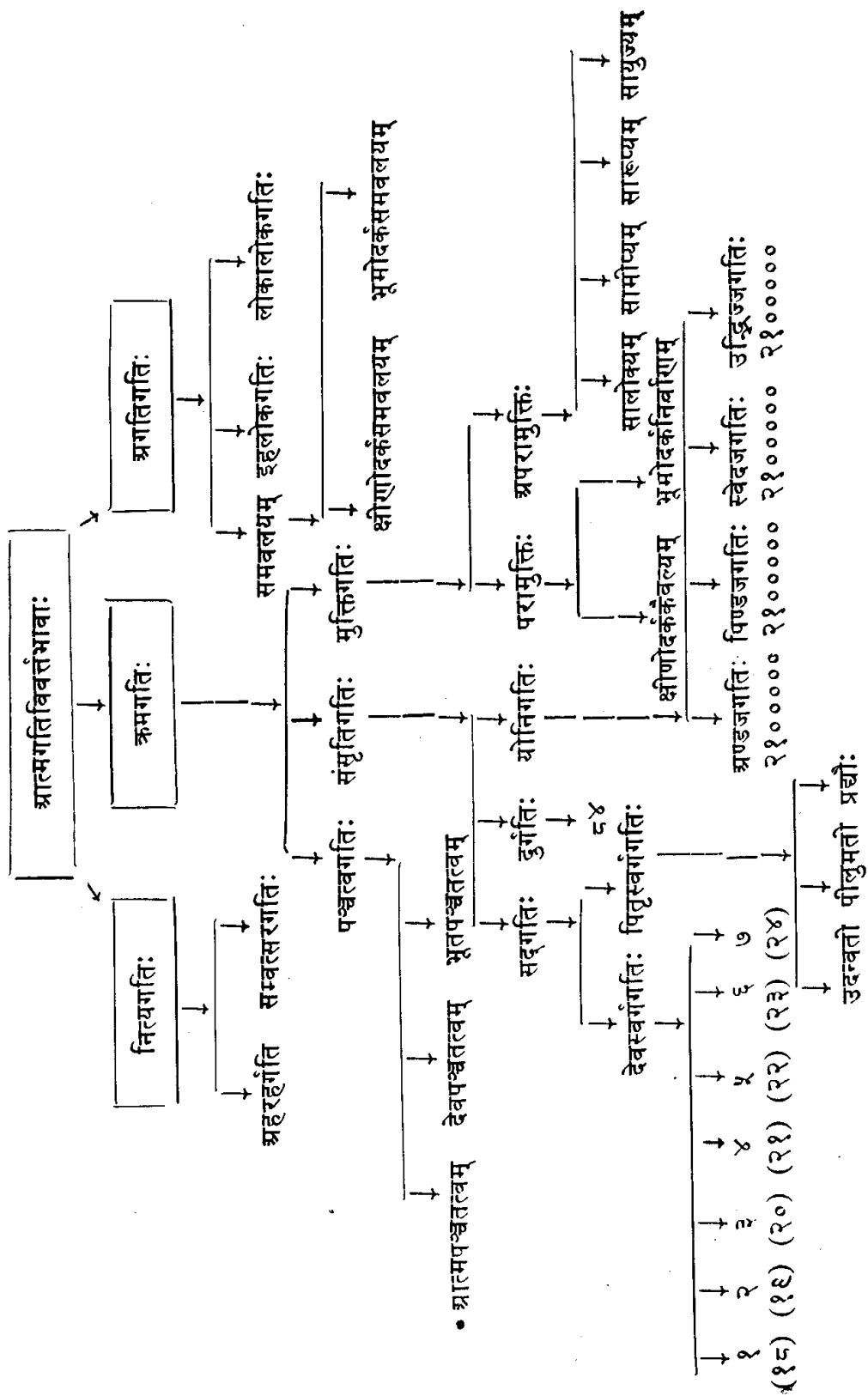
१—विद्यासमुच्चितप्रवृत्तिकर्म्मानुगता→देवस्वर्गगतिः
२—विद्यानिरपेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्मानुगता→पितृस्वर्गगतिः
} →कर्म्मयोगसाध्याः (क्रमगतिः)
३—असत्कर्म्मानुगता——————→नरकगतिः (क्रमगतिः)
४—भक्तियोगसाध्या——————→अपरामुक्तिः (क्रममुक्तिः)
५—ज्ञानयोगसाध्या——→——————→परामुक्तिः (क्रममुक्तिः)
६—बुद्धियोगसाध्या——————→समवलयम् (सद्योमुक्तिः—अगतिः)
७—हीनकर्म्मानुगता——————→इहलोकगतिः (अगतिः)
८—आत्महननानुगता——————→अन्धंतमोगतिः (अगतिः)

प्रकरणोपसंहार

श्रद्धासूत्रमय पितृचरणों के अनुग्रह से आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् के साथ-साथ खण्डचतुष्ट्यात्मक 'श्राद्धविज्ञान' विश्राम ग्रहण कर रहा है। 'पितरोवाक्यमिच्छन्ति' आदेशनिष्ठ अन्तःकरण के समाधान के लिए स्वान्तःसुखाय प्रस्तुत इस निबन्ध के द्वारा श्रद्धालु पाठकवर्ग के सम्बन्ध में केवल यही वक्तव्य शेष रह जाता है कि, महामहर्षियों ने अनन्तकाल के तपोयोग से प्राप्त ऋतम्भराप्रज्ञायुता आर्षदृष्टि से जिस इन्द्रियातीत कर्म्मरहस्य का साक्षात्कार किया, कर्म्मानुगत लोकगतियों का अन्वेषण किया एवं अतीन्द्रियतत्त्वों के स्पष्टीकरण के लिए लोककल्याणभावना से शास्त्रोपदेश दिया, उस शास्त्रोपदेश के अनुगमन में ही हमारा कल्याण एवं जीवनसाफल्य है। साथ ही प्रत्यक्षात्मिका जिस चार्वाकदृष्टि को आगे कर जो नवशिक्षित आर्षधर्म्मादेशों की उपेक्षा, उपहास करने में ही अपने पुरुषार्थ की इतिश्री समझ रहे हैं, उन बान्धवों से भी हम मानवता के नाते, भारतीयता के नाते, आर्षप्रजानुगत समसम्बन्ध के नाते यह नम्र निवेदन करेंगे कि, नित्य प्राकृतिक विज्ञानधरातल पर प्रतिष्ठित अतएव सर्वथा निर्भ्रान्त–सत्य धर्म्मादेशों के क्षणिक आवेशों में पड़कर उपेक्षा करने की भूल न करें। लौकिक-व्यावहारिककल्पनाप्रधान बुद्धि से, तदनुगत निरर्थक तर्कवाद से, तन्मूलक संशयवाद से न केवल पारलौकिक आनन्द से ही, अपितु ऐहलौकिक सुख से भी हमें वञ्चित रह जाना है। क्या हम आशा करें कि, हमारे मान्य बन्धु निम्नलिखित भगवदादेश को लक्ष्य बनाते हुए जीवन के अमूल्यधन श्रद्धा–विश्वास की रक्षा के लिए प्रयत्नशील बनेंगे। ओमित्येत्।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।१।।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वाशास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्त्तुमिहार्हसि ।।२।।

समाप्ता चेयं–आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्

समाप्तं चेदं खण्डचतुष्टयात्मकं

"श्राद्धविज्ञानम्"

ओम् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

पं० मोतीलालजी शास्त्री द्वारा उपनिबद्ध एवं प्रकाशित वाङ्मय की सूची

१. गीताविज्ञानभाष्यभूमिका—'बहिरङ्गपरीक्षा' प्रथमखण्ड
२. " 'आत्मपरीक्षा' द्वितीयखण्ड 'क'
३. " 'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' तृतीयखण्ड 'ख'
४. " 'कर्म्मयोगपरीक्षा' चतुर्थखण्ड 'ग'
५. " 'ज्ञानयोगपरीक्षा' पंचमखण्ड 'घ'
६. " 'भक्तियोगपरीक्षा' (पूर्वखण्ड) षष्टमखण्ड 'क'
७. " 'भक्तियोगपरीक्षा' (उत्तरखण्ड) सप्तमखण्ड 'ख'
८. " 'बुद्धियोगपरीक्षा' अष्टमखण्ड 'ग'
९. उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका —प्रथमखण्ड
१०. " —द्वितीयखण्ड
११. " —तृतीयखण्ड
१२. ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य —प्रथमखण्ड
१३. " " —द्वितीयखण्ड
१४. केनोपनिषत्
१५. श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत—'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड
१६. ,, 'पितर' स्वरूपविज्ञानोपनिषत् द्वितीयखण्ड
१७. ,, सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत् तृतीयखण्ड
१८. ,, आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् चतुर्थखण्ड
१९. 'भारतीय-हिन्दू मानव और उसकी भावुकता' नामक खण्ड चतुष्टयात्मक ग्रन्थ का 'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड
२०. संस्कृति और सभ्यता शब्दों का चिरन्तन इतिवृत्त एवं भारतीय सांस्कृतिक आयोजनों की रूपरेखा
२१. दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा
२२. शतपथब्राह्मण हिन्दीविज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत–प्रथमखण्ड
२३. शतपथब्राह्मण हिन्दीविज्ञानभाष्य–प्रथमकाण्डानुगत–द्वितीयखण्ड
२४. भारतीय दृष्टिकोण से 'विज्ञान' शब्द का समन्वय
२५. वेद का स्वरूप विचार
२६. क्या हम मानव हैं ? (सांस्कृतिक–आमन्त्रण)
२७. 'वेदस्यसर्वविद्यानिधानत्वम्' (संस्कृत–निबन्ध)
२८. राष्ट्रपतिभवनानुगत-व्याख्यान पंचक
२९. माण्डूक्योपनिषत्
३०. Vedic Concept of Man & Universe.
३१. Three thousand years of Indian Decadence.

प्राप्ति स्थान :
"मानवाश्रम विद्यापीठ"
दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–३०२०१५ (राजस्थान)